उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय

हल्द्वानी

MAJY-203

ज्योतिष प्रबोध

मानविकी विद्याशाखा

ज्योतिष विभाग

तीनपानी बाईपास रोड , ट्रॉन्सपोर्ट नगर के पीछे
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, नैनीताल - 263139
फोन नं. - 05946- 288052
टॉल फ्री न0 18001804025
Fax No.- 05946-264232, E-mail- info@uou.ac.in
http://uou.ac.in

पाठ्यक्रम निर्माण समिति एवं अध्ययन समिति

प्रोफेसर एच.पी. शुक्ल
निदेशक, मानविकी विद्याशाखा
उ0मु0वि0वि0, हल्द्वानी

डॉ. नन्दन कुमार तिवारी
असिस्टेन्ट प्रोफेसर एवं समन्वयक, ज्योतिष विभाग
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

डॉ. देवश कुमार मिश्र
असिस्टेन्ट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय
हल्द्वानी

प्रोफेसर देवीप्रसाद त्रिपाठी
अध्यक्ष, वास्तुशास्त्र विभाग, श्री लालबहादुर शास्त्री
राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली।

प्रोफेसर चन्द्रमा पाण्डेय
पूर्व अध्यक्ष, ज्योतिष विभाग, काशी हिन्दू
विश्वविद्यालय, वाराणसी।

प्रोफेसर शिवाकान्त झा
अध्यक्ष, ज्योतिष विभाग, कामेश्वर सिंह दरभंगा संस्कृत
विश्वविद्यालय, दरभंगा

डॉ. कामेश्वर उपाध्याय
राष्ट्रिय महासचिव, अखिल भारतीय विद्वत परिषद्
वाराणसी

पाठ्यक्रम सम्पादन एवं संयोजन

डॉ. नन्दन कुमार तिवारी
असिस्टेन्ट प्रोफेसर एवं समन्वयक, ज्योतिष विभाग
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

इकाई लेखन	खण्ड	इकाई संख्या
डॉ. नन्दन कुमार तिवारी असिस्टेन्ट प्रोफेसर, ज्योतिष विभाग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी	**1**	**1, 2, 3, 4, 5**
डॉ. श्याम देव मिश्र प्रोफेसर, ज्योतिष विभाग राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, जयपुर परिसर	**2**	**1, 2, 3, 4, 5**
डॉ. नन्दन कुमार तिवारी असिस्टेन्ट प्रोफेसर एवं समन्वयक, ज्योतिष विभाग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी	**3**	**1, 2, 4, 5, 6**
डॉ. प्रवेश व्यास असिस्टेन्ट प्रोफेसर, ज्योतिष विभाग श्रीलालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, नईदिल्ली	**3**	**3**
डॉ. नन्दन कुमार तिवारी असिस्टेन्ट प्रोफेसर एवं समन्वयक, ज्योतिष विभाग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी	**4**	**1, 2, 3, 4**

कापीराइट @ उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय

प्रकाशन वर्ष - 2020 **प्रकाशक** - उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी।

मुद्रक: - सहारनपुर इलैक्ट्रिक प्रेस, सहारनुपर (उ0प्र0) **ISBN NO. -**

नोट : - (इस पुस्तक के समस्त इकाईयों के लेखन तथा कॉपीराइट संबंधी किसी भी मामले के लिये संबंधित इकाई लेखक जिम्मेदार होगा। किसी भी विवाद का निस्तारण नैनीताल स्थित उच्च न्यायालय अथवा हल्द्वानी सत्रीय न्यायालय में किया जायेगा।)

एम.ए. ज्योतिष **MAJY-203**

ज्योतिष प्रबोध

अनुक्रम

प्रथम खण्ड – दिगयनांशपलभादि साधन	**पृष्ठ-2**
इकाई 1: दिक् साधन	3-17
इकाई 2: अयनांश विमर्श	18-32
इकाई 3: पलभा एवं चरखण्डानयन	33-48
इकाई 4: लग्नानयन	49-59
इकाई 5: अक्षक्षेत्र परिचय	60-72
द्वितीय खण्ड – प्रमुख ज्योतिर्विदों का जीवन परिचय	**पृष्ठ-73**
इकाई 1: आचार्य लगध, आर्यभट्ट एवं वराहमिहिर	74-100
इकाई 2: लल्ल, ब्रह्मगुप्त, वटेश्वर एवं श्रीपति	101-124
इकाई 3: भास्कराचार्य, मकरन्दाचार्य, केशवाचार्य एवं गणेश दैवज्ञ	125-148
इकाई 4: कमलाकर भट्ट, बापूदेव शास्त्री एवं सुधाकर द्विवेदी	149-167
इकाई 5: नीलाम्बर झा, सामन्तचन्द्रशेखर, मुरलीधर ठाकुर एवं गंगाधर मिश्र	168-187
तृतीय खण्ड – ज्योतिष शास्त्र के प्रमुख सिद्धान्त	**पृष्ठ-188**
इकाई 1: भू- भ्रमण सिद्धान्त	189-203
इकाई 2: भू–आकर्षण सिद्धान्त	204-222
इकाई 3: पृथ्वी का गोलत्व	223-240
इकाई 4: परिधि व्यास सम्बन्ध	241-254
इकाई 5: बौधायन परिमेय	255-268
इकाई 6: शून्य एवं दार्शनिक प्रणाली	269-290
चतुर्थ खण्ड – अष्टक वर्ग विवेचन	**पृष्ठ-291**
इकाई 1: अष्टक वर्ग की अवधारणा	292-321
इकाई 2: भिन्नाष्टक वर्ग निर्माण	322-331
इकाई 3: समुदयाष्टक वर्ग निर्माण विधि	332–343
इकाई 4: अष्टक वर्ग फल विवेचन	344-354

एम.ए. (ज्योतिष)

द्वितीय वर्ष – तृतीय पत्र

ज्योतिष प्रबोध

MAJY-203

खण्ड - १
दिगयनांशपलभादि साधन

इकाई - १ दिक् साधन

इकाई की संरचना

१.१ प्रस्तावना

१.२ उद्देश्य

१.३ दिक् परिचय

१.४ दिक् ज्ञान विधि – सिद्धान्त ग्रन्थों पर आधारित

१.४.१ दिक् साधन- सूर्यसिद्धान्त, सिद्धान्तशिरोमणि एवं सिद्धान्ततत्वविवेक ग्रन्थानुसार

१.५ सारांश

१.६ पारिभाषिक शब्दावली

१.७ बोध प्रश्नों के उत्तर

१.८ सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१.९ सहायक पाठ्यसामग्री

१.१० निबन्धात्मक प्रश्न

१.१ प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई एमएजेवाई- 203 के प्रथम खण्ड की प्रथम इकाई से सम्बन्धित है। इस इकाई का शीर्षक है – दिक् साधन। इसके पूर्व में आपने गणित एवं फलित से सम्बन्धित विभिन्न विषयों का अध्ययन कर लिया होगा। आप इस इकाई में गणित ज्योतिष से ही जुड़े **'दिक् साधन'** का अध्ययन करने जा रहे है।

ज्योतिष शास्त्र के किसी भी स्कन्ध के मुख्य रूप रूप से तीन आधार स्तम्भ है – दिक्, देश एवं काल। इन्हीं तीनों के आधार पर ज्योतिषीय गणित, फलित एवं संहिता आदि स्कन्ध अपना-अपना कार्य करती है। अत: उनमें यहाँ दिक् साधन से सम्बन्धित विषयों को आपके ज्ञानार्थ प्रस्तुत किया जा रहा है।

आइए इस इकाई में आप सभी के लिए दिक् साधन के गणितीय एवं उसका सैद्धान्तिक पक्ष का विश्लेषण करते हैं।

१.२ उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप जान लेंगे कि –

- दिक् किसे कहते है।
- दिक् का साधन कैसे किया जाता है।
- दिक् का गणितीय एवं सैद्धान्तिक पक्ष क्या है।
- विभिन्न ग्रन्थों में दिक् साधन का स्वरूप क्या है।
- दिक् का क्या महत्व है।

१.३ दिक् परिचय

दिक् साधन ज्योतिषशास्त्र के मूलाधार पक्षों में से एक है। ऋषियों ने किसी भी वस्तु के परिज्ञान के लिए दिक् साधन की व्यवस्था प्रतिपादित किया है। ज्योतिष में प्रयोग के तीन पक्ष है- दिक्- देश एवं काल। इनके ज्ञानाभाव में ज्योतिषशास्त्र द्वारा सम्यक् रूप से किसी भी तथ्य को जान

पाना सर्वथा दुष्कर है। ज्योतिष के त्रिप्रश्नों (दिक् देश एवं काल) में से एक है- दिक्। सामान्यतया दिक् शब्द का अर्थ होता है- दिशा। दिग् व्यवस्था द्वारा ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत एवं इस पृथ्वी पर किसी की स्थिति का निर्धारण किया जा सकता है। क्योंकि इस अनन्त ब्रह्माण्ड में एवं विशाल भूपिण्ड पर किसी भी वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ या पिण्ड को देखने के लिए शून्य में अपने आप को कहाँ स्थापित कर, स्वयं के सापेक्ष उसे कहां ढूंढ़ा जाय? इसके लिए दिग् व्यवस्था ही एक मात्र आश्रय है। सामान्यतया दिक् या दिशा के बारे में आम लोग केवल इतना जानते हैं कि दिशायें केवल चार होती है- पूर्व, पश्चिम, उत्तर एवं दक्षिण, परन्तु ऐसा नहीं है।

ज्योतिष शास्त्र में दिशाओं की संख्या १० कही गयी है। पूर्व, अग्नि कोण, दक्षिण, नैर्ऋत्य कोण, पश्चिम, वायव्य कोण, उत्तर, ऐशान्य कोण, उर्ध्व एवं अध: दिशा। इनमें प्रधान पूर्व, पश्चिम, उत्तर एवं दक्षिण चार दिशा, चार कोण एवं उर्ध्व तथा अध: दिशाओं को विदिशा के नाम से भी जाना जाता है।

विदिशा निर्णय –

आग्नेयी पूर्वदिग्ज्ञेया दक्षिणादिक् च नैर्ऋती।
वायवी पश्चिम दिक् स्यादैशानी च तथोत्तरा।।

अर्थात् अग्निकोण की गणना पूर्वदिशा में, वायव्य कोण की पश्चिम दिशा में, नैर्ऋत्य कोण की दक्षिण दिशा में तथा ईशान कोण की गणना उत्तर दिशा में जानना चाहिए।

दिशा विचार –

यत्रोदेत्यस्ततां गच्छेदर्कस्ते पूर्वपश्चिमे।
ध्रुवो यत्रोत्तरादिक् सा तद्विरूद्धा च दक्षिणा।।

अर्थात् जिस दिशा में सूर्य का उदय होता है, वह पूर्व दिशा है, जिस दिशा में सूर्य अस्त होता है, उसे पश्चिम दिशा कहते है। जिस दिशा में ध्रुव तारा दिखलाई दें उसे उत्तर दिशा और उससे विरूद्ध भाग में दक्षिण दिशा समझना चाहिए।

स्पष्टदिक् साधन –

सायानार्काजसंक्रान्तौ काले सूर्योदये नरैः।
भास्कराभिमुखैर्ज्ञेया दिशोऽथ विदिशः स्फुटाः।।
संमुखे पूर्वदिग् ज्ञेया पश्चाद् ज्ञेया च पश्चिमा।

उत्तरा वामभागे या दक्षिणे सा च दक्षिणा।।

सायन मेष के संक्रान्ति में सूर्योदय काल में सूर्याभिमुख होकर स्पष्ट दिशा और विदिशाओं का ज्ञान करना चाहिए। सम्मुख जो दिखे वह पूर्व, पीछे पश्चिम, बायें उत्तर और दाहिनें भाग की दक्षिण दिशा होती है।

प्रधानतया आठ दिशाओं के स्वामी इस प्रकार कहे गये हैं-

प्राच्यादिशा रविसितकुजराहुयमेन्दुसौम्यवाक्पतयः।

क्षीणेन्द्वर्कयमाराः पापास्तैः संयुतः सौम्यः।।

पूर्वादि आठ दिशाओं के स्वामी क्रमशः सूर्य, शुक्र, मंगल, राहु, शनि, चन्द्र, बुध और गुरु होते हैं।

स्पष्टार्थ चक्र -

दिशा	पूर्व	अग्निकोण	दक्षिण	नैर्ऋत्य कोण	पश्चिम	वायव्यकोण	उत्तर	ईशान कोण
स्वामी	सूर्य	शुक्र	मंगल	राहु	शनि	चन्द्र	बुध	गुरु

१.४ दिक् ज्ञान विधि- सिद्धान्त ग्रन्थों पर आधारित

अब तक आपने पढ़ा कि दिशाएँ पूर्वादि भेद से दश प्रकार की होती हैं। जिनका उपयोग किसी भी एक स्थान से दूसरे स्थान का निर्धारण करने में किया जाता है। वर्त्तमान समाज वैज्ञानिक एवं सामाजिक दृष्टि से अति उन्नत हो गया है अतः आजकल सभी लोग कम्पास नामक या अन्य किसी आधुनिक यन्त्र से पूर्वादि दिशाओं का ज्ञान प्राप्त करते हैं, परन्तु पुरातन काल में जब विज्ञान इतना उन्नत नहीं था तथा इससे सम्बन्धित सुविधाएँ सबके लिए सुलभ नहीं थी तब भी हमारे ऋषि-महर्षि एवं आचार्यगण ग्रह-नक्षत्रादि के वेध के द्वारा अथवा सूर्य की छाया के द्वारा पूर्वादि दिशाओं का ज्ञान करते थे। अतः हमारे प्राचीन शास्त्रों में दिग् ज्ञान की जो विधियाँ महत्त्वपूर्ण बतलायी गई हैं उनका हम उपस्थापन यहाँ कर रहे हैं-

विदित हो कि दिग्ज्ञान की दो विधियाँ शास्त्रों में वर्णित हैं, जिसमें प्रथम स्थूल दिग्ज्ञान विधि है जिसके द्वारा सामान्य कार्य व्यवहार हेतु सरल विधियों से दिग्ज्ञान किया जाता है तथा द्वितीय दिग्ज्ञान की विधि सूक्ष्म होती है जिसमें श्रमपूर्वक गणित व्यवहार एवं सूक्ष्म कार्यों के सम्पादन हेतु सूक्ष्म दिग्ज्ञान होता है। आचार्यों नें सिद्धान्त ग्रन्थों में स्थूल एवं गणितीय प्रयोग हेतु सूक्ष्म दिग्ज्ञान

विधि का विचार पूर्वक प्रतिपादन किया है।

स्थूल दिक् साधन-

यत्रोदितोऽर्कः किल तत्र पूर्वा तत्रापरा यत्र गतः प्रतिष्ठाम्।
तन्मत्स्यतोऽन्ये च ततोऽखिलानामुदकस्थितो मेरुरितिप्रसिद्धम्।।

भास्कराचार्य के इस वचन के अनुसार सभी स्थानों पर जिस दिशा में सूर्य का उदय होता है वह उस स्थान की पूर्व दिशा तथा जिस दिशा में सूर्य का अस्त होता है वह पश्चिम दिशा होती है। इस प्रकार पूर्व और पश्चिम दिशा का सूर्योदय एवं सूर्यास्त देखकर निर्धारण करने के बाद पुनः पूर्व और पश्चिम बिन्दुओं की सहायता से पूर्वाभिमुख खड़े होकर वाम भाग द्वारा उत्तर और दक्षिण भाग द्वारा दक्षिण दिशा का निर्धारण किया जाता है। इसके अतिरिक्त भी आचार्य ने लिखा है कि समग्र भूमण्डल पर स्थित व्यक्तियों के लिए सुमेरु उत्तर दिशा में होता है। अतः सुमेरु से १८०० दूसरी तरफ दक्षिण दिशा सिद्ध होगी। परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में सूर्योदय तथा सूर्यास्त के द्वारा दिग्साधन करने से व्यवहारिक उपयोग में भी अनुभव हीनता से अनेक समस्याएं दिग् निर्धारण में उपस्थित हो जाती हैं क्यों कि सूर्य के विषुवत् रेखा से २३०। २७' (परम क्रान्ति तुल्य) उत्तर से लेकर विषुवत् रेखा से २३०। २७' दक्षिण तक भ्रमण करने के कारण ४६०। ५४' के बीच में हर स्थान पर सूर्योदय एवं सूर्यास्त का स्थान क्रमशः रोज बदलता रहेगा जिससे एक जगह पर भी प्रतिदिन पूर्वादि दिशाएं भिन्न-भिन्न होती रहेंगी। अतः ४६०। ५४' के मध्य किस बिन्दु के सूर्योदय को पूर्व बिन्दु मानकर किसी कार्य व्यापार का सम्पादन किया जाय एतदर्थ आचार्यों ने सूक्ष्म दिग्ज्ञान की व्यवस्थाएं दी हैं क्यों कि यागादि कर्म में स्वल्प दिग्दोष उपस्थित होने पर भी उनके फल नहीं मिलते है। अतः आचार्यों नें इस प्रपंच से मुक्ति के लिए सूक्ष्म प्रकार से दिग् साधन की अनेक विधियाँ ग्रन्थों में दी हैं जिनमें से कुछ विधियों का उपस्थापन यहाँ करेंगे।

बोध प्रश्न - 1

(1) दिक् का पर्याय है?

(क) दिशा (ख) यज्ञ

(ग) काल (घ) यात्रा

(2) दिशाएँ कितनी होती हैं?

(क) ४ (ख) ८ (ग) १० (घ) १२

(3) निम्नलिखित में विदिशा कौन है।

(क) पूर्व (ख) पश्चिम (ग) अग्निकोण (घ) दक्षिण

(4) स्थूल विधि में सूर्यास्त द्वारा किस दिशा का ज्ञान होता है?

(क) पूर्व (ख) पश्चिम (ग) उत्तर (घ) दक्षिण

(5) दिक् ज्ञान की कितनी विधि शास्त्रों में वर्णित है।

(क) २ (ख) ३ (ग) ४ (घ) ५

१.४.१ दिक् साधन – सूर्यसिद्धान्त, सिद्धान्तशिरोमणि एवं सिद्धान्ततत्वविवेक ग्रन्थानुसार -

'सूर्यसिद्धान्त' नामक ग्रन्थ में कथित दिक् साधन-

शिलातलेऽम्बु संशुद्धे वज्र लेपेऽपिवा समे।
तत्र शंक्वंगुलैरिष्टै: समं मण्डलमालिखेत्।।
तन्मध्ये स्थापयेच्छङ्कुं कल्पनाद्वादशांगुलम्।
तच्छाया स्पृशेद्यत्र वृत्ते पूर्वापरार्धयो:।।
तत्र बिन्दू विधायोभौ वृत्ते पूर्वापराभिधौ।
तन्मध्ये तिमिनारेखाकर्तव्यादक्षिणोत्तरा।।
याम्योत्तरदिशोर्मध्ये तिमिना पूर्वपश्चिमा।
दिङ्मध्यत्स्यै: संसाध्या विदिशस्तद्वदेव हि।।

अर्थात् जल से जल की सतह के समान समतल की गई भूमि पर, शिलाखण्ड पर, चूने का सीमेन्ट से कठोर की गई समतल भूमि पर, जिसकी सतह कॉंच की सतह की तहर हों, ऐसे धरातल को दिशा ज्ञान के उपयुक्त माना जाता हैं। इस धरातल पर मध्याह्न की छाया अर्थात् पलभा से अधिक अंगुलों के शंकु (१२ अंगुल) से समवृत्त की रचना करना चाहिए। उस वृत्त के केन्द्र में १२ अंगुल का एक शंकु स्थापित करें। उस शंकु की छाया का अग्र भाग जहाँ पर पूर्वार्ध एवं अपरार्ध दिन के भाग में उस वृत्त का स्पर्श करें अर्थात् जहाँ पर पूर्व भाग में स्पर्श करें वहाँ पूर्व बिन्दु एवं पश्चिम में जहाँ स्पर्श करें वहाँ पश्चिम बिन्दु लिखें। दोनों बिन्दुओं से मत्स्याकार वृत्त बनावें एवं मछली के आकार के दोनों वृत्तों की मिलने की आकृति वाले मुख एवं पूंछ के बीच में खींची जाने वाली रेखा याम्योत्तर रेखा होगी जो पूर्वापर दोनों बिन्दुओं के बीच जाने वाली रेखा पर लम्ब के रूप में होंगी। याम्योत्तर रेखा जहाँ

समवृत्त के दोनों ओर बिन्दुओं पर लगती है वहाँ वास्तविक उत्तर एवं दक्षिण दिशा होगी। पुन: याम्योत्तर रेखा के सूत्रार्ध से मत्स्याकार रेखा बनावें ये जहाँ समवृत्त पर पूर्व एवं पश्चिम में स्पर्श करेगी वहीं वास्तविक पूर्व एवं पश्चिम बिन्दु होंगे। वहीं वास्तव में पूर्व एवं पश्चिम दिशा होगी। इसी प्रकार पूर्व, पश्चिम, उत्तर एवं दक्षिण दिशा का साधन करने के पश्चात् उस दिशा में अग्निकोणादि का भी साधन करना चाहिए।

स्थूल एवं सूक्ष्म भेद से दिशा दो प्रकार की होती है, यह पूर्व में आपको बताया जा चुका है। जहाँ सूर्योदय होता है वहाँ पूर्व एंव जहाँ सूर्यास्त होता है वहाँ पश्चिम दिशा स्थूल रूप से होती है। यह स्थूल दिशा यात्रादि में ग्रहण करते हैं। सूर्य की क्रान्ति प्रत्येक दिन अलग-अलग होने से सूर्योदय एवं सूर्यास्त के बिन्दु स्थूल रूप से पूर्व एवं पश्चिम बिन्दु होते हैं। लेकिन श्रौत-स्मार्त -यज्ञ के कुण्ड, मण्डप, गृह आदि निर्माण में सूक्ष्म दिशा की आवश्यकता होती है। सूक्ष्म दिशा जानने के लिए सबसे पहले जिस प्रकार से भी हो पृथ्वी को समतल करनी चाहिए। समधरातल पर जिस प्रकार से भी मध्याह्न काल के १२ अंगुल के शंकु की छाया वृत्त के अन्दर ही रहे उतने ही अंगुल के शंकु से एक दिशा जानने लायक वृत्त बनाना ठीक है क्योंकि यदि मध्याह्न काल की छाया से कम अंगुल का शंकु होगा तो उस शंकु का छयाग्र बिन्दु वृत्त से बाहर ही होगा ऐसी स्थिति में छायाग्र दोनों बिंदुओं पर जाने वाले सूत्र के बाहर जाने से दिशा ज्ञान सही नहीं हो पायेगा। इसलिए वास्तविक दिशा जानने के लिए मध्याह्न काल की छाया से अधिक अंगुलों को त्रिज्या मान कर वृत्त खीचना ठीक है जिससे कि छायाग्रगत दोनों बिन्दु वृत्त के अन्दर ही होंगे।

एक दिन सूर्य की क्रान्ति परमाल्प होने के कारण शून्य हो तो उस दिन सूर्य का भ्रमण एक ही अहोरात्र वृत्त में ही होगा क्योंकि तब क्रान्ति वृत्त ही अहोरात्र वृत्त भी होता है।शंकु की छाया सूर्य से विपरीत दिशा में गमन करने के कारण जब सूर्य पूर्व कपाल में होगा तो ९० अंश नतांश होने के कारण शंकु की छायाग्रभाग पश्चिम दिशा से वृत्त में प्रवेश करेगा एवं जब सूर्य पर कपाल में होगा तो ९० अंश नतांश के समय ही छायाग्र भाग पूर्व दिशा में वृत्त से बाहर निकलेगा। उस समय पूर्व एवं पर दोनों ही कपालों में ९० अंश नतांश समान होने से छायाग्र पर्वा पर सूत्रान्तर के रूप में ज्या रूपी दोनों भुज भी समान होंगें। उस छायाग्र प्रवेश बिन्दु एवं निर्गम दानों बिन्दुओं में जाने वाली रेखा उस वृत्त की पूर्णज्या के रूप मे होती है, वह क्षितिज वृत्त के केन्द्रगत वास्तव पूर्वापर रेखा के समानान्तर पूर्वापर रेखा के रूप में

होगी। जिससे उस वृत्त में गये हुए दोनों छायाग्र गत बिन्दु भी पूर्वा पर बिन्दु होते हैं। उन दोनों पूर्वापर बिन्दु होते हैं।

उन दोनों पूर्वापर वृत्त को केन्द्र मानकर बनाये गये दोनों वृत्त जहाँ मिलते हैं उन योग के दोनों स्थानों पर मत्स्य का आकार बन जाता है। उस वृत्तों का एक दिशा की ओर के योग स्थान को मछली का मुँह एवं दूसरे स्थान को पूँछ समझे। इस मुख एवं पुच्छ के बीच जाने वाली रेख कल्पित रेखा पर लम्ब रूपा एवं उस रेखा का आधा करने वाली एवं वृत्त के केन्द्र में होकर जाने वाली रेखागणित के नियमानुसार होती है, वही रेखा वास्तव में दक्षिणोत्तर रेखा होगी एवं उस वृत्त एवं याम्योत्तर रेखा के दोनों के योग बिन्दु ही दक्षिणोत्तर दोनों बिन्दु होंगें। दक्षिणोत्तर दोनों बिन्दुओं के बीच जाने वाली रेखा के आधे को त्रिज्या मानकर बनाये गये दोनों वृत्तों का जहाँ मत्स्याकार रूप बनें उसके मुख एवं पुच्छ में जाने वाली जो रेखा उस वृत्त के केन्द्र में होकर भी जावे वास्तव में पूर्वापरा रेखा होगी एवंउस पूर्वापरा रेखा का उन दोनों बिन्दुओं से योग का स्थान ही वास्तविक रूप से पूर्वापर बिन्दु होते हैं।

इस तरह से पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण चारों सूक्ष्म दिशायें ज्ञात हो जाती है। इसी तरह से हम पूर्वोत्तर दोनों बिन्दुओं की सहायता से मत्स्याकार आकृतियाँ बनाकर अग्नि-नैर्ऋत्य-वायव्य-ईशान उपदिशाओं का ज्ञान भी कर सकते सकते है। यह सब नीचे क्षेत्र में स्पष्ट है -

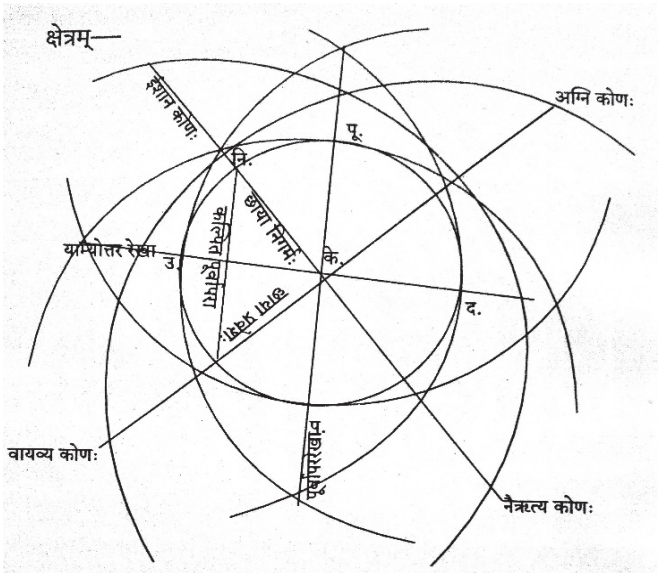

अब यहाँ भास्कराचार्य द्वारा 'सिद्धान्तशिरोमणि' ग्रन्थ में कथित दिक् साधन को समझते है -

वृत्तेऽम्भः सुसमीकृते क्षितिगते केन्द्रस्थशंकोः क्रमात्
भाग्रं यत्र विशत्युपैति च यत्रस्तत्रापरेन्द्र्यौ दिशौ।
तत्कालापमजीवयोस्तु विवराद्धाकर्णमित्याहता-
ल्लम्बज्यान्नमितांगुलैरयनदिश्यैन्द्री स्फुटा चालिता।।

अर्थात् पूर्वोक्त जल सम्प्रसारण विधि से भूमि का समतलत्व परीक्षण कर उस समतल भूमि पर इष्ट व्यासार्द्ध द्वारा एक वृत्त का निर्माण कर उस वृत्त के केन्द्र में एक द्वादशांगुल शंकु की स्थापना करेंगे और छाया का परीक्षण करेंगे। पुनः पहले बताए हुए नियमानुसार ही शंकु की छाया सूर्योदय एवं सूर्यास्त के आसन्न काल में दिग्ज्ञानार्थ निर्मित वृत्त में जहाँ प्रवेश करेगी तथा जहां से निर्गम होगी वहाँ चिह्न लगाकर पुनः छाया प्रवेश तथा निर्गम कालिक भुजाग्रों का अन्तर ज्ञात कर छाया निर्गम बिन्दु पर सूर्य के अयन दिशा में संस्कार करने से जो बिन्दु प्राप्त होगी उस बिन्दु पर तथा उसके विरुद्ध दिशा में स्थित छाया प्रवेश बिन्दु पर गई हुई रेखा का निर्माण करने से यह रेखा पूर्वापर रेखा के समानान्तर रेखा बनेगी।

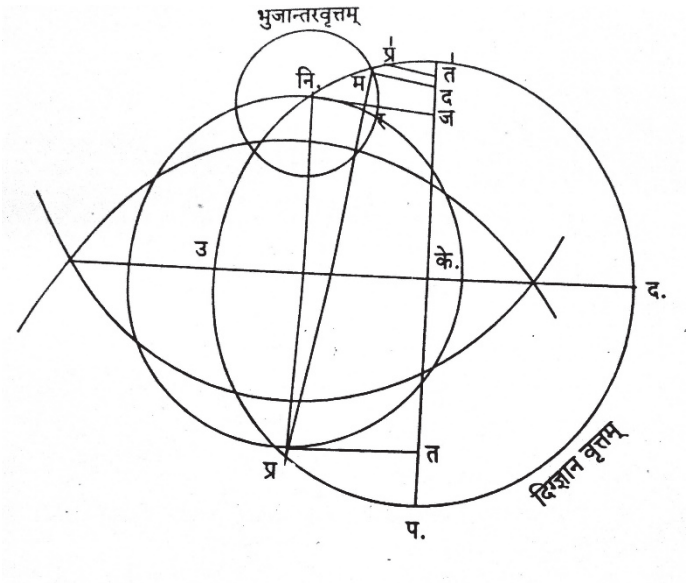

संस्कार हेतु सूर्य यदि कर्कादि छः राशियों में हो तो दक्षिणायन एवं मकरादि छः राशियों में हो तो उत्तरायण सूर्य होता है। अतः उत्तरायण होने पर पूर्व बिन्दु से उत्तर में तथा दक्षिणायन होने पर दक्षिण में फल का संस्कार कर स्पष्ट पूर्व दिशा का ज्ञान होगा। दोनों भुजाग्रों का अन्तर ज्ञात करने के लिए आचार्यों नें निम्नलिखित विधि का निर्देश किया है। इस क्रम में दिग्ज्ञानार्थ निर्मित वृत्त में छाया प्रवेश तथा निर्गम काल का ज्ञान कर उन दोनों समयों की स्पष्ट सूर्य क्रान्ति का साधन करेंगे तथा पुनः उनकी

ज्या बनाकर इन दोनों क्रान्तिज्याओं के अन्तर को छायाकर्ण से गुणाकर लम्बज्या से भाग देगें, इस गणित प्रक्रिया से जो फल प्राप्त होगा वही प्रवेश एवं निर्गमकालिक भुजाग्रों का अन्तर होगा। अतः इस अन्तर फल का सूर्य की अयन दिशा में उत्तर या दक्षिण में पूर्व बिन्दु पर संस्कार करने से शुद्ध पूर्व बिन्दु प्राप्त होगा। प्रस्तुत प्रसंग में वर्णित अक्षज्या, लम्बज्या, पलकर्ण का ज्ञान आप ''गोल परिभाषा'' या ''सूर्यसिद्धान्त'' आदि सिद्धान्त ग्रन्थों की सहायता से प्राप्त करेंगे। उपर्युक्त गणित की उपपत्ति अक्षक्षेत्र के द्वारा सिद्ध होती है। क्यों कि ''भुजोऽक्षभा कोटिरिनांगुलोना कर्णोऽक्षकर्णः खलु मूलमेतत्'' इत्यादि के द्वारा भास्कराचार्य नें जिन आठ अक्षक्षेत्रों का वर्णन किया है उनमें लम्बज्या कोटि, अक्षज्या भुज तथा त्रिज्या कर्ण द्वारा निर्मित त्रिभुज तथा क्रान्तिज्या कोटि, कुज्या भुज एवं अग्रा कर्ण द्वारा निर्मित त्रिभुज के सजातीय होने से परस्पर समानता के कारण अनुपात सिद्ध होता है कि यदि प्रथम त्रिभुज के लम्बज्या कोटि में त्रिज्या कर्ण प्राप्त होता है तो द्वितीय त्रिभुज के अन्तर्गत क्रान्तिज्या कोटि में क्या प्राप्त होगा? तो इसमें अग्रा कर्ण प्राप्त होता है-

$$\frac{\text{त्रिज्या} \times \text{क्रान्तिज्या}}{\text{लम्बज्या}} = \text{अग्रा}।$$

सैद्धान्तिक नियमानुसार गोलपृष्ठ पर निर्मित पूर्वापर वृत्त तथा अहोरात्र वृत्तों के मध्य क्षितिज वृत्त में अग्रा होती है। ''पूर्वापरद्युरात्रान्तः क्षिजितेऽग्रांशकास्तथा'' तथा ग्रह स्थान से अपने क्षितिज वृत्त के धरातल पर किया गया जो लम्ब है उसे इष्ट शंकु कहते है। इष्ट शंकु के मूल से पूर्वापर सूत्र का अन्तर भुज के तुल्य तथा अपने उदयास्त सूत्र का अन्तर शंकुतल होता है। पुनः इस भुज और शंकुतल के स्थितिवश योग या अन्तर रूप संस्कार से पूर्वापर सूत्र तथा उदयास्त सूत्र के मध्य अग्रा की प्राप्ति होती है। अतः अग्रा $\pm$ शंकुतल = भुज।

यहाँ पूर्व में आगत अग्रा का मान इस अग्रा के स्थान पर रखने से –

$$\frac{\text{त्रिज्या} \times \text{क्रान्तिज्या}}{\text{लम्बज्या}} \pm \text{शंकुतल} = \text{भुज}।$$

हम सभी जानते हैं कि गोलपृष्ठ पर अनेक वृत्त बनते हैं जिनमें से यह भुज त्रिज्या वृत्तीय सिद्ध होता है। अतः दिग् साधन के लिए इस त्रिज्या वृत्तीय भुज को छायाकर्ण वृत्त में परिवर्तित करते हैं तब यह भुज कर्ण वृत्तीय होता है।

$$\therefore \text{भुज} = \frac{\text{त्रिज्या} \times \text{क्रान्तिज्या} \times \text{छायाकर्ण}}{\text{त्रिज्या} \times \text{लम्बज्या}} \quad \frac{\text{शंकुतल} \times \text{छायाकर्ण}}{\text{त्रिज्या}}$$

$$= \text{भुज} = \frac{\text{क्रान्तिज्या} \times \text{छायाकर्ण}}{\text{लम्बज्या}} \quad \frac{\text{शंकुतल} \times \text{छायाकर्ण}}{\text{त्रिज्या}}$$

(∵ कर्णवृत्त में $\frac{\text{शंकुतल} \times \text{छायाकर्ण}}{\text{त्रिज्या}}$ का मान पलभा के तुल्य होता है।)

$$\therefore \text{भुज} = \frac{\text{क्रान्तिज्या} \times \text{छायाकर्ण}}{\text{लम्बज्या}} \pm \text{पलभा}।$$

इस गणितीय विधि से हम दिग् साधन हेतु निर्मित वृत्त में छाया प्रवेश तथा छाया निर्गम काल के भुजों का साधन करेंगे तथा फिर उन दोनों भुजाओं का अन्तर साधित कर अग्रिम क्रम में प्रवृत्त होंगे–

$$\left(\frac{\textit{छाया प्रवेश कालिक क्रान्तिज्या} \times \textit{छाया प्रवेश कालिक छायाकर्ण}}{\textit{लम्बज्या}} \pm \textit{पलभा}\right) \mathcal{S}$$
$$\left(\frac{\textit{छाया निर्गम कालिक क्रान्तिज्या} \times \textit{छाया निर्गम कालिक छायाकर्ण}}{\textit{लम्बज्या}} \pm \textit{पलभा}\right)$$

$$= \frac{\left(\textit{छाया प्रवेश कालिक क्रान्तिज्या} \quad \mathcal{S} \textit{छाया निर्गम कालिक क्रान्तिज्या}\right) \times \textit{छायाकर्ण}}{\textit{लम्बज्या}}$$

= प्रवेशकालिक तथा निर्गम कालिक भुजों का अंगुलात्मक अन्तर।

इस प्रकार प्रवेश एवं निर्गम कालिक भुजों का अन्तर प्राप्त कर दिग्ज्ञानार्थ निर्मित

वृत्त परिधि के पूर्व बिन्दु पर सूर्य की अयन दिशा में इस अंगुलात्मक अन्तर को जोड़ने या घटाने से वास्तविक पूर्व दिशा सिद्ध होती है। अब इस पूर्व बिन्दु से पश्चिम बिन्दु तक रेखा बनाकर पूर्वापर के समानान्तर रेखा सिद्ध होती है। परन्तु पूर्वोक्त ''वृत्तेऽम्भः सुसमीकृते क्षितिगते .....'' इत्यादि श्लोक की सहायता से भास्करादि आचार्यों के द्वारा साधित दिग्ज्ञान भी पूर्णतया शुद्ध एवं सूक्ष्म नहीं होगा, क्यों कि उपर्युक्त नियमानुसार अंगुलात्मक भुजान्तर का दिग्ज्ञापक भूपरिधि में संस्कार करने से भी स्वल्पान्तर दोष उत्पन्न होगा क्यों कि छाया प्रवेशकालिक एवं निर्गमकालिक भुजान्तर का मान

अंगुलात्मक एवं ज्यारूप में प्राप्त होगा परन्तु वृत्त की परिधि चापात्मक होती है। अतः ज्या और चाप के मध्य अन्तर होने के कारण यह संस्कार भी असमान जाति का होने से स्थूल होगा।

आचार्य कमलाकर भट्ट द्वारा 'सिद्धान्ततत्वविवेक' नामक ग्रन्थ में कथित सूक्ष्म दिग्ज्ञान –

अथात्र वृत्तं समभूमिपृष्ठे कार्यं च तच्चक्रकलाङ्कितं च।
तत्केन्द्रगाल्लम्बनिभार्कशंकोश्छायाग्रकं यत्र विशत्युपैति।।
वृत्ते परेन्द्र्यौ भवतौ दिशौ च तत्कालदृग्ज्याग्रगतौ भुजौ यौ।
छायोत्थकर्णेन गुणौ विभक्तौ छायाप्रमाणेन तयोस्तु चापे।।
एकान्यदिक्त्वे तु तदन्तरैक्यकलाभिरैन्द्री चलिताऽयनांशा।
वृत्तौ स्फुटाख्या खलु गोलयुक्त्या तन्मत्स्यतः स्यादिह याम्यसौम्या।।

यहां पर भी आचार्य कमलाकर भट्ट नें पूर्वोक्त विधि से प्रवेश एवं निर्गमकालिक भुजों का अन्तर दिगंश रूप में निकालकर उन दिगंशान्तर का वृत्तपरिधि में संस्कार कर सूक्ष्म दिक् साधन किया है। यहां उन्होंने त्रिज्या, दिग्ज्या एवं दिगंशकोटिज्या तथा दृग्ज्या, इसके अग्र में गया भुज एवं इसकी कोटि इन दोनों त्रिभुजों के सजातीय अनुपात द्वारा दिग्ज्या का साधन किया है। यथा–

$$\frac{\text{भु.} \times \text{त्रि.}}{\text{ज्यादृ.}} = \text{ज्यादि.}\ \frac{\text{भु.} \times \text{छाक.}}{\text{छाया}} = \text{दिग्ज्या}$$

अतः इसका चाप दिगंश सिद्ध होता है। इस प्रकार प्रवेश एवं निर्गम इन दोनों कालों के दिगंशों का साधन करके इनका एक दिशा में योग तथा भिन्न दिशा में अन्तर करने से जो मान प्राप्त हो उसका छाया वृत्त में निर्गम बिन्दु पर अयन दिशा में संस्कार करने से वास्तविक पूर्व बिन्दु प्राप्त होता है। शेष क्रियाएं पूर्वोक्त विधियों के अनुसार ही यहां भी होती हैं तथा पूर्वापर रेखा के समानान्तर वास्तविक रेखा का निर्माण हो जाता है। अब पुनः इस पूर्वापर रेखा के समानान्तर इष्ट रेखा के छाया वृत्त में स्थित पूर्व एवं पश्चिम दोनों प्रान्तों (छोर) को केन्द्र बनाकर पूर्वापर समानान्तर रेखा तुल्य व्यासार्द्ध से दो वृत्तों का निर्माण करेंगे। अब इन दोनों वृत्तों का जिन दो स्थलों पर परस्पर सम्पात होगा इन दोनों सम्पात बिन्दुओं में गई हुई एक रेखा करेंगे, यह रेखा दिग्ज्ञापक इस वृत्त के केन्द्र से होकर जाती हुई पूर्वापर के समानान्तर स्थित सूत्र पर लम्ब रूप में स्थित होकर इसे आधा करती हुई याम्योत्तर रेखा वृत्त परिधि में उत्तर एवं दक्षिण तरफ जिन दो स्थानों में वृत्त परिधि को स्पर्श करेगी उन दोनों बिन्दुओं से उत्तर एवं दक्षिण दिशा का बोध होगा। इस प्रकार पूर्व, पश्चिम, उत्तर एवं दक्षिण इन चार दिशाओं का ज्ञान होने के बाद आप इनकी सहायता से विदिशा (कोण की दिशा) का ज्ञान करेंगे। ये पूर्वादि चारों दिशाएं

परस्पर ९०-९ अंश के अन्तर पर सिद्ध होती हैं। अतः इन दो-दो दिशाओं के मध्य ४५-४५ अंश के अन्तर पर कोण की चारों दिशाएं क्रमशः पूर्व और दक्षिण के मध्य आग्नेय, दक्षिण और पश्चिम के मध्य नैऋत्य, पश्चिम-उत्तर के मध्य वायव्य तथा उत्तर-पूर्व के मध्य ईशान दिशा सिद्ध होती हैं। ऊपर बताए हुए क्रम में इन कोण की दिशाओं का ज्ञान करने के लिए आसन्नवर्ती किसी भी दो दिशाओं की बिन्दुओं से मत्स्य चाप द्वारा दिग्ज्ञापक वृत्त में इनका ज्ञान हो जाएगा। जैसे वृत्त में स्थित पूर्व एवं दक्षिण बिन्दु को केन्द्र मानकर पूर्वोक्त विधि से मत्स्य चाप द्वारा आग्नेय एवं वायव्य तथा पूर्व एवं उत्तर बिन्दुओं के केन्द्र से ईशान तथा नैऋत्य कोण की दिशा इस वृत्त में निश्चित होगी।

इस प्रकार आपने ज्योतिष शास्त्र के प्रमुख तीन सिद्धान्त ग्रन्थ (सूर्यसिद्धान्त, सिद्धान्तशिरोमणि एवं सिद्धान्ततत्वविवेक) में कथित दिक् साधन को समझ लिया होगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

बोध प्रश्न - 2

1. दिक् साधन में कितने अंगुल का शंकु का प्रयोग किया जाता है।
   क. १२ ख.१४ ग.१६ घ.१८
2. लम्बज्या में त्रिज्या मिलता है तो क्रान्तिज्या में क्या मिलेगा।
   क. छाया ख.पलभा ग.अग्रा घ. कोई नहीं
3. त्रिप्रश्न में क्या नहीं आता है।
   क. दिक् ख. देश ग.काल घ. पलभा
4. उर्ध्व एवं अध: ये किसके प्रकार है।
   क. दिक् के ख.छाया के ग. अग्रा के घ. चरखण्ड के
5. दिंगश की ज्या को क्या कहते है।
   क. पलभा ख. दिग्ज्या ग. वित्रिभ घ. भुज

१.५ सारांश

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आपने जान लिया है कि दिक् साधन ज्योतिषशास्त्र के मूलाधार पक्षों में से एक है। ऋषियों ने किसी भी वस्तु के परिज्ञान के लिए दिक् साधन की व्यवस्था

प्रतिपादित किया है। ज्योतिष में प्रयोग के तीन पक्ष है- दिक्- देश एवं काल। इनके ज्ञानाभाव में ज्योतिषशास्त्र द्वारा सम्यक् रूप से किसी भी तथ्य को जान पाना सर्वथा दुष्कर है। ज्योतिष के त्रिप्रश्नों (दिक् देश एवं काल) में से एक है- दिक्। सामान्यतया दिक् शब्द का अर्थ होता है- दिशा। दिग् व्यवस्था द्वारा ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत एवं इस पृथ्वी पर किसी की स्थिति का निर्धारण किया जा सकता है। क्योंकि इस अनन्त ब्रह्माण्ड में एवं विशाल भूपिण्ड पर किसी भी वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ या पिण्ड को देखने के लिए शून्य में अपने आप को कहाँ स्थापित कर, स्वयं के सापेक्ष उसे कहां ढूंढ़ा जाय? इसके लिए दिग् व्यवस्था ही एक मात्र आश्रय है। सामान्यतया दिक् या दिशा के बारे में आम लोग केवल इतना जानते हैं कि दिशायें केवल चार होती है- पूर्व, पश्चिम, उत्तर एवं दक्षिण, परन्तु ऐसा नहीं है। ज्योतिष शास्त्र में दिशाओं की संख्या १० कही गयी है। पूर्व, अग्नि कोण, दक्षिण, नैर्ऋत्य कोण, पश्चिम, वायव्य कोण, उत्तर, ऐशान्य कोण, उर्ध्व एवं अध: दिशा। इनमें प्रधान पूर्व, पश्चिम, उत्तर एवं दक्षिण चार दिशा, चार कोण एवं उर्ध्व तथा अध: दिशाओं को विदिशा के नाम से भी जाना जाता है।

१.६ पारिभाषिक शब्दावली

दिक् – दिशा

सिद्धान्त - सिद्ध: अन्ते यस्य स: सिद्धान्त:।

गणित – गण्यते संख्यायते तद् गणितम्।

शंकु – १२ अंगुलात्मक यन्त्र

दिशा – प्राच्यादि १० दिशायें होती है।

विदिशा – चार कोण को विदिशा के रूप में जानते है।।

सृष्टि – समस्त चराचर जगत्।

१.७ बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न – १ के उत्तर

1. क
2. ग
3. ग
4. ख

5. क

बोध प्रश्न – 2 के उत्तर

1. क
2. ग
3. घ
4. क
5. ख

१.८ सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. सिद्धान्तशिरोमणि – मूल लेखक – भास्कराचार्य:, टिका – पं. सत्यदेव शर्मा
2. सूर्यसिद्धान्त – आर्ष ग्रन्थ, टिका – कपिलेश्वर शास्त्री/ प्रोफे. रामचन्द्र पाण्डेय
3. सिद्धान्ततत्वविवेक – मूल लेखक – कमलाकर भट्ट।
4. वृहद्वकहड़ाचक्र – अवधबिहारी त्रिपाठी।

१.९ सहायक पाठ्यसामग्री

1. सिद्धान्तशिरोमणि –
2. सूर्यसिद्धान्त –
3. सिद्धान्ततत्वविवेक –
4. केतकीग्रहगणितम् –

१.१० निबन्धात्मक प्रश्न

1. सोदाहरण दिक् साधन कीजिये।
2. दिक् साधन का महत्व बताइये।
3. दिक् साधन का प्रयोजन सिद्ध कीजिये।
4. दिक् साधन का गणितीय एवं सैद्धान्तिक पक्ष का प्रतिपादन कीजिये।

इकाई - २ अयनांश विमर्श

इकाई की संरचना

२.१ प्रस्तावना

२.२ उद्देश्य

२.३ अयनांश परिचय

२.३.१ पंचांग साधन में अयनांश

२.३.२ सायन, निरयण पंचांग

२.४ अयनांश साधन

२.५ सारांश

२.६ पारिभाषिक शब्दावली

२.७ बोध प्रश्नों के उत्तर

२.८ सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

२.९ सहायक पाठ्यसामग्री

२.१० निबन्धात्मक प्रश्न

२.१ प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई एमएजेवाई- 203 के प्रथम खण्ड की द्वितीय इकाई से सम्बन्धित है, जिसका शीर्षक है- अयनांश विमर्श। इसके पूर्व की इकाई में आपने दिक् साधन का अध्ययन कर लिया है। अब आप यहाँ अयनांश सम्बन्धित विषय का अध्ययन करने जा रहे है।

अयनांश गणित ज्योतिष का मूलाधार है। लग्न साधन से लेकर ग्रहों की गति, स्थिति एवं उसका आनयन सभी अयनांश पर निर्धारित है। इसकी गणना मुख्यत: दो प्रकार का होता है- सायन एवं निरयण।

अत: आइए इस इकाई में हम सभी अयनांश से सम्बन्धित गणितीय एवं उसका सैद्धान्तिक को समझने का प्रयास करते हैं।

२.२ उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप जान लेंगे कि –

- अयनांश की परिभाषा क्या है।
- अयनांश का साधन कैसे किया जाता है।
- अयनांश का गणितीय एवं सैद्धान्तिक पक्ष क्या है।
- सायन एवं निरयण किसे कहते है।
- अयनांश का क्या महत्व है।

२.३ अयनांश परिचय

गणित ज्योतिष में अयनांश एक अत्यन्त महत्वपूर्ण विषय है। इसके ज्ञान से ही हम ग्रहों की यथार्थ स्थिति, एवं उसकी गति का बोध कर पाते हैं। साथ ही हमें यह भी ज्ञात होना चाहिए कि अयन एवं अयनांश दो पृथक-पृथक शब्द है। अयन दो होते हैं – उत्तरायण एवं दक्षिणायन। सूर्य की मकरादि छ: राशियों में स्थिति को उत्तरायण तथा कर्कादि छ: राशियों में स्थिति को दक्षिणायन कहते है। अयनांश भी अयन से ही सम्बन्धित होता है। वस्तुत: ज्योतिष में सामान्यतया दो प्रकार से अयनांश

साधन का उल्लेख मिलता है – पहला सायन और दूसरा निरयण। आकाशस्थ समस्त बिन्दु सायन मान से गतिमान है। लग्न के स्पष्टीकरण में भी अयनांश की आवश्यकता होती है।

अयनांश की स्थूल परिभाषा है - अयन सम्बन्धित अंश: अयनांश:। स: द्विविधम्। अर्थात् अयन सम्बन्धित अंश को अयनांश कहते है, और वह दो प्रकार का होता है – सायन और निरयण।

२.३.१ पंचांग साधन में अयनांश -

भारतवर्ष में पंचांगों की उत्पत्ति आरम्भ काल से ही धार्मिक क्रियाओं (व्रत, पर्व, यज्ञ, कर्मकाण्ड, अनुष्ठानादि) का समय निश्चित करने के लिए हुई है। कालान्तर में उनमें सामाजिक उत्सव और वर्तमान काल में राजकीय महत्व के कार्य भी जोड़ दिए गए हैं। हमारे समस्त प्राचीन सामाजिक उत्सवों को भी धार्मिक स्वरूप दिया गया है। हमारे भारत देश में कई शताब्दियों से विविध धर्म प्रचलित हैं। इससे हमारे पंचांग भी विविध प्रकार के बने हैं। इनके मुख्य प्रकार (1) हिंदू, (2) इस्लाम, (3) पारसी और (4) खिष्टीय है। आज के हिंदू पंचांगों के भी लगभग 100 से अधिक प्रकार पाए जाते हैं।
हमारे पंचांगों में उत्सवों और व्रतों के अतिरिक्त ग्रहण, सूर्योदयास्त, इष्ट घटनाओं के समय, आकाश में ग्रहों की स्थिति इत्यादि खगोलीय विषय दिए जाते हैं। खगोलशास्त्र आजकल पश्चिम में इतनी उन्नत स्थिति में आ गया है कि वहाँ के पंचांगों में दिए हुए खगोलीय घटनाओं के समय आकाशस्थित ग्रहों की प्रत्यक्ष घटनाओं के साथ सेकंड तक बराबर मिल जाते हैं और यहाँ हमारे पंचांगों का गणित इतना स्थूल हो गया है कि उनके ग्रहण काल में डेढ़ घंटे तक का अंतर पाया जाता है। इसका कारण यह है कि जिन ग्रंथों से हमारे पंचांग बनते हैं वे कम से कम ५०० से १००० वर्ष पुराने हैं और इन वर्षों में पश्चिम में गणित ज्योतिष में बहुत उन्नति हो गई है। इससे हमारे पंचांगों का गणित अर्बाचीन गणित ज्योतिष शास्त्र से करना चाहिए, जिससे वह प्रत्यक्ष आकाश के अनुसार यथार्थ उतरे। ऐसे गणित को "प्रत्यक्ष" गणित या "दृग्गणित" कहते हैं। आज गुजरात और महाराष्ट्र में समस्त पंचांग प्रत्यक्ष गणित से बनाए जाते हैं। पर भारत के अन्यान्य प्रदेशों में प्रत्यक्ष गणित से बहुत कम पंचांग बनाए जाते हैं। किंतु केवल प्रत्यक्ष गणित से हमारे पंचांगों का प्रश्न हल नहीं हो सकता । हमारे पंचांग सूर्यचंद्र की आकाशीय स्थिति के अनुसार बनाए जाते हैं और इनमें अन्य ग्रहों की स्थिति भी दी रहती है । स्थिति बतलाने की रीति यह है कि आकाश की एक निश्चित रेखा के ऊपर एक निश्चित बिंदु से ग्रहों के अंतर नापे जाते हैं ओर ये अंतर पंचांगों में दिए जाते हैं। उस निश्चित रेखा को "क्रांतिवृत्त", निश्चित बिंदु को "आरंभस्थान" और वहाँ से ग्रह के अंतर को "भोग" कहते हैं। पाश्चात्यों का आरंभस्थान निश्चित है

और वह वसंतसंपात है। मगर हमारे पंचांग का आरंभस्थान कौन सा बिंदु हो, इस विषय में हमारे पंडितों में बहुत मतभेद है। **वसंत संपात और हमारे आरंभ स्थान के बीच में जो अंतर है, उसको "अयनांश" कहते हैं।** इसका अर्थ यह हुआ कि अयनांश कितना है इस विषय में हमारे पंडितों में मतभेद है। अयनांश के निश्चय के बिना आरंभस्थान का निश्चय नहीं होता और आरंभस्थान के निश्चय के बिना पंचांग बन नहीं सकता। अत: **अयनांश** हमारे पंचांग की महत्वपूर्ण समस्या है। सम्प्रति केतकीग्रहगणित का अयनांश सर्वाधिक स्पष्ट मानकर पंचांगकार उसी का अपने पंचांग निर्माण में उपयोग करते हैं। उदाहरण के लिए आप उत्तर भारत के सर्वाधिक प्रचलित पंचांग हृषीकेष के मुखपृष्ठ पर देखेंगे तो आपको अयनांश – केतकरीय लिखा मिलेगा।

२.३.२ सायन, निरयण पंचांग -

जिस पंचांग में वसंतसंपात को आरंभस्थान माना जाता है, उसको "सायन" पंचांग कहते हैं और जिस पंचांग में इस संपात के अतिरिक्त किसी और बिंदु को आरंभस्थान माना जाता है, उसको "निरयण" पंचांग कहते हैं। वसंतसंपात, दक्षिणायन, शरत्संपात और उत्तरायण, ये चार बिंदु क्रांतिवृत्त के ऊपर अनुक्रम से ९०-९० अंश के अंतर से आए हैं। सूर्य स्थिर है, मगर पृथ्वी सूर्य के चारों और एक वर्ष में पूरा एक चक्कर लगाती है। परंतु हमें भ्रमवश ऐसा भासित होता है कि सूर्य ही हमारे चारों ओर घूम रहा है। सूर्य के इस भासमान वार्षिक मार्ग को "क्रांतिवृत्त" कहते हैं। इस मार्ग पर सूर्य एक वर्ष में पश्चिम से पूर्व की ओर भ्रमण करता हुआ हमको दिखाई देता है।

दो संपात और दो अयन, ये चार बिंदु स्थिर नहीं, किंतु ये सब वार्षिक ५० विकला की बहुत छोटी गति से सतत पश्चिम की ओर वापस जा रहे हैं। ऋतुएँ, दिन और रात्रि का बढ़ना घटना, इन सब घटनाओं का आधार ये चार बिंदु हैं, अर्थात् जब सूर्य इन बिंदुओं के पास आता है, तब ये घटनाएँ होती हैं। इससे ऋतु, दिनमान, इत्यादि सायन वर्ष के अनुसार होते हैं। सायन वर्ष का मान ३६५ दिवस, ५ घंटे, ४८ मिनट और ४६ सेकंड है।

निरयण पंचांग का आरंभ स्थान संपात के सिवाय कोई भी स्थिर या अस्थिर बिंदु हो सकता है। इससे जहाँ स्थिर आरंभ स्थान विवक्षित हो, वहाँ असंदिग्धता के लिए "निरयण" के स्थान पर "नाक्षत्र" शब्द का प्रयोग करना अधिक अच्छा है। तथापि "नाक्षत्र" के अर्थ में "निरयण" शब्द बहुत प्रयुक्त किया जाता है। तारे स्थिर हैं, इससे सूर्य किसी एक तारा, या स्थिर बिंदु से चलकर जितने समय के बाद फिर उस स्थिर बिंदु या तारा के पास पहुँचे उतने समय को "नाक्षत्र" वर्ष कहते हैं। नाक्षत्र वर्ष का मान ३६५

दिन, ६ घंटे, ९ मिनट और १० सेकंड है। तारे दृश्य और स्थिर हैं, उनके संबंध में ग्रहों के आकाशीय स्थान नाक्षत्रपद्धति से हम बतला सकते हैं। यह नाक्षत्रपद्धति का विशेष उपयोग है। सायन **वर्ष नाक्षत्र** वर्ष से २० मिनट और २४ सेकंड छोटा है। हमारे पुराने ढंग के पंचांगों में, जो वर्षमान लिया जाता है, वह ३६५ दिन, ६ घंटे, १२ मिनट और ३६ सेकंड है। यह न शुद्ध सायन है और न शुद्ध नाक्षत्र। यह शुद्ध सायन वर्ष से लगभग २४ मिनट और शुद्ध नाक्षत्र वर्ष से लगभग मिनट बड़ा है। यह वर्षमान लेने के कारण हमारी ऋतुएँ और तारों के बीच में ग्रहों के स्थान, ये सब हमारे प्रत्यक्ष अवलोकन और अनुभव से भिन्न आते हैं।

ऐसी स्थिति में हमको क्या करना चाहिए? इस प्रश्न का उत्तर देने के पहले हमारे लिए यह जान लेना आवश्यक है कि हमारे पंचांग में कौन-कौन से विषय आते हैं। पंचांग अर्थात् पाँच अंग ये हैं : तिथि, वार, नक्षत्र, योग और करण।

"तिथि" पूर्ण चंद्रबिंब का १५वाँ हिस्सा ओर "करण" ३०वाँ हिस्सा बतलाता है। "वार" एक सूर्योदय से दूसरे सूर्योदय तक का समय बतलाता है। "नक्षत्र" क्रांतिवृत्त का २७वाँ हिस्सा और "राशि" ३०वाँ हिस्सा हैं। "योग" सूर्य और चंद्र के भोगों का योग है। इसका कारण समझने के लिए खगोल की एक दो अन्य बातें जान लेना आवश्यक है।

आकाश का जो गुंबद जैसा गोलार्ध भाग हमें पृथ्वी पर ढक्कन सरीखा रखा हुआ भासित होता है, उसको नीचे की ओर बढ़ाकर यदि पूर्ण गोल किया जाय, तो उसे हम खगोल कहेंगे। पृथ्वी के विषुवत्त के तल को यदि चारों ओर बढ़ाया जाय, तो वह खगोल को एक वृत्त में काटेगा। इस वृत्त को हम "आकाशीय विषुववृत्त" कहेंगे। आकाश में दिखाई देनेवाले किसी पिंड का आकाशीय विषुववृत्त से, उत्तर या दक्षिण, जो अंतर होता है, यह उस पिंड की क्रांति (declination) कही जाती है। गणितशास्त्र का नियम है कि जब किसी दो पिंडों के भोगांशी (celestial longitudes) का योग या वियोग (अंतर) ० या १८० अंश होता है, तब उन दो पिंडों की क्रांति समान होती है और इसको "क्रांतिसाम्य" कहते हैं। सूर्यचंद्र के क्रांतिसाम्य का समय निकालना, पंचांग के "याग" अंग का उद्देश्य है।

इतना समझने के बाद हम यह सोच सकते हैं कि हमारा पंचांग सायन अथवा किस अयनांश का निरयण (नाक्षत्र) होना चाहिए। खगोल संबंधी कुछ ही विषय ऐसे हैं जिनमें सायन और निरयण का कोई संबंध नहीं रहता, अत: उनमें कहीं कोई मतभेद नहीं है, उदाहरणार्थ वार। जो विषय दो ग्रहों के अंतर पर निर्भर हैं, उनमें भी मतभेद नहीं है, क्योंकि ग्रहों के सायन और निरयण अंतर समान होते हैं। इसका कारण यह है कि भोगों का अंतर लेने में अयनांश वियोग क्रिया में उड़ जाता है। ऐसे विषय है तिथि और करण।

इन दोनों में सूर्य और चंद्र का अंतर लेना पड़ता है ग्रहण भी ऐसा ही विषय है। सूर्य के पास यदि कोई अन्य ग्रह आए, तो वह दिखाई नहीं देता और जब वह फिर सूर्य से दूर चला जाता है, तब पुन: दिखाई देने लगता है। इन घटनाओं को ग्रहों का "लोपदर्शन" अथवा "उदयास्त" कहते हैं। ये घटनाएँ सूर्य और ग्रह के बीच के अंतर पर निर्भर करती है, इससे इनमें भी सायन निरयण दोनों प्रकर के गणितों से एक ही उत्तर आता है।

बोध प्रश्न –

निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर दें -

1. अयनांश ..... होता है।
2. केतकरीय मत से वार्षिक अयन गति ..... है।
3. अयनांश साधन का मुख्य ..... प्रकार है।
4. लग्न साधन में ..... की आवश्यकता होती है।
5. ग्रहलाघवीय अयनांश साधन में शक ..... है।

सूर्य, चंद्र इत्यादि के दैनिक उदय और अस्त के साथ भी सायन या निरयण पद्धति का कोई संबंध नहीं। समस्त ग्रह, ताराओं के बीच, पश्चिम से पूर्व की ओर चलते हैं, मगर हमारे दृष्टिभ्रम के कारण कभी कभी वे हमको कुछ समय तक उलटी गति से, अर्थात् पूर्व से पश्चिम की ओर, चलते दिखाई देते हैं। इनकी ऐसी गति को "वक्री" गति कहते हैं। इस घटना के साथ भी सायन या निरयण पद्धति का कोई संबंध नहीं। इस प्रकार पंचांग के कुछ विषयों का सायन और निरयण पद्धति से कोई संबंध नहीं है और कुछ विषय ऐसे हैं जिनके सायन और निरयण गणितों के परिणाम समान आते हैं। इन दोनों प्रकारों के विषयों में सायन और निरयण का मतभेद नहीं। अब ऐसे विषय रहे जिनका सायन गणित और भिन्न भिन्न अयनांशों के निरयण गणित, ये सब एक दूसरे से भिन्न आते हैं। ऐसे विषयों में हमको क्या करना चाहिए, अब इसपर विचार करना आवश्यक है।

उत्तरायण, दक्षिणायन और वसंतादि ऋतुओं का संबंध सायन गणना के साथ है। निरयण गणना के साथ इनका संबंध नहीं है। इससे इन विषयों को सायन गणना के अनुसार ही निर्णीत करना चाहिए। उदाहरणत:, उत्तरायण और शिशिर ऋतु का आरंभ २२ दिसंबर से ही मानना चाहिए, १४ जनवरी से नहीं। इससे उलटे विषय हैं अश्विनी, भरणी आदि नक्षत्र और मेष, वृषभ आदि राशियाँ। ये सब तारों के समुदाय हैं। ये तारे स्थिर हैं, इससे इनका गणित स्थिर आरंभस्थानवाली नाक्षत्र (निरयण) गणना से करना चाहिए, जिससे तारों के बीच में ग्रहों के स्थान यथार्थता से निर्दिष्ट हो सकें।

जब निरयण गणना की बात आती हैं, तब उसके स्थिर आरंभस्थान का अर्थात् अयनांश का प्रश्न स्वाभाविक ही उत्पन्न होता है। संपात और अयन निसर्गसिद्ध हैं, इस संबंध में कोई मतभेद नहीं है। निरयण गणना का स्थिर आरंभस्थान संपात के सदृश नैसर्गिक नहीं, मगर वह सांकेतिक प्रकार से बहुजन सम्मति से कोई भी लिया जा सकता है। यद्यपि इस विषय में हमारे पंडितों का ऐकमत्य नहीं हुआ, तथापि भारत शासन नियुक्त "पंचांग संशोधन सीमिति" (कैलेंडर रिफॉर्म कमिटी) ने जिस अयनांश की सिफारिश की है, उसे अब धीरे धीरे सभी पंचांगकार प्रयुक्त कर रहे हैं। वह इस प्रकार से है : 1963 ई. के प्रारंभ (जनवरी, 1) का अयनांश 23 डिग्री 20 मिनट 24.29 सेकेण्ड और वार्षिक अयनगति, अर्थात् अयनांश की वृद्धि = 50.27सेकेण्ड । इस वार्षिक गति से अयनांश भविष्य काल में सर्वदा बढ़ते रहते हैं। यदि भूतकाल का अनांश चाहें, तो इस गति से घटाकर लेना चाहिए।

पंचांग के अश्विनी आदि नक्षत्र और मेषादि राशियाँ क्रांतिवृत्त के समान विभाग हैं, मगर आकाश के अश्विनी आदि और मेषादि तारापुंज आकाश में समान विस्तारवाले नहीं है। ये समान अंतर पर भी स्थित नहीं हैं, अत: पंचांगस्थ और आकाशस्थ नक्षत्रों और राशियों में पूर्ण सादृश्य रहना संभव नहीं है। तथापि यथोचित स्थिर आरंभस्थान लेने से यह सादृश्य लगभग आ जाता है। संपात और अयन चल बिंदु हैं, अत: इनको आरंभस्थान मानने से पंचांग के और आकाश के नक्षत्रों और राशियों का सादृश्य कुछ समय के बाद नहीं रह जाएगा, यह स्पष्ट है।

पंचांग के दैनिक (विष्कंभादि) योगों का उद्देश्य सूर्य चंद्र का क्रांतिसाम्य है, यह ऊपर बतलाया गया है और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह गणित सायन पद्धति से करना चाहिए, यह भी समझाया गया है। इसमें और भी एक बात है। विष्कंभादि योगों में व्यतिपात 17वाँ योग है। इसे गणित सिद्धांत के अनुसार 14वाँ रखना चाहिए। इसका कारण, जैसा हमने ऊपर बतलाया है, यह है कि योग 0 (360) अंश अथवा 180 अंश होना चाहिए। सूर्य चंद्र के क्रांतिसाम्य को "महापात" कहते हैं, जो "व्यतिपात" और "वैधृत" नाम से प्रसिद्ध हैं। उनमें वैधृति 27वाँ योग है, जिसकी समाप्ति 360 डिग्री पर होती है। 180 डिग्री पर 13 योग होते हैं। इससे व्यतिपात 14वाँ योग होना चाहिए, मगर वह 17वाँ
है। अतएव उपर्युक्त परिवर्तन आवश्यक है।

"पंचांग" में बतलाया गया है कि "वर्ष" नामक कालमान का हेतु वसंतादि ऋतु बतलाने का है, इससे वर्षमान सायन लेना चाहिए तथा इसके और भी कारण है । हमारे बहुत से सामाजिक उत्सव और धार्मिक कृत्य ऋतुओं के ऊपर निर्भर हैं, जैसे शरत्पूर्णिमा, वसंतपंचमी, शीतलजलयुक्त घट दान, शरद् के श्राद्ध का पायस भोजन, वसंत का निंबभक्षण, शरद् का नवान्नभक्षण इत्यादि । ये सब चांद्र मास के

ऊपर निर्भर हैं, चांद्रमास अधिक मास पर निर्भर हैं, अधिक मास सौर संक्रांति के ऊपर निर्भर हैं और सौर संक्रांति वर्षमान के ऊपर निर्भर है। यदि हमारा वर्षमान सायन न हो, तो हमारे सब उत्सव और व्रत गलत ऋतुओं में चले जायेंगें। अंतिम 1.500 वर्षों में, अर्थात् आर्यभट से लेकर आज तक तक की अवधि में हमारा, वर्षमान सायन रहने के कारण हमारे व्रतों और उत्सवों में लगभग 23 दिनों का अंतर पड़ गया है। इस अंतर को हम "अयनांश" कहते हैं। यदि यही स्थिति भविष्य में भी बनी रही तो हमारी शरत्पूर्णिमा वसंत ऋतु में और हमारी वसंतपंचमी शरद्ऋतु में आ जायगी। इस असंगति को दूर करने का एक ही उपाय है और वह है सायन वर्षमान का अनुसरण। यह अनुसरण हम दो प्रकार से कर सकते हैं : - (1) "शुद्ध सायन" और (2) "विशिष्ट सायन"।

1. शुद्ध सायन - यह सुविदित है। वह वसंतसंपात से आरंभ होकर फिर वसंत संपात पर समाप्त होता है। इसमें अयनांश सर्वदा. (शून्य) रहता है। वर्तमान हिंदू पंचांग पद्धति के निर्माता आर्यभट के समय में, जो उत्सव जिन ऋतुओं में पड़ा करते थे, वे उत्सव उन्हीं ऋतुओं में आज भी पड़ेंगे। मगर इस पद्धति के अधिक मास वर्तमान प्रणाली के अधिक मासों से भिन्न आएँगे। हमारे आज के ज्योतिषी वर्ग में "पंचांगवाद" का ज्ञान अल्प होने और भिन्न अधिक मास के कारण उत्सव भिन्न मासों में आने से (प्रचलित पद्धति के अनुसार) शुद्ध सायन पंचांग का प्रचार नहीं होता। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि पंचांग के अश्विनी आदि नक्षत्र और मेषादि राशियाँ तो नाक्षत्र (निरयण) ही रहेंगी। ही रहेंगी। सायण संक्रांतियों का उपयोग अधिक मास और चांद्र मास नाम के निर्णय के लिए होगा, जैसा आज भी अयनों और ऋतुओं के लिए उनका उपयोग होता है।

2. विशिष्ट सायन - शुद्ध सायन पंचांग का प्रचार आज कठिन है, इसलिए भारत सरकार द्वारा नियुक्त पंचांग संशोधन समिति ने विशिष्ट सायन मार्ग की संस्तुति की है। इस मार्ग में भी वर्षमान तो सायन ही रहेगा, मगर अयनांश 23 अंश स्थिर रहेगा। इसका परिणाम यह होगा कि हमारे उत्सवों में और उनसे संबद्ध ऋतुओं में लगभग 23 दिनों का जो अंतर आज आता है, वह भविष्य में स्थिर रहेगा, और बढ़ेगा नहीं। दूसरा परिणाम यह होगा कि आज की प्रचलित पद्धति से जो अधिक मास आते है वे ही भविष्य में भी कुछ वर्षों तक आते रहेंगे, परंतु आगे धीरे धीरे उनमें भिन्नता बढ़ती जायगी। आज की प्रचलित पद्धति और शुद्ध सायन पद्धति इन दोनों के बीच का मध्यम मार्ग है। इस पद्धति के अश्विनी और मेष तथा आकाश के इन नामों के तारापुंजों में प्राय: वैसा ही सादृश्य रहेगा जैसा आजकल वर्तमान है। मगर कुछ समय के बाद उनमें बहुत अंतर पड़ जायगा। वैसी अवस्था आने पर इसका उपाय भी सोचा जायगा, जिसमें हमारे आजकल के आरंभस्थान मेष और अश्विनी के बदले मीन और उत्तरा भाद्रपदा

इत्यादि को आरंभ स्थान मानने की व्यवथा रहेगी। इस प्रकार की युक्तियों से, पंचांग सायन रहने पर भी, पंचांग के और आकाश के नक्षत्रों का संबंध कालांतर में भी ठीक बना रहेगा। अधिकांश जनता का संबंध ऋतुओं के साथ है। तारादिकों का संबंध केवल पंडित लोगों से है, जिनका अनुपात जनसाधारण में अत्यल्प है। वे विद्वान् हैं अत: तारों की यथार्थ गणना के लिए कोई अन्य व्यवस्था कर सकते हैं।

(1) भारत सरकार द्वारा नियुक्त पंचांग संशोधन समिति का "राष्ट्रीय पंचांग" इस विशिष्ट सायन मार्ग का एक उदाहरण है, यह ऊपर बतलाया गया है। यह मार्ग चांद्र मासों की व्यवस्था के लिए है। "राष्ट्रीय पंचांग" की दिनगणना के लिए सौर मास और प्रत्येक मास की निश्चित दिनसंख्या रखी गई है (अंगरेजी मासों की तरह), जिससे तिथियों के वृद्धि क्षय और अधिक मास की गड़बड़ी नहीं रहती। यह व्यवस्था केवल व्यावहारिक दिनगणना के लिए है। धार्मिक व्रतों लिए चांद्र मास, अधिक मास, तिथि इत्यादि तो हैं ही। दिनगणना में वर्ष के दिन 365 और प्रति चार वर्ष में एक वर्ष के 366 दिन होते है। इससे राष्ट्रीय दिनांकों का मेल अँगरेजी तारीखों से हमेशा बना रहता है, जैसा नीचे की तालिका में बतलाया गया है।

ब्रह्मगुप्त और लल्ल ने अयन चलन के संबंध में काई चर्चा नहीं की है, परंतु आर्यभट द्वितीय ने इस पर बहुत विचार किया है। अपने ग्रंथ 'मध्यमाध्याय' के श्लोक 11- 12 में इन्होंने 'अयन बिंदु' को एक ग्रह मानकर इसके 'कल्पभगण' की संख्या 5,78,159 लिखी है जिससे अयन बिंदु की वार्षिक गति 173 'विकला' होती है जो बहुत ही अशुद्ध है। स्पष्टाधिकार में स्पष्ट अयनांश जानने के लिए जो रीति बताई गई है उससे प्रकट होता है कि इनके अनुसार अयनांश 24 अंश से अधिक नहीं हो सकता और अयन की वार्षिक गति भी सदा एक सी नहीं रहती। कभी घटते-घटते शून्य हो जाती है और कभी बढ़ते-बढ़ते १७३ विकला हो जाती है। इससे सिद्ध होता है कि आर्यभट द्वितीय का समय वह था जब अयनगति के संबंध में हमारे सिद्धांतों को कोई निश्चय नहीं हुआ था।

मुंजाल के 'लघुमानस' में अयन चलन के संबंध में स्पष्ट उल्लेख है, जिसके अनुसार एक कल्प में अयन भगण १,९९,६६९ होता है, जो वर्ष में ५९.९ विकला होता है। मुंजाल का समय ८५४ शक या ९३२ ईस्वी है, इसलिए आर्यभट का समय इससे भी कुछ पहले होना चाहिए। इनका समय ८०० शक के लगभग होना चाहिए। आचार्य वेंकटेश द्वारा विरचित केतकीग्रहगणित के अनुसार वार्षिक अयन गति ५०.२ विकला है, जो आजकल सबसे ज्यादा प्रचलित है। कालानुरोधेन इसमें भी अब स्थूलता आ गयी है।

२.४ अयनांश साधन

सूर्यसिद्धान्तीय अयनांश –

सृष्टयारम्भ में नाड़ी और क्रान्ति वृत्त के सम्पात् स्थान पर निरयणमेषादि था। क्योंकि सृष्टयारम्भ में अयनांश नहीं थे। उस स्थान से वह सम्पात बिन्दु अल्पगति से पूर्वाभिमुख २७ अंश जाकर लौटा, उसी गति से पश्चिमाभिमुख २७ अंश जाता है। वहाँ से भी लौटता है, उस गति से ही पूर्व गति से जब अपने स्थान पर आता है तो १०८ अंश वह सम्पात् चल लेता है तब उस सम्पात् बिन्दु का एक अयन भगण होता है। प्राचीनाचार्यों ने वेध द्वारा अयन के चलन को जानकर अनुपात से एक महायुग में होने वाले ४३२०००० सौर वर्षों में अयन भगण ६०० बतलाया हैं।

यदि युग सावन दिनों में अयन भगण ६०० मिलते हैं तो अहर्गण में क्या?

= ६०० × अहर्गण / युग सावन दिन = भगणादि अयन गति आती है। इस का भुज बनाकर फिर से अनुपात करने पर ३६० अंशों में अयन भगण का चालन १०८ अंश होता है तो भुज के अंशों में क्या?

= ३ × भुजांश/१० = भागफल अयनांश होगा।

मूल श्लोक : -

त्रिंशत् कृत्यो युगे भानां चक्रं प्राक् परिलम्बिते।
तद्गुणादभूदिनैर्भक्ताद भगणांशदवाप्यते।।
तद्दोस्त्रिघ्ना दशाप्तांशा विज्ञेया अयनाभिधा।।

अर्थात् एक महायुग में नक्षत्रों के भचक्र ३० × २० = ६०० की संख्या समान भचक्र अपने स्थान से पूर्व से चलित होता है। अर्थात् नाडीवृत्त एवं क्रान्तिवृत्त का जो सम्पात् सृष्टयादि में निरयण मेष स्थान होता है, वह २७ अंशों की दूरी तक पूर्व से पश्चिम की ओर जाकर वहाँ से लौटकर फिर से पूर्वगति से चलता हुआ अपने स्थान पर पहुँचने से अयन चलन चक्र का १ भगण पूरा होता है। वहाँ दोनों ओर २७ अंशों में इस सम्पात् के स्थान से आने जाने से ४ बार में १०८ अंशों की पूर्ति होने से १ भगण के अनुसार एक महायुग में ६०० भगण होते हैं। अर्थात् प्रत्येक भगण में १०८ अंश चलने पर अयन भगण के अनुसार एक महायुग में अयन चलन भगण ६०० होते हैं।

ग्रहलाघवीय अयनांश -

वेदाब्ध्यब्ध्यूनः स्वरसहृतः शकोऽयनांशाः।

अर्थात् वर्तमान शक में ४४४ घटाकर ६० का भाग देने से लब्ध फल अयनांश होते हैं। इस अयनांश

की वार्षिक गति ६० विकला मानी जाती है। अत: प्रति राशि में ५ विकला के अनुसार इष्ट सूर्य की गत राशि अंश से लब्ध विकलादि फल को वर्षारम्भकालिक अयनांश में जोड़ने से इष्टकाल के स्पष्टायनांश होते हैं।

उदाहरण के लिए माना कि - जन्म शक – १८४१, स्पष्ट सूर्य ३।७। राश्यादि है।

अत:, नियमानुसारेण - १८४१ – ४४४ = १३९७ शेष में ६० का भाग देने से लब्ध अंशादि २३।१७ हुआ। स्पष्ट सूर्य ३।७ ३×५= १५।। ५×७/३० अंश से ७/६= १।१ + १५ = १६ विकला प्राप्त हुआ। अत: स्पष्टायनांश २३।१७।१३ हुआ।

नवीन विद्वानों के मतानुसार अयनांश साधन प्रकार –

वर्तमान शक में १८०० घटाकर शेष में एक स्थान पर ७० से और दूसरी स्थान पर ५० से भाग देकर अंशादि तथा कलादि क्रमश: दो फलों के अन्तर में २२।८।३३ अंशादि जोड़ने से वर्षारम्भ कालिक अयनांश होंगे। अयनाशं की वार्षिक गति ५०.२ प्रति विकला है। अत: स्पष्ट सूर्य के राश्यादि से अनुपात द्वारा लब्ध फल को उसमें जोड़ने से इष्टकालिक अयनांश होगा।

उदाहरण – माना कि जन्म शक – १८८१, अत: नियमानुसार,

१८८१- १८०० = ८१ इसमें ७० का भाग देने पर लब्ध अंशादि – ०।३५।८

पुन: ८१ में ५० का भाग देने से लब्ध फल कलादि – ०।४९।१२

अब – ०।४९।१२ (०।३५।८ – ०।०।४९) = ०।३४।१९।।

२२।८।३३ + ०।३४।१९ = २२।४२।५२ वर्षारम्भ कालिक स्पष्टायनांश हुआ।

मेषादि संक्रान्ति के आरम्भ में अयनांशचालन विकलादि –

मेष	वृष	मिथुन	कर्क	सिंह	कन्या	तुला	वृश्चिक	धनु	मकर	कु.	मीन	मासगति
०	४	८	१२	१६	२०	२५	३०	३४	३८	४२	४६	४
०	१०	२०	३०	४०	५०	०	१०	२०	३०	४०	५०	१०

वर्षारम्भकालिक अयनांशा: -

शक	अयनांश	शक	अयनांश	शक	अयनांश
१८००	२२ ८ ३३	१८७४	२३ १० ३०	१८९५	२३ २८ ६
१८१०	२२ १६ ५५	१८७५	२३ ११ २०	१८९६	२३ २८ ५६
१८२०	२२ २५ १७	१८७६	२३ १२ १०	१८९७	२३ २९ ४६
१८३०	२२ ३३ ४१	१८७७	२३ १३ ०	१८९८	२३ ३० ३७
१८३५	२२ ३७ ५०	१८७८	२३ १३ ५०	१८९९	२३ ३१ २७
१८४०	२२ ४२ २	१८७९	२३ १४ ५१	१९००	२३ ३२ १७
१८४५	२२ ४६ १३	१८८०	२३ १५ ३१	१९०१	२३ ३३ ७
१८५०	२२ ५० २५	१८८१	२३ १६ २२	१९०२	२३ ३३ ५७
१८५२	२२ ५२ ५	१८८२	२३ १७ १२	१९०३	२३ ३४ ४७
१८५४	२२ ५३ ४६	१८८३	२३ १८ २	१९०४	२३ ३५ ३८
१८५६	२२ ५५ २६	१८८४	२३ १८ ५३	१९०५	२३ ३६ २८
१८५८	२२ ५७ ६	१८८५	२३ १९ ४३	१९०६	२३ ३७ १८
१८६०	२२ ५८ ४७	१८८६	२३ २० ३३	१९०७	२३ ३८ ८
१८६२	२३ ० २७	१८८७	२३ २१ २३	१९०८	२३ ३८ ५९
१८६४	२३ २ ८	१८८८	२३ २२ १३	१९०९	२३ ३९ ४९
१८६६	२३ ३ ४८	१८८९	२३ २३ ४	१९१०	२३ ४० ३९
१८६८	२३ ५ २८	१८९०	२३ २३ ५४	१९११	२३ ४१ २९
१८७०	२३ ७ ९	१८९१	२३ २४ ४४	१९१२	२३ ४२ १९
१८७१	२३ ७ ५९	१८९२	२३ २५ ३५	१९१३	२३ ४३ १०
१८७२	२३ ८ ४९	१८९३	२३ २६ २५	१९१४	२३ ४४ ०
१८७३	२३ ९ ३९	१८९४	२३ २७ १५	१९१५	२३ ४४ ५०

अभीष्ट शक के अयनांश ज्ञात करने के लिए एकादि

वर्षों की कलादि अयन गति बोधक चक्र –

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	२०	३०	४०
०	१	२	३	४	५	५	६	७	८	१६	२५	३३
५०	४०	३१	२१	११	१	५२	४२	३२	२२	४५	७	२९

अयनांश साधन के कई प्रकार ज्योतिष गणित मे प्रचलित हैं। यहां पर हम चित्रापक्षीय अयनांश साधन बतलायेंगे। क्योंकि आधुनिक पंचागकार इसी अयनांश को प्रयोग में ला रहे हैं। मेषादि विन्दु से बसंत-संपात विन्दु की दूरी अयनांश कहलाती है।चित्रा तारा से शरद संपात की दूरी भी यही होने के कारण इस अयनांश को चित्रा पक्षीय अयनांश भी कहा जाता है।

अयनांश गति-

सूर्यसिद्धान्त से- 54 विकला प्रतिवर्ष

ग्रहलाघव से - 60 विकला प्रतिवर्ष

दृश्य गणित से - 50.3 विकला प्रतिवर्ष

अयनांश साधन विधि -

खखाष्टम्यून 1800 शकात्खशैले: 70

खपन्चभि 50 भाग कलादि लब्ध्यो:।

यदंतरं तत्सहिता द्विहस्ता 22

नवांक 9 दस्त्रा अयनांश संज्ञा ॥

जिस वर्ष का अयनांश निकालना हो उस वर्ष के शाके में से 1800 घटाओ शेष को दो स्थानों मे लिखो एक स्थान में 70 का भाग देकर अंशादि फल लाओ। दूसरे स्थान पर 50 का भाग देकर कलादि फल लाओ। अंशादि फल मे कलादि फल घटाओ जो शेष बचे उसे 22^0 09' 29'' में जोड़ने से मेष संक्रांति के दिन अयनांश होगा।

उदाहरण - 1 मई 2011 का अयनांश

शाके 1933 -1800 =133

133/70 = लब्धि 1 शेष 63 गुणा 60 = 3780

3780/70 = 54

दूसरी बार

133/50 = लब्धि 2 शेष 33 गुणा 60 =1980

1980/50 = लब्धि 39 शेष 30 गुणा 60 = 1800

1800/50 = लब्धि 36

$= 01^0$ 54' 00'' 00'''

\- 02' 39'' 36'''

$= 01^0$ 51' 20'' 24'''

22^0 09' 29''

$+01^0$ 51' 20''

$=24^0$ 00' 49'' यह मेषार्क कालिक अयनांश हुआ।

1 मई 2011 को प्रात: 5:30 का सूर्य स्पष्ट

00 राशि 16 अंश 16 कला 31 विकला या 16.27 अंश

360 अंश मे अयन गति =50.3 विकला

16.27 अंश में अयन गति = 50.3 गुणा 16.27

= 824.88

824.88/360 = 2.29 विकला

इसे मेषार्क कालिक अयनांश में जोड़ देंगे जोड़ने पर 24^0 00' 51 स्पष्ट अयनांश प्राप्त हुआ।

२.५ सारांश

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आपने जान लिया कि अयन सम्बन्धित अंश: अयनांश:। स द्विविधम् – सायन निरयणश्च। अर्थात् अयन सम्बन्धित अंश को अयनांश कहते है, वह दो प्रकार का होता है – सायन और निरयण । आकाशस्थ समस्त बिन्दु सायन मान से गतिमान है। अयनांश गणित ज्योतिष का एक अभिन्न इकाई है। आकाशस्थ समस्त बिन्दु सायन मान से गतिमान है। ग्रहस्पष्टीकरण पंचांग का प्राण माना जाता है, उसमें अयनांश के बिना शुद्ध ग्रहगणित की कल्पना नहीं की जाती सकती है। इस इकाई में अयनांश के महत्वपूर्ण बिन्दुओं का उल्लेख किया गया है, गणितीय विधि से उसका साधन बताया गया है, जिससे पाठक गण पढ़कर अयनांश के ज्ञान को सरलता से प्राप्त कर लेगें।

२.६ पारिभाषिक शब्दावली

अयनांश – अयन सम्बन्धित अंशादि मान

पलभा – द्वाद्वशांगुल छाया

लंकोदय – लंका का उदय मान

निरयण - अयनांश रहित मान

सायन – अयनांश रहित मान

सुविदित – स्पष्ट रूप से जाना गया

अनुसरण - पीछे चलना

उदायास्त – उदय और अस्त

पंचांगस्थ – पंचांग में स्थित

संक्रान्ति – सूर्य का राशि परिवर्तन

उत्तरायण – मकरादि छ: राशियों में सूर्य की स्थिति का होना

२.७ अभ्यास प्रश्नों के उत्तर –

1. अयन सम्बन्धित अंश
2. ५०.२ विकला
3. दो
4. अयनांश
5. ४४४

२.८ सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. ग्रहलाघव – प्रोफेसर रामचन्द्र पाण्डेय
2. सूर्यसिद्धान्त – कपिलेश्वर शास्त्री
3. केतकीग्रहगणितम् – मूल लेखक- आचार्य वेंकटेश
4. भारतीय कुण्डली विज्ञान – मीठालाल ओझा

२.९ सहायक/उपयोगी पाठयसामग्री

1. ज्योतिष सर्वस्व
2. सचित्र ज्योतिष शिक्षा
3. सिद्धान्तशिरोमणि
4. भारतीय कुण्डली विज्ञान
5. ज्योतिष रहस्य

२.१० निबन्धात्मक प्रश्न -

1. अयनांश को परिभाषित करते हुये उसका स्पष्ट रूप से साधन करें।
2. अयनांश के कितने प्रकार है। स्पष्ट कीजिये।
3. सूर्यसिद्धान्तीय अयनांश का वर्णन कीजिये।
4. आधुनिक मतानुसार अयनांश साधन कीजिये।
5. पंचांग में अयनांश की भूमिका पर प्रकाश डालिये।

इकाई - ३ पलभा एवं चरखण्डानयन

इकाई की संरचना

३.१ प्रस्तावना

३.२ उद्देश्य

३.३ पलभा परिचय व साधन

३.४ चरखण्डानयन

३.५ सारांश

३.६ पारिभाषिक शब्दावली

३.७ बोध प्रश्नों के उत्तर

३.८ सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

३.९ सहायक पाठ्यसामग्री

३.१० निबन्धात्मक प्रश्न

३.१ प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई एमएजेवाई- 203 के प्रथम खण्ड की तृतीय इकाई से सम्बन्धित है। इसके पूर्व की इकाई में आपने दिक् साधन एवं अयनांश का अध्ययन कर लिया है। अब आप यहाँ पलभा एवं चरखण्ड का अध्ययन करने जा रहे है।

पलभा गणित ज्योतिष की एक महत्वपूर्ण इकाई है। सूर्य जब सायन मेषादि में हो तभी दिनार्द्ध के समय १२ अंगुल शंकु के मान से पलभा का ज्ञान किया जाता है। इसका मान अंगुलादि में होता है। इसी से दिक् साधन, छाया साधन आदि का ज्ञान किया जाता है।

आइए इस इकाई में आप सभी के लिए पलभा एवं चरखण्ड सम्बन्धित गणितीय एवं उसका सैद्धान्तिक पक्ष का विश्लेषण करते हैं।

३.२ उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप जान लेंगे कि –

- पलभा किसे कहते है।
- पलभा का साधन कैसे किया जाता है।
- पलभा का गणितीय एवं सैद्धान्तिक पक्ष क्या है।
- पलभा से चरखण्डादि का साधन कैसे किया जाता है।
- पलभा एवं चरखण्ड का क्या महत्व है।

३.३ पलभा परिचय व साधन

पलभा का शाब्दिक अर्थ है – १२ अंगुल की शंकु छाया। गणित ज्योतिष में इस द्वादशांगुल पलभा का महत्वपूर्ण योगदान है। अयनांश साधन के पश्चात् आप सभी को पलभा का ज्ञान होना परम आवश्यक है। अक्षांश के अनुरूप भिन्न-भिन्न स्थानों की अलग-अलग पलभा होती है। इसीलिए अक्षांश से भी पलभा का साधन करने का विधान है। ज्योतिष शास्त्र में स्थूल और सूक्ष्म दोनों विधियों से पलभा साधन की परम्परा रही है।

सर्वप्रथम पलभा किसे कहते है? आइए इसका विचार करते है -

जिस दिन सायन सूर्य, राशि- अंश- कला- विकला से शून्य हो अर्थात् जब सूर्य ठीक सम्पात बिन्दु पर हो, (यह समय २१ मार्च और २३ सितम्बर को होता है) जब दिन-रात बराबर होता है उस दिन मध्याह्न (दोपहर) के समय में १२ अंगुल की एक शंकु सम भूमि में किसी खुले स्थान में स्थापित करें। ठीक मध्याह्न के समय उस शंकु की जितनी छाया पड़े, उसे अंगुल व्यांगुल में नाप लेना चाहिये। यही नाप उस स्थान की **पलभा** होगी। जैसा कि आचार्यों ने कहा है कि -

मेषादिगे सायनभागसूर्ये दिनार्द्धजाभा पलभा भवेत् सा।

त्रिष्ठाहता स्युदशभिर्भुंजगैर्दिग्भिश्चिरान्ताद् गुणोद्धृताऽन्त्या।।

इस प्रकार **सम्पात बिन्दु के मध्याह्न काल में १२ अंगुल की शंकु की छाया का जो नाप हो उसे पलभा कहते है।** मापन करते समय में समानता हो और अंगुल, प्रति अंगुल, तत्प्रति अंगुल तक ठीक – ठीक नाप लेकर लिख लेना चाहिये। एक लकड़ी में नाप का चिह्न नापने के लिये बनाकर रख लेना चाहिये। जो शंकु स्थापित करें सम भूमि में बिल्कुल सीधी स्थापित करें जिससे उसके दोनों और ९० – ९० अंश के कोण रहें।

सूर्यसिद्धान्त के अनुसार पलभा –

जिस दिन सूर्य विषुवद् वृत्त पर होता है अर्थात् जिस दिन सूर्य सायन मेष या सायन तुला बिन्दुओं पर आता है उस दिन समतल भूमि पर सीधे गड़े हुए १२ अंगुल के शंकु की छाया मध्याह्न कालिक जितनी बड़ी होती है, उसी को पलभा कहते है। क्षेत्र द्वारा पलभा ज्ञान -

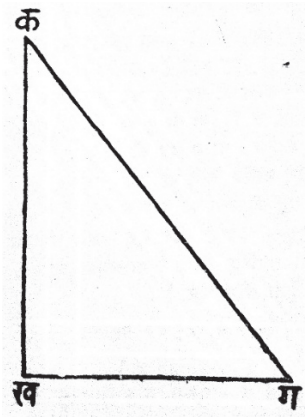

क्षेत्र में समतल भूमि के ख बिन्दु पर क ख शंकु सीधा गड़ा है और क ख की नाप १२ अंगुल है तो सायन संक्रान्ति के दिन मध्याह्न काल में क ख की छाया यदि ख ग हो तो ख ग की नाप को ही ख स्थान की पलभा, विषुवद्भा, अक्षभा इत्यादि कहेंगे। इस पलभा का मान सब जगह एक सा नहीं होता वरन् अक्षांश के अनुसार बढता-घटता रहता है। विषुवद् रेखा पर जहाँ अक्षांश शून्य होता है सायन मेष संक्रान्ति के दिन ख ग का मान शून्य हो जाता है। विषुवत् रेखा से ज्यों-ज्यों उत्तर या दक्षिण जायेंगे त्यों-त्यों पलभा का मान बढ़ता जायेगा। उत्तर गोल में पलभा शंकु से उत्तर दिशा में होगी और दक्षिण गोल में दक्षिण दिशा में, इसलिए पलभा से किसी स्थान का अक्षाश सहज ही जाना जा सकता है। हमारे देश में इसीलिए अक्षांश अंशों में प्रकट करने की जगह पलभा की नाप में जो अंगुलों में ली जाती है, प्रकट करने की परिपाटी है। ख क ग कोण को ख स्थान का अक्षांश कहते है, इसीलिए,

अक्षांश की स्पर्शरेखा - $\frac{\text{खग}}{\text{खक}} = \frac{\text{पलभा}}{\text{शंकु}} = \frac{\text{पलभा}}{१२}$

इससे स्पष्ट है कि पलभा के ज्ञान से अक्षांश का मान कैसे जाना जा सकता है।

एवं विषुवति छाया स्वदेशे या दिनार्धजा।
दक्षिणोत्तरयोरेव सा तत्र विषुवत्प्रभा।।

अर्थात् सूर्य जिस दिन विषुवत् वृत्त पर हो उस दिन मध्याह्नकाल में जिस स्थान की उत्तर दक्षिण रेखा पर १२ अंगुल शंकु की जितनी लम्बी छाया पड़े उस स्थान की विषुवत्प्रभा या पलभा होती है।

इसके द्वारा जो पलभा का मान आता है वह स्थूल होता है। क्योंकि सायन मेष या सायन तुला संक्रान्ति के दिन, जिस दिन मध्याह्न काल मे शंकु की छाया नाप कर पलभा ज्ञात की जाती है, मध्याह्न काल में सूर्य ठीक विषुवत् वृत्त पर नहीं होता, वरन् कुछ आगे या पीछे रहता है। मध्याह्न काल में ठीक विषुवत् वृत्त पर सूर्य के आने का संयोग कई वर्ष बाद आता है। इस दिन सूर्य की क्रान्ति प्रत्येक घण्टे में प्राय: एक कला के अनुसार से बदलती है। इसलिए सायन मेष या तुला संक्रान्ति शुद्ध काल गणना से जानकर सूर्य की मध्याह्न काल की क्रान्ति जान लेनी चाहिए और इसका संस्कार कर लेने के बाद शुद्ध पलभा ज्ञात करनी चाहिए।

अक्षांश जानने की रीति –

शंकुच्छायाहते त्रिज्ये विषुवत्कर्णभाजिते।
लम्बाक्षज्ये तयोश्चापे लम्बाक्षौ दक्षिणौ सदा।।

अर्थात् शंकु और उसकी छाया अर्थात् पलभा को अलग-अलग त्रिज्या ३४३८ से गुणा करके

प्रत्येक गुणनफल को विषुवत्कर्ण से भाग दे देने पर क्रम से लम्बज्या और अक्षज्या आयेगी जिनके धनु क्रम से लम्बांश और अक्षांश होंगे।

$$\text{लम्बज्या} = \frac{\text{शंकु} \times \text{त्रिज्या}}{\text{विषुवत्कर्ण}}$$

$$\text{अक्षज्या} = \frac{\text{पलभा} \times \text{त्रिज्या}}{\text{विषुवत्कर्ण}}$$

सायन मेष या तुला संक्रान्ति के दिन मध्याह्न काल में १२ अंगुल शंकु का जो छायाकर्ण होता है, वही विषुवत्कर्ण, पलकर्ण या अक्षकर्ण कहलाता है। इसीलिए उपर के क्षेत्र में क ग विषुवत्कर्ण है। अत:

$$\text{विषुवत्कर्ण} = \sqrt{\text{पलभा}^2 + \text{शंकु}^2}$$

शंकु और विषुवत्कर्ण के बीच का अन्तर अक्षांश के समान क्यों?

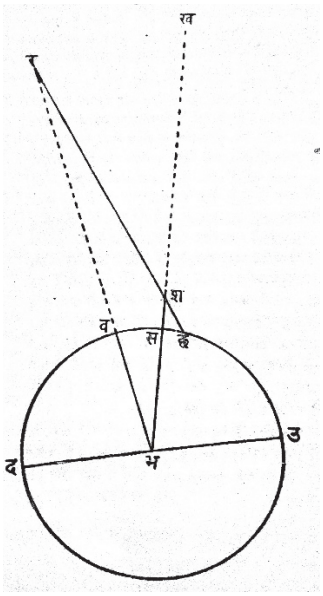

रेखा गणित के नियम से - < स श छ = < र श ख

= < श र भ + < र भ श

उ स व द = भूतल की उत्तर दक्षिण रेखा

उ = उत्तरी ध्रुव

द = दक्षिणी ध्रुव

स = वह स्थान जहाँ श स शंकु गड़ा है।

च = विषुवत्रेखा का बिन्दु

ख = स स्थान का खस्वस्तिक

र = विषुवद्वृत्त पर रवि का स्थान

स छ = पलभा

श छ = विषुवत्कर्ण

भ = पृथ्वी का केन्द्र

परन्तु भूकेद्र से सूर्य का अन्तर भ र प्राय: ९ करोड़ २९ लाख मील है और पृथ्वी का अर्द्धव्यास भ स अथवा भ श (क्योंकि स श १२ अंगुल) ४००० मील है। इसलिए श र भ इतना छोटा कण है कि यह शून्य माना जा सकता है।

$$< \text{स श छ} = < \text{र भ श}$$
$$= < \text{व भ स}$$
$$= \text{अक्षांश}$$

अर्थात् शंकु और विषुवत्कर्ण के बीच का कोण अक्षांश के समान होता है। इसलिए पलभा और विषुवत्कर्ण के बीच का कोण जो पहले का पूरक कोण होता है। लम्बांश के समान हुआ।

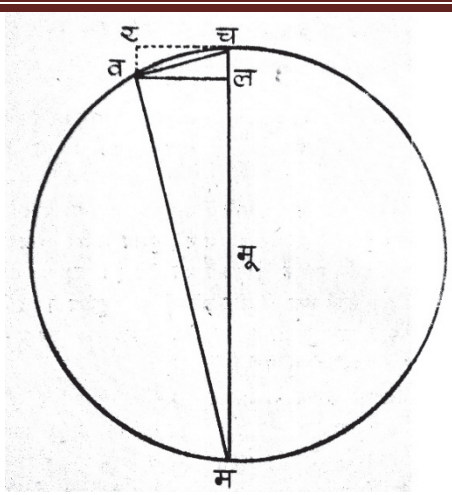

अक्षांश से पलभा ज्ञात करना –

तज्ज्याक्षज्याऽथ तद्वर्गं प्रोज्झय त्रिज्याकृते: पदम्।
लम्बज्याऽक्षगुणोऽर्कघ्न: पलभाप्तोऽवलम्बक:।।

किसी दिन के मध्याह्न काल के सूर्य की क्रान्ति और नतांश से अक्षांश जानकर पलभा की गणना की जा सकती है।

$$\sqrt{\text{त्रिज्या}^2 - \text{अक्षज्या}^2} = \text{लम्बज्या}$$

और $\frac{\text{अक्षज्या} \times १२}{\text{लम्बज्या}} = \text{पलभा}$

सूर्यसिद्धान्त की रीति अनुसार अक्षांश से पलभा ज्ञात करना –

उदाहरण –

प्रयागराज का अक्षांश २५°।२५ है तो प्रयाग की पलभा क्या होगी?

अक्षज्या = २५°।२५ की ज्या = १४७४

इसलिए - लम्बज्या = $\sqrt{\text{त्रिज्या}^2 - \text{अक्षज्या}^2}$

$= \sqrt{३४३८^2 - १४७४^2}$

$= \sqrt{(३४३८ + १४७४)\ (३४३८ - १४७४)}$

$= \sqrt{४९१२ \times १९६४}$

= ३१०६

पलभा = $\frac{\text{अक्षज्या} \times १२}{\text{लम्बज्या}}$

= $\frac{१४७४ \times १२}{३१०६}$

= ५.६९ अंगुल पलभा मान हुआ।

यही नवीन रीति से –

पलभा = १२ × अक्षांश स्पर्शरेखा

= १२ × स्परे २५।२५

= १२ × ०.४७५२ अंगुल

= ५.७०२४ अंगुल

= ५.७ अंगुल।

सायन स्पष्ट सूर्य जिस दिन के जिस समय में ०।०।०।० होता है उस समय वह सूर्य विषुवत् और क्रान्ति वृत्त के चल सम्पात मेषादिक बिन्दु पर होता है। उस दिन के ठीक मध्याह्न समय में जल की तरह समान भूमि धरातल में जिस देश, नगर या ग्राम में १२ अंगुल माप की जो अंगुलात्मक आया होती है उसका नाम पलभा या अक्षभा या अक्षच्छाया होता है। खगोल विद्या के गणितज्ञों द्वारा यह एक अनूठा अनुसन्धान किया गया। इस अंगुलात्मक छाया को तीन जगह रखकर उसे क्रमश: १०,८,१०/३ से गुणा करने से क्रमश: मेषादिक तीन राशियों एवं व्युत्क्रम से कर्कादिक तीन राशियों का चरखण्ड होता है।

उदाहरण – अल्मोड़ा का पलभा मान – ६।४७ है।

अत: -

६।४७	६।४७	६।४७
×१०	× ८	× १०
६०।४७०÷६०	४८।३७६÷६०	६०।४७०÷६०
७	६	७
६७।५०	५४।१६	६७।५० = २२।३६
		३

६८, ५४, २३ ये तीन अल्मोड़ा का **चरखण्ड** मान हुआ। गोलीय रीति के अनुसार चरखण्ड सदैव अहोरात्रवृत्त में होता है। जैसा कि आचार्य भास्कर सिद्धान्तशिरोमणि में कहा है -

उन्मण्डलक्ष्मावलयान्तराले द्युरात्रवृत्ते चरखण्डकालः।
तज्ज्यात्र कुज्या चरशिंजनीस्याद् व्यासार्द्धवृत्ते परिणामिता स्यात्।।

गोल परिभाषा के अनुसार पलभा -

सायनाजतुलादिस्थे सूर्ये छाया दिनार्धजा।
द्वादशांगुलशंकारोया सा तत्र पलभा स्मृता।।

जिस दिन सायन सूर्य मेषादि (क्रान्तिवृत्त और नाड़ीवृत्त के सम्पात्) में प्रवेश करता है, उस दिन के मध्याह्नकालिक द्वादशांगुल शंकु की छाया स्व-स्व स्थान में पलभा होती है।

चर साधन –

स्यात् सायनोष्णांशुभुजर्क्षसंख्य।
चरार्धयोगो लवभोग्यघातात्।।
खाग्न्याप्नियुक्तस्तु चरं धनर्णं।
तुलाजषट्के तपनेऽन्यथास्ते।।

सायन सूर्य के भुजा की राशि तुल्य संख्यक चरखण्डों के योग में चरखण्ड का जो भोग्य खण्ड है उससे गुणित शेषांश में ३० से भाग देकर लब्ध फल को उक्त चरखण्डों के योग से जोड़ने से अभीष्ट समय में चर हो जाता है। तुलादि और मेषादि ६ राशियों में स्थित सूर्य में उदयकाल में चर को क्रमशः धन और ऋण करना चाहिए किन्तु सायंकाल में इसके विपरीत अर्थात् तुलादि और मेषादि के सूर्य में चर को क्रमशः ऋण और धन करना चाहिए।

यदि स्वस्थान के अतिरिक्त किसी दूर के स्थान की पलभा निकालने की आवश्यकता पड़ जाये तो उस निमित्त उसी स्थान पर जाना और इष्ट समय अर्थात् 21 मार्च तक समय की प्रतीक्षा करना, बहुत ही असुविधा जनक है। इस कारण अक्षांश पर से पलभा निकालने की रीति भी जान लेनी चाहिये जिसके आधार पर किसी भी देश या स्थान की पलभा निकाली जा सकती है।

किसी स्थान के अक्षांश जानने की आवश्यकता हो तो प्रारम्भिक ज्ञान खण्ड में बताई रीति से ध्रुवतारा की उँचाई नाप कर अपनें स्थान का अक्षांश जान सकते है या किसी विद्यालय क या सरकारी नक्शों को देखने पर जहॉ इष्ट स्थान दिया हो। प्रायः सभी नक्शों में अक्षांश और देशान्तर दिया रहता है उसको देखकर इष्ट स्थान के अक्षांश की खोज करना चाहिये।

विषुवत् संक्रान्ति के दिन मध्यान्ह काल में सूर्य ठीक विषुवद् वृत्त पर नहीं रहता अपितु थोड़ा इधर उधर रहता है। सूर्य उस समय बिल्कुल विषुवद् वृत्त पर ही हो, ऐसा अवसर कई वर्षों के बाद ही आता है। लेकिन प्राचीन काल से ही इसी पलभा द्वारा लग्न साधनार्थ चरखण्ड बनाये जाते रहे है। इसी कारण इस पद्धति द्वारा साधित लग्न में भी स्थूलता बनी ही रहती है। इसी पलभा का नाम अक्षभा या विषुवदभा भी है। वह 0 अक्षांश पर शून्य रहती है। तथा उत्तर दक्षिण की ओर हटने पर इसका मान बढ़ने लगता है। अत: जहॉ का अक्षांश ज्ञात हो, वहॉ की पलभा अक्षांशों द्वारा सहज ही जानी जा सकती है। अथवा पलभा ज्ञात हो तो उससे स्थानीय अक्षांश भी ज्ञात हो जाता है।

अक्षांश द्वारा पलभा साधन का अन्य उदाहरण –

1. अक्षांशों को 10 से गुणाकर, गुणनफल को 625 में से घटा लें।
2. शेष का वर्गमूल लेकर उसे 25 में से घटाने पर पलभा होती है।

उदाहरणार्थ -

दिल्ली का अक्षांश $28.39 \times 10 = 286.30$

$625 - 286.30 = 338.30$ का वर्गमूल लेना होगा।

सावयव अंको का वर्गमूल निकालने के लिये यह विधि अपनायें।

1. $\sqrt{}$ 338 = 18, शेष 14 बचे।
2. शेष में 1 जोड़कर 60 से गुणा किया तो $15 \times 60 = 900$ हुआ।
3. 900 + 30 (पूर्व शेष) = 930 में पहले के मूल 18 को दुगुना कर व उसमें 2 जोड़कर $18 \times 2 = 36 + 2 = 38$ से 930 में भाग दिया
4. $930 \div 38 = 24$ लब्धि हुई। अत: सूक्ष्म वर्गमूल 18.24 रहा। इसे 25 में से घटाने पर 25-18.24 = 6.36 दिल्ली की पलभा है।

पंचांगों में दिल्ली की पलभा 6.32 या 6.33 भी दी होती है। अंगुलों में भेद अपरिहार्य है।

पलभा द्वारा अक्षांश ज्ञान – अंगुलादि पलभा को पॉच से गुणा करें। तदुपरान्त पलभा के वर्ग को 10 से भाग देकर लब्धि को पंचगुणित पलभा में से घटा दें तो अक्षांश होंगे। यह एक स्थूल प्रकार है। शुद्ध सूक्ष्म प्रकार के लिये बहुत सी क्रियायें है।

दिल्ली पलभा $6.36 \times 5 = 33.00$ है। $(6.36)^2 = 43.33$

43.33 ÷ 10 = 4.21 को घटाया। 33.00 – 4.21 = 28.39 दिल्ली का अक्षांश हुआ। यदि 28^0 38 उत्तरी अक्षांश से क्रिया करें तो पलभा 6.35 सिद्ध होती है।

३.४ पलभा से चरखण्ड साधन

भारतवर्ष के प्रमुख स्थलों के पलभादि का मान ज्ञात कर आचार्यों द्वारा लिख दिए गए है। उस आधार पर हम काशी के पलभा मान से यहाँ चरखण्ड साधन करते हैं -

काशी की पलभा – 5।45 है, तो वहाँ का चरखण्ड साधन –

5।45	5।45	5।45
× 10	× 8	× 10
50।450÷60	40।360÷60	50।450÷60
+7	+6	+ 7
57	46	57 ÷ 3 = 19

इस प्रकार 57, 46, एवं 19 ये काशी के तीन चरखण्ड हुये।

पलभा चक्र सारिणी

अक्षांश	पलभा			अक्षांश	पलभा			अ.	पलभा			अ.	पलभा		
	अ	व्या	तत्		अ	व्या	तत्		अ	व्या	तत्		अ	व्या	तत्
1	0	12	34	16	3	26	24	31	7	12	36	46	12	25	37
2	0	25	9	17	3	40	5	32	7	29	53	47	12	52	5
3	0	37	44	18	3	53	56	33	7	47	31	48	13	19	34
4	0	50	21	19	4	7	55	34	7	5	38	49	13	48	18
5	1	3	0	20	4	20	0	35	7	24	7	50	14	18	3
6	1	15	40	21	4	26	22	36	8	43	5	51	14	49	8
7	1	28	23	22	4	50	52	37	9	2	25	52	15	21	32
8	1	41	10	23	5	5	83	38	9	20	30	53	15	55	30
9	1	54	0	24	5	20	31	39	9	43	1	54	16	31	6
10	2	6	54	25	5	35	42	40	10	4	9	55	17	8	34
11	2	19	55	26	5	51	7	41	10	25	50				
12	2	33	0	27	6	6	0	42	10	40	18				
13	2	46	12	28	6	22	48	43	11	11	24				
14	2	59	28	29	6	39	4	44	11	35	24				

15	3	12	54	30	6	55	41	45	12	0	0				

अक्षांश से पलभा निकालना –

एक त्रिज्या का मान– 3438। इस प्रकार इष्ट अक्षांश की ज्या Sine। ज्या लॉग सारिणी के सहारे निकाली जाती है। फिर तो अक्षांश की ज्या होगी वह अक्षज्या होगी।

कोटिज्या – लम्बज्या = त्रिज्या^{2} **- अक्षज्या^{2}।**

पलभा और चरखण्ड साधन की रीति –

जिस दिन अयनांशसहित सूर्य - राशि अंश कला विकला से शून्य हो या उस दिन मध्याह्नके समय समान भूमि पर बारह अंगुलका शंकु रखे जो छाया पड़े उसको **पलभा** कहते हैं। इस पलभा को तीन स्थान में लिखकर क्रमसे १०।८।१० से गुणा करे, अन्त के तीसरे गुणनफल में ३ तीन का भाग देने से क्रम से तीन चरखण्ड होते हैं।

उदाहरण – काशी की पलभा ५ अंगुल ४५ प्रतिअंगुल है इसको पहले १० से गुणा करा तब ५७ अंगुल ३० प्रतिअंगुल यह प्रथम चरखण्ड हुआ। फिर पलभा ५ अंगुल ४५ प्रति अंगुल को ८ से गुणा करा तब ४६ अंगुल . प्रति अंगुल यह द्वितीय चरखण्ड हुआ। पलभा ५ अंगुल ४५ प्रति अंगुलको १० दशसे गुणा करा तब ५७ अंगुल ३० प्रति अंगुल हुआ। इसमें ३ का भाग दिया तब १९ अंगुल १० प्रति अंगुल तीसरा चरखण्ड हुआ। इस प्रकार प्रथम चरखण्ड ५७ अ ., ३० प्र . हुआ , दूसरा चरणखण्ड ४६ अं . हुआ , तीसरा चरखण्ड १९ अं ., १० प्र . हुआ।

चर, चर संस्कार एवं भुज संस्कार -

सायनरवि की पूर्वोक्त केन्द्र से भुज लाने की रीति के अनुसार भुज लावे , वह भुज यदि राशि शून्य होय तब अंशो को छोडकर केवल अंशादि मात्रा को प्रथम चरणखण्ड से गुणा करे और यदि भुज में एक राशि होय तो राशि को छोडकर अंशादि को द्वितीय चरणखण्ड से गुणा करे और यदि भुज में दो राशि हों तो राशि को छोडकर केवल अंशादि मात्रा को तृतीय चरणखण्ड से गुणा करे जो गुणन फल हो उसमें ३० तीसका भाग देय जो लब्धि मिले उसमें जिस चरणखण्ड से गुणा करा हो उससे पहला चरण खण्ड जोड दें, तब चर होता है। वह सायन मेषादि छःराशिके भीतर होय तो ऋण होता है और छः राशिसे अधिक तुलादिसे कम छः राशि होय तो धन होता है। यदि सायंकालीन ग्रह करना होय तो चरको विपरीत ग्रहण करे अर्थात् सायन रवि मेषादि छः राशियों के भीतर होय तो धन

और तुलादि छः राशि के भीतर होय तो ऋण जाने।

वह चर यदि धन होय तो मन्दस्पष्ट रवि की विकलाओं में युक्त कर दे और ऋण होय तो घटा देय तब स्पष्ट रवि होता है। चरको २ से गुणा करकें नौका भाग देय जो लब्धि होय उसका चरके समान धन ऋण समभ्क्ते और मन्द स्पष्ट रविकी कलाओं में युक्त करदेय (इसको चर संस्कार और द्वितीयफलसंस्कार कहते हैं।

रवि के मन्द फल में उसका भाग देकर जो लब्धि हो उसको भी चर के समान धन ऋण मानें और मन्दस्पष्ट रवि के अंशो में युक्त कर दे (इसको मन्दफलसंस्कार और तृतीयफलसंस्कार भी कहते हैं। इन दोनों रीतियों का चन्द्र स्पष्ट करने में काम पडता है)।

उदाहरण -- शाके ५३३४ में ४४४ घटाये तब शेष रहे १०९० यह कला हैं, इनमें ६० का भाग दिया तो लब्धि हुई १८ अं . १० कला यह अयनांश है , इसको मन्दस्पष्ट रवि १ रा . ५ अं . ४४ कला १० वि. में युक्त किया तब १ रा . २३ अं . ५४ क . १० वि . यह सायन रवि हुआ। यह सायन रवि तीन राशिके भीतर है इस कारण यह भुज है। अब इस १ रा . २३ अं . ५४ क . १० वि . भुजमें एकराशि है इस कारण अंशादिको (२३ अं . ५४क . १०वि .) को द्वितीय चरखण्ड ४६ से गुणा करा तब गुणनफल १०९९ अं . ३१ क . ४० वि . हुआ इसमें ३० का भाग दिया तब लब्धि हुई ३६ विकला ३९ प्रतिविकला , प्रथम चरखण्ड से गुणा किया था इस कारण द्वितीय चरखण्ड ५७ को लब्धि ३६ वि . ३९ प्रतिविकला में युक्त किया तब ९३ विकला ३९ प्रति विकला यह चर हुआ ऋण है क्योंकि सायन रवि मेषादि छः के भीतर है। इस कारण मन्द स्पष्टरवि १ राशि ५ अंश ४४ कला १० विकलामें चर ९३ वि . अर्थात् १ क . ३३ विकलाको घटाया तब शेष रहा १ रा . ५ अं ४२ क . ३७ वि . यह स्पष्ट रवि हुआ।

दिनमान रात्रिमान और अक्षांश लाने की रीति -

यदि सायन रवि मेषादि छः राशिके अन्तर्गत हो तो उसको उत्तर गोलीय कहते हैं और यदि सायनरवि तुलादि छः राशिके अन्तर्गत हो तो उसको दक्षिणगोलीय कहते हैं। इसी प्रकार यदि सायन रवि मकरादि छः राशिके अन्तर्गत हो उसको उत्तरायण कहते हैं और यदि कर्कादि छः राशि के भीतर हो तो दक्षिणायन कहते हैं , पीछे लाये हुए पलात्मक चर का यदि सायन रवि उत्तरगोलीय हो तो १५ पन्द्रह घडी में युक्त करे और सायनरवि दक्षिणगोलीय हो तो पलात्मक चर १५ पन्द्रह घडी में घटा दे जो शेष रहे वही दिनार्द्ध होता है। उस दिनार्द्धको ३० घड़ी में घटा दे तब जो शेष रहे सो रात्र्यर्द्ध होता है। तदनन्तर दिनार्द्धको द्विगुणित करने से दिनमान होता है और रात्र्यर्द्ध को द्विगुणित करने से रात्रिमान

होता है और दिनमान तथा रत्रिमान को जोड़ने से अहोरात्र मान होता है। पलभा को पांच से गुणा करके जो गुणफल मिले उसको अंशात्मक माने उसमें पलभा के वर्ग का दशवां भाग अंशात्मक घटा दे जो शेष रहे वह अक्षांश होता है। अक्षांश सर्वदा दक्षिण होता है , क्योंकि हिन्दु स्थान के

दक्षिण (विषुववृत्त रेखा) है।

उदाहरण ---पलात्मक चर ९३ यह सायनरवि उत्तरगोलीय है क्योंकि मेषादि छः राशिके अन्तर्गत है इस कारण चर ९३ को १५ घड़ीमें युक्त किया तब १६ घड़ी ३३ पल यह दिनार्द्ध हुआ। इस दिनार्द्ध १६ घ . ३३प . को ३० घड़ीमें घटाया तब शेष रहा १३ घ . ४७ पल रात्र्यर्द्ध हुआ। दिनार्द्ध १६ व . ३३ पलको द्विगुणित किया तब ३३घ . ६ पल यह दिनमान हुआ रात्र्यर्द्ध १३ घ . २७ को द्विगुणित किया तब २६ घड़ी ५४ पल यह रात्रिमान हुआ। दिनमान और रात्रिमानको जोडा तब ६० घड़ी अहोरात्रिमान हुआ।

पलभा ५ अंगुल ४५ प्रतिअंगुलको ५ से गुणा करा तब २८ अं . ४५ कला हुआ। तब पलभा ५।४५ का वर्ग किया तो ३३।३ हुआ इसमें दश का भाग दिया तब ३ अं . १८ क . १८ वि . लब्धि हुए इनको पांचसे गुणा करी हुई पलभा २८ अं . ४५ क . में युक्त करा तब २५ अं . २६ क . ४२ वि . यह काशी का दक्षिण अक्षांश हुआ।

बोध प्रश्न

1. सायन सूर्य नाड़ी –क्रान्ति के सम्पात् बिन्दु पर किस तिथि को होता है।
   क. २१ मार्च ख. २२ मार्च ग. २१ सितम्बर घ. २१ नवम्बर
2. पलभा का मान होता है –
   क. १४ अंगुल ख.१५ अंगुल ग. २० अंगुल घ. १२ अंगुल
3. निम्न में पलभा का पर्याय है-
   क. विषुवत्भा ख. अक्षभा ग. कोटिभा घ. कोई नहीं
4. पलभा का साधन किससे किया जाता है।
   क. क्रान्ति से ख. अक्षांश से ग. लम्बांश से घ. विषुवांश
5. काशी की पलभा का मान कितना है।
   क. ६।४५ ख.५।४५ ग.८।४५ घ.१०।४५
6. निम्न में अल्मोड़ा का पलभा मान है -
   क. ६।४७ ख.८।७४ ग.७।४७ घ.६।४२

7. गोलीयरीति के अनुसार चरखण्ड कहाँ होता है।

क. अहोरात्र वृत्त में ख. क्रान्ति वृत्त में ग. लम्बांश में घ. नाड़ी में

३.५ सारांश

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आपने जान लिया है कि पलभा का शाब्दिक अर्थ है – १२ अंगुल की शंकु छाया। गणित ज्योतिष में इस द्वादशांगुल पलभा का महत्वपूर्ण योगदान है। अयनांश साधन के पश्चात् आप सभी को पलभा का ज्ञान होना परम आवश्यक है। अक्षांश के अनुरूप भिन्न-भिन्न स्थानों की अलग-अलग पलभा होती है। इसीलिए अक्षांश से भी पलभा का साधन करने का विधान है। ज्योतिष शास्त्र में स्थूल और सूक्ष्म दोनों विधियों से पलभा साधन की परम्परा रही है। जिस दिन सायन सूर्य, राशि- अंश- कला- विकला से शून्य हो अर्थात् जब सूर्य ठीक सम्पात बिन्दु पर हो, (यह समय २१ मार्च और २३ सितम्बर को होता है) जब दिन-रात बराबर होता है उस दिन मध्याह्न (दोपहर) के समय में १२ अंगुल की एक शंकु सम भूमि में किसी खुले स्थान में स्थापित करें। ठीक मध्याह्न के समय उस शंकु की जितनी छाया पड़े, उसे अंगुल व्यांगुल में नाप लेना चाहिये। यही नाप उस स्थान की पलभा होगी। पलभा को तीन स्थानों में रखकर क्रमश: १०,८,१० से गुणा कर तीसरे स्थान में गुणित संख्या में ३ का भाग देना चाहिए। इस प्रकार संस्कार करने से चरखण्ड का साधन हो जाता है। चरखण्ड सदैव अहोरात्रवृत्त में होता है।

३.६ पारिभाषिक शब्दावली

पलभा – सायन सूर्य जिस दिन सम्पात् बिन्दु पर हो, उस दिन मध्याह्नकालिक १२ अंगुल शंकु को सम भूमि पर स्थापित करने से उससे उत्पन्न छाया को पलभा कहते है। इसका मान अंगुलादि में होता है।

विषुवत्भा - पलभा का पर्याय।

गणित – गण्यते संख्यायते तद् गणितम्।

शंकु – १२ अंगुलात्मक यन्त्र

सिद्धान्त – सिद्ध: अन्ते यस्य स सिद्धान्त:।

चरखण्ड – पलभा से चरखण्ड का साधन किया जाता है। यह अहोरात्रवृत्त में होता है।

त्रिगुणित – ३ संख्या से गुणित

३.७ बोध प्रश्न के उत्तर

1. क
2. घ
3. क
4. ख
5. ख
6. क
7. क

३.८ सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. सिद्धान्तिशिरोमणि – मूल लेखक – भास्कराचार्य:, टिका – पं. सत्यदेव शर्मा
2. सूर्यसिद्धान्त – आर्ष ग्रंथ:, टिका – कपिलेश्वर शास्त्री/ प्रोफे. रामचन्द्र पाण्डेय
3. करणकुतूहल – मूल लेखक – भास्कराचार्य।
4. ग्रहलाघव – मूल लेखक – गणेश दैवज्ञ, टिका – प्रोफे. रामचन्द्र पाण्डेय
5. केतकीग्रहगणितम् – मूल लेखक – आचार्य वेंकट।

३.९ सहायक पाठ्यसामग्री

1. भारतीय कुण्डली विज्ञान
2. गोल परिभाषा
3. केशवीय जातक पद्धति

३.१० निबन्धात्मक प्रश्न

1. पलभा किसे कहते है। स्पष्ट कीजिये।
2. सोदाहरण पलभा साधन कीजिये।
3. चरखण्ड से क्या तात्पर्य है। काशी की पलभा ५।४५ से चरखण्ड का साधन कीजिये।
4. अल्मोड़ा का पलभा मान बताते हुए चरखण्ड साधन कीजिये।
5. पलभा एवं चरखण्ड पर टिप्पणी लिखिये।
6. क्षेत्र प्रदर्शित करते हुए पलभा साधन कीजिये।
7. स्वकल्पित अक्षांश से पलभा साधन कीजिये।

इकाई - ४ लग्नानयन

इकाई की संरचना

४.१ प्रस्तावना

४.२ उद्देश्य

४.३ लग्न परिचय

४.४ लग्न साधन

४.५ सारांश

४.६ पारिभाषिक शब्दावली

४.७ बोध प्रश्नों के उत्तर

४.८ सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

४.९ सहायक पाठ्यसामग्री

४.१० निबन्धात्मक प्रश्न

४.१ प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई एमएजेवाई- 203 के प्रथम खण्ड की चतुर्थ इकाई से सम्बन्धित है।इस इकाई का शीर्षक है – लग्नानयन। इसके पूर्व की इकाई में आपने दिक् साधन, अयनांश, पलभा एवं चरखाण्डादि का अध्ययन कर लिया है। अब आप यहाँ लग्नानयन का अध्ययन करने जा रहे है।

भास्कराचार्य के अनुसार जातक शास्त्र लग्नबलाश्रित है और लग्न ग्रहाश्रित है। अत: लग्न का महत्व जातक शास्त्र के लिए सर्वोपरि है। लग्न शुद्ध होगा, तभी फलादेशादि कर्तव्यादि भी शुद्ध होगा। अत: इसका ज्ञान परमावश्यक है।

इसलिए आइए इस इकाई में आप सभी के लिए लग्न से सम्बन्धित गणितीय- सैद्धान्तिक एवं फलित पक्ष का विश्लेषण करते हैं।

४.२ उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप जान लेंगे कि –

- लग्न किसे कहते है।
- लग्न का साधन कैसे किया जाता है।
- लग्न के कितने प्रकार है।
- लग्न का महत्व क्या है।
- जातक शास्त्रों में लग्न की क्या भूमिका है।

४.३ लग्न परिचय

आप सभी जानते है कि ज्योतिष शास्त्र के प्रमुख तीन स्कन्ध है – सिद्धान्त, संहिता और होरा या फलित। जिस प्रकार सिद्धान्त ज्योतिष का मूल है- ग्रहगणित, उसी प्रकार फलित, जातक अथवा होरा ज्योतिष का मूलाधार है- लग्न। अथवा इस प्रकार भी कह सकते है कि सम्पूर्ण ज्योतिष शास्त्र का फलित पक्ष लग्नाश्रित है, तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। इस बात का समर्थन स्वयं भास्कराचार्य जी ने स्वग्रन्थ सिद्धान्तशिरोमणि में भी किया है – '**नूनं लग्नबलाश्रितं पुनरयं**

तत्स्पष्टखेटाश्रयम्''...0 इत्यादि श्लोक के माध्यम से। अतएव लग्न का महत्व ज्योतिष शास्त्र में अद्वितीय है। प्राचीन रीति के अनुसार लग्न साधन के मुख्यत: दो प्रकार है- १. भुक्त २. भोग्य। आधुनिक समय में साम्पातिक एवं लाँगथेरियम विधि से भी लग्न का साधन करते है, जिसे एफेमेरिज में लिखा जाता है।

अब प्रश्न उठता है कि लग्न क्या है? लग्न किसे कहते है? आइए इस पर विचार करते है। सूर्योदय के समय सूर्य जिस राशि में हो वही राशि लग्न होगी, यह निश्चित है। लग्न शब्द से ही प्रतीत होता है कि एक वस्तु का दूसरे वस्तु में लगना। इसीलिए कहा गया है कि **- लगतीति लग्नम्**। वस्तुत: लग्न में यहीं होता है क्योंकि इष्टकाल में क्रान्तिवृत्त का जो स्थान उदयक्षितिज में जहॉ लगता है , वही राश्यादि (राशि, अंश, कला , विकला) **लग्न** होता है। जैसा कि गोलपरिभाषा में कहा है –

भवृत्तं प्राक्कुजे यत्र लग्नं लग्नं तदुच्यते।
पश्चात् कुजेऽस्त लग्नं स्यात् तुर्यं याम्योत्तरे त्वध:।।
उर्ध्वं याम्योत्तरे यत्र लग्नं तद्दशमाभिधम्।
राश्याद्य जातकादौ तद् गृह्यते व्ययनांशकम्।।

अर्थात् क्रान्तिवृत्त उदयक्षितिज वृत्त में पूर्व दिशा में जहॉ स्पर्श करता है, उसे लग्न कहते है। पश्चिम दिशा में जहॉ स्पर्श करता है,उसे सप्तम लग्न तथा अध: दिशा में चतुर्थ लग्न और उर्ध्व दिशा में दशम लग्न होता है। लग्न की यह परिभाषा सैद्धान्तिक गोलीय रीति से कहा गया है। पंचांग में भी दैनिक लग्न सारिणी दिया होता है । उसमें एक लग्न 2 घण्टे का होता है। इस प्रकार से 24 घण्टे में कुल 12 लग्न होता है। यह लग्न पंचांग में मुहूर्त्तो के लिये दिया गया होता है। किस लग्न में कौन सा कार्य शुभ होता है तथा कौन अशुभ, इसका विवेचन पंचागोक्त लग्न के अनुसार ही किया जाता है।

४.४ लग्न साधन

लग्न साधन के लिए सैद्धान्तिक अथवा गणितीय प्रकार के लिये कहा गया है –

तत्काले सायनाऽर्कस्य भुक्तभोग्यांश संगुणात्।
स्वोदयात्खाग्नि लब्धं यद् भुक्तं भोग्यं रवेस्त्यजेत्।।
इष्टनाड़ी पलेभ्यश्च गतगम्यान्निजोदयान्।
शेषं खत्र्या हतं भक्तमशुद्धेन लवादिकम्।।

अशुद्धशुद्धभे हीन युक्तनुर्व्ययनांशकम्।

अर्थात् तात्कालिक स्पष्टसूर्य में अयनांश जोड़ने से सायन सूर्य होता है। सायन सूर्य के भुक्त या भोग्यांशों को सायन सूर्य की राशि के स्वोदय मान से गुणा करें। तब गुणनफल में 30 का भाग देने से लब्धि भोग्य या भुक्त काल होती है । इस भोग्य भुक्त काल को इष्टकाल के पलों में से घटाकर जो शेष रहे उसमें से आगे की राशियों के भुक्त प्रकार प्रकार में पिछली राशियों के स्वोदय मान को घटाते जाएँ। जब न घटे तो शेष को 30 से गुणाकर अशुद्ध राशिमान से भाग देने से लब्धि अंश कलादि होती है। उस अंश कला के पहले अशुद्ध राशि में से एक घटाकर रखने से **'सायन लग्न'** व उसमें से अयनांश घटाने पर '**निरयण लग्न**' होता है। उदाहरणार्थ -

लग्नानयनम् -

माना कि **सूर्यस्पष्ट** – 4।27^0।50।0 राश्यादि है , **अयनांश** - 23^0।45।35 है, पूर्व अध्याय के अनुसार पलभा एवं चरखण्ड का ग्रहण कर लेते है, इष्टकाल 8।20 घटयादि है तो लग्नानयन श्लोकानुसार इस प्रकार से होगा –

स्पष्ट सूर्य - 4।27^0।50।0

अयनांश - + 23^0।45।35

5 । 21^0। 35 ।35 - **सायन सूर्य**

30^0। 00 ।00

- 21^0 । 35 ।35 सायन सूर्य को घटाने पर

8^0 । 24 । 25 भोग्यांश

लग्न साधन भुक्त या भोग्य प्रकार से किया जा सकता है, यहॉ भोग्य रीति से किया जा रहा है।

सायन सूर्य कन्या राशि का है अत: कन्या राशि के उदय मान 345 से भोग्यांश को गुणा किया । गुणनफल 2898 । 11 । 25 आया । इसमे 30 का भाग देने पर 96।36।22 पलात्मक मान आया जो भोग्यकाल है।

हमारा इष्टकाल 8।20 घटयादि है तथा उसका पलात्मक मान $8 \times 60 + 20 = 500$ पल हुआ ।

अब इष्ट पलों में से भोग्य को घटाया –

500 । 00 । 00

- 96 । 36 । 22

403 । 23 । 38 पल मिले ।

इन पलों में से जहॉ तक का पलात्मक मान घट सके, घटाने पर –

403 । 23 । 38

\- 345 । 00 ।00 तुला राशि का मान - तुला शुद्धराशि

58 । 23 । 38

अशुद्ध राशि वृश्चिक हुई, (नहीं घटने के कारण)।

शेष पलों को 30 से गुणा किया –

58।23।38

× 30

1740। 690 । 1140

इसमें अशुद्ध राशि वृश्चिक के उदय मान 352 से भाग दिया , भाग देने पर 4 अंश 56 कला 36 विकला आया, अत: 7 । 4^0 । 56 । 36 सायन लग्न है।

इनमें से पूर्व युक्त अयनांश घटाने से निरयण लग्न होगा अत: -

7 । 4^0 । 56 । 36

\- 23^0 । 45 । 35 - अयनांश

6 । 11^0 । 11 । 01 निरयण लग्न स्पष्ट।

इसी लग्न स्पष्ट के आधार पर हम जन्मांग चक्र का भी निर्माण करते है। जन्मांग चक्र में जातक का जिस समय में जन्म हुआ होता है, उस समय को हम पंचांग में दैनिक लग्न सारिणी में देख लेते है। पश्चात् उस लग्न को जन्मांग चक्र में लिखकर तात्कालिक प्रश्न कुण्डली का निर्माण कर लेते है। किन्तु जन्मांग चक्र में गणितीय रीति से लग्नस्पष्ट का साधन कर जन्मांग चक्र में लग्न को लिखते है।

साम्पातिक काल से लग्न साधन

साम्पातिक काल –

साम्पातिक काल से लग्नादि साधन करने की पद्धति विशेष सरल होती है। इसमें गणित का विशेष जंजाल नहीं है तथा साधित लग्न भी प्रामाणिक होता है। वर्तमान में यह विधि लोकप्रिय होती जा रही है।

ज्योतिष का मुख्य उद्देश्य जातक का भविष्य कथन या किसी घटना का फलादेश करना है। फलादेश करने के लिए सही जन्मकुंडली की आवश्यकता होती है और जन्मकुंडली में सबसे महत्वपूर्ण भूमिका लग्न की होती है। यूं तो लग्न साधन करने के लिए पंचांग से प्रथमदृष्टया प्रत्येक लग्न के लिए

प्रारंभ एवं समाप्ति काल देखकर किया जा सकता है। लेकिन उसमें लग्न के अंश कितने शुद्ध हैं इसमें आशंका रहती है। सार्वभौमिक एवं सर्वसम्मति रूप से एन. सी. लाहिरी द्वारा रचित "टेबल आफ एसेन्डेंट" जो कि निरयण पद्धति पर आधारित है, द्वारा लग्न साधन शुद्ध माना गया है। लग्न साधन कैसे करें? यह आप निम्नलिखित उदाहरण से स्पष्ट रूप से समझ सकते हैं। जन्म कुंडली निर्माण के लिए तीन चीजों की आवश्यकता होती है। जन्म तिथि, जन्म समय एवं जन्म स्थान। उदाहरण: जन्म तिथि: 11 जुलाई 1964, जन्म समय: 21.30 घंटे (IST) जन्म स्थान: दिल्ली लग्न साधन करने के लिए सर्वप्रथम साम्पातिक समय की आवश्यकता होती है। अतः सर्वप्रथम दिये गये जन्म विवरण के आधार पर हमें साम्पातिक काल की गणना करनी होगी। **साम्पातिक काल क्या है ?** किसी तारे के सापेक्ष मापा गया समय **साम्पातिक काल** कहलाता है और यह तारा चित्रा नक्षत्र कहलाता है। इसी कारण निरयण पद्धति में प्रयुक्त अयनांश चित्रा पक्षीय अयनांश कहलाता है। किसी विशेष स्थान पर निश्चित समय पर साम्पातिक काल का समय प्रतिदिन 3 मिनट 56.55536 सेकंड की दर से बढ़ता रहता है। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि पृथ्वी की दो गतियां होती हैं। पहली अपनी धुरी पर और दूसरी गति सूर्य के चारों ओर। अर्थात यदि पृथ्वी पर कोई बिंदु लिया जाए तो वह बिंदु वापस अपनी पूर्व स्थिति में 24 घंटे में आ जाता है परंतु यही बिंदु यदि ब्रह्मांड में किसी तारे के संदर्भ में देखा जाए तो उस तारे के सम्मुख पुनः 3 मिनट 56.5536 सेकंड पूर्व आ जाता है। इस तरह पृथ्वी का वह बिंदु तारे के सम्मुख पुनः 23 घंटे 56 मिनट 4.091 सेकंड में आ जाता है। साम्पातिक काल की गणना एफेमेरिज़ द्वारा लग्न गणना के लिए "टेबल आफ एसेन्डेंट" की सहायता लेते हैं।

साम्पातिक इष्टकाल स्थान –

यद्यपि आजकल परम्परागत पंचागों में भी दोपहर 12 बजे या रात्रि बजे का साम्पातिक काल दिया जाने लगा है, लेकिन एन0सी0लहरी के पंचांग में दिया गया साम्पातिक काल सर्वाधिक शुद्ध होता है। साम्पतिक कालि में अधिकतम अशुद्धि या भिन्नता एक सेकेण्ड तक ही चल सकती है। शुद्ध साम्पातिक इष्टकाल का साधन इस प्रकार करना चाहिये –

माना कि 14.09.2013 को प्रात: 9:30 बजे दिल्ली का साम्पातिक काल जानना है लहरी की लग्न सारिणी से 14 सितम्बर का साम्पातिक काल ग्रहण किया। उसमें 2013 का साम्पातिक काल संस्कार भी जोड़ा।

		घ0मि0से0
14 सितम्बर का सा0का0 -		11।31।07
2013 का सा0का0 -	+	02। 50
		11।33।57

यह साम्पातिक काल सार्वत्रिक रूप से दोपहर बजे का रहा। इसमें दिल्ली का सा0काल संस्कार + 0.03 सेकेण्ड जोड़ने से 11।34।00 घंटे सा0काल दिल्ली में स्थानीय मध्याह्न अर्थात् दोपहर 12:00 बजे LMT का हो गया। ध्यातव्य हो कि साम्पातिक काल सदैव स्थानीय समय में ही अभिव्यक्त किया जाता है। दोपहर 12 : 00 बजे के साम्पातिक काल से प्रात:काल के स्थानीय इष्ट समय को घटाने व दोपहर बाद का इष्ट समय होने से योग करने पर स्थानीय अभीष्ट समय का साम्पातिक काल प्राप्त हो जायेगा। दिल्ली के लिये स्थानीय समय का साम्पातिक काल प्राप्त हो जायेगा। दिल्ली के लिये स्थानीय समय बनाने हेतु स्टैण्डर्ड समय में 21 मिनट 8 सेकेण्ड घटाई जाती है। इसे ज्ञात करने की विधि यहीं आगे बताई जा रही है। अत: प्रात: 9:30 IST को दिल्ली का LMT या स्थानीय समय बनाने के लिये उक्त संस्कार किया।

9:30 A.M भारतीय स्टे0 टा0 IST

\- 0।21।28

9।8।52 A.M स्थानीय समय या LMT

हमारे पास दिल्ली का 12 बजे का सा0का0 उपलब्ध है तथा 9.08.52 बजे का जानना है तो 12 बजे से अभीष्ट समय जितना पीछे है , उतना समय हम 12 बजे के सा0का0 में से घटा देंगे। एतदर्थ 12.00 – 9.8.52 घंटे = 2.51.8 घंटे का अन्तर प्राप्त हुआ। इस अन्तर में एक संस्कार प्रति घंटा 10 सेकेण्ड की दर से करना आवश्यक है। इसकी सारिणी भी लहरी की एक पुस्तक में दी गई है। अत: 2.51.8 घंटे + 28 सेकेण्ड = 2.51.36 घण्टे अन्तर को दोपहर 12 बजे के साम्पातिक काल में से घटा देने पर अभीष्ट समय का साम्पातिक काल ज्ञात हो जायेगा।

12 बजे का पूर्व प्राप्त सा0का0 -	11.34 .00
ऋण अन्तर	- 2।51। 36
	8.42.24 अभीष्ट साम्पातिक काल।

यही हमारा 14 सितम्बर 2013 का साम्पातिक काल हुआ।

साम्पातिक काल से लग्नानयन –

पूर्व में बताये गये साम्पातिक इष्टकाल साधन को पुन: से संक्षेप में व प्रयोगात्मक रूप से करते हैं। सर्वप्रथम स्टै0 टा0 9:30 A.M को स्थानीय समय बनाये। एतदर्थ स्टै0 अन्तर 21 मिनट 8 सेकेण्ड को स्टै0 टा0 में से घटाया तो 9.30.00 - 0.21.08 = 9.08.52 A.M स्थानीय समय या LMT हुआ। यह समय दोपहर 12 बजे से कितना पहले है यह जानने के लिये इसे 12 बजे में से घटाया तो 12:00 -9.08.52 = 02.51.08 घण्टे अन्तर प्राप्त हुआ। इसे प्रतिघण्टा 10 से0 की दर से बढ़ाया, क्योंकि पृथ्वी भ्रमण के 24 घण्टे × 10 सेकेण्ड = 24 ×60 ×60 × 10 सेकेण्ड = 24 × 36000 सेकेण्ड = 864000 सेकेण्ड वाले भेद को मिटाना आवश्यक है। इसके लिये लहरी की लग्न सारिणी के पृष्ठ 5 पर एक सारणी भी दी गई है।

2घण्टे का संस्कार = 20 सेकेण्ड

51 मिनट का संस्कार = + 08 सेकेण्ड लगभग

28 सेकेण्ड

अत: शुद्ध व कार्य योग्य अन्तर 2.51.08 घंटे + 0.00.28 घंटे जोड़ने से 2.51.36 हुआ। इसे 12 बजे के साम्पातिक काल 11.34.00 में से घटाया –

11.34.00 घंटे 12 बजे का साम्पातिक काल

2 .51.36 घंटे संस्कृत का अन्तर

8.42.24 अभीष्ट कालीन साम्पातिक काल

हमने दिल्ली के अक्षांश 28^0. 39 पर निर्मित लग्नसारिणी लहरी की पुस्तक का अवलोकन किया। हमारा साम्पातिकइष्टकाल 8.42.24 घंटे है।

	रा0अं0क0
8 घंटे 40 मिनटपर लग्न	6 . 11. 56
2 मिनट का संस्कार	0. 0. 26
24 सेकेण्ड का अन्तर	+ $6\|12^0\|$ 27

उक्त लग्न प्राप्त हुआ। इसमें अभी अयनांश संस्कार करना शेष है। लहरी की सभी लग्न सारिणियॉ 23 अंश अयनांश के आधार पर बनी हैं। वर्तमान में अयनांश 23^0 .45 है। अत: 45 इसमें से घटाना आवश्यक है,तब हमारा अभीष्ट निरयण लग्न होगा।

$6.12^0.27$ हुआ 23 अयनांश पर लग्न

45

$6.11^0.42$ हुआ 23^0 45 अयनांश पर लग्न।

लग्न साधन की प्रक्रिया द्वारा ही दशम लग्न का ज्ञान भी लहरी की लग्न सारिणी से दशम लग्न वाले पृष्ठ से किया जा सकता है।

8 घंटे 40 मिनट पर दशम लग्न - 3.14.35

2 मिनट 24 सेकेण्ड का संस्कार - + 0.0.36

$3|15^0|11$

इसमें लग्न की तरह ही 45 का अयनांश संस्कार करने से अभीष्ट दशम लग्न या $3.14^0.26$ प्राप्त हुआ।

बोध प्रश्न : -

1. लग्न किसे कहते है।
   क. लगतीति लग्नम् ख. पंचांग को ग. जन्मपत्री को घ. कुण्डली को
2. फलित शास्त्र किस पर आधारित है।
   क. पंचांग पर ख. कुण्डली पर ग. ग्रह पर घ. लग्न पर
3. लग्न साधन की कितने प्रकार है –
   क. २ ख.३ ग.४ घ.५
4. उदयक्षितिज वृत्त क्रान्तिवृत्त में पूर्वदिशा में जहाँ स्पर्श करता है, उसका नाम क्या है-
   क. पलभा ख. चरखण्ड ग. लग्न घ. कोई नहीं
5. एक लग्न का मान कितने घण्टे के बराबर होता है –
   क. ३ घण्टा ख.२ घण्टा ग. ४ घण्टा घ. ५ घण्टा

४.५ सारांश

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आपने जान लिया है कि ज्योतिष शास्त्र के प्रमुख तीन स्कन्ध है – सिद्धान्त, संहिता और होरा या फलित। जिस प्रकार सिद्धान्त ज्योतिष का मूल है- ग्रहगणित, उसी प्रकार फलित, जातक अथवा होरा ज्योतिष का मूलाधार है- लग्न। अथवा इस प्रकार भी कह सकते है कि सम्पूर्ण ज्योतिष शास्त्र का फलित पक्ष लग्नाश्रित है, तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। इस बात का

समर्थन स्वयं भास्कराचार्य जी ने स्वग्रन्थ सिद्धान्तशिरोमणि में भी किया है – '**नूनं लग्नबलाश्रितं पुनरयं तत्स्पष्टखेटाश्रयम्**''...0 इत्यादि श्लोक के माध्यम से। अतएव लग्न का महत्व ज्योतिष शास्त्र में अद्वितीय है। प्राचीन रीति के अनुसार लग्न साधन के मुख्यत: दो प्रकार है- १. भुक्त २. भोग्य। आधुनिक समय में साम्पातिक एवं लाँगथेरियम विधि से भी लग्न का साधन करते है, जिसे एफेमेरिज में लिखा जाता है।सूर्योदय के समय सूर्य जिस राशि में हो वही राशि लग्न होगी, यह निश्चित है। लग्न शब्द से ही प्रतीत होता है कि एक वस्तु का दूसरे वस्तु में लगना। इसीलिए कहा गया है कि - लगतीति लग्नम्। वस्तुत: लग्न में यहीं होता है क्योंकि इष्टकाल में क्रान्तिवृत्त का जो स्थान उदयक्षितिज में जहॉ लगता है , वही राश्यादि (राशि, अंश, कला , विकला) लग्न होता है।

४.६ पारिभाषिक शब्दावली

लग्न – लगतीति लग्नम्। उदयक्षितिजवृत्त क्रान्तिवृत्त में पूर्व दिशा में जहाँ सम्पात् करता है, उसका नाम लग्न है।

भुक्त - जो भोग कर लिया हो।

भोग्य – जो भोगना शेष हो।

राश्यादि – राशि, अंश, कला एवं विकला

खेट – ग्रह

लग्नबलाश्रित – लग्न बल पर आश्रित या आधारित

क्रान्ति – सूर्य का नाड़ीवृत्त से उत्तर या दक्षिण अन्तर का नाम क्रान्ति है।

४.७ बोध प्रश्नों के उत्तर

1. क
2. घ
3. क
4. ग
5. ख

४.८ सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. सिद्धान्तिशिरोमणि – मूल लेखक – भास्कराचार्य:, टिका – पं. सत्यदेव शर्मा
2. सूर्यसिद्धान्त – आर्ष ग्रनथ:, टिका – कपिलेश्वर शास्त्री/ प्रोफे. रामचन्द्र पाण्डेय
3. गोल परिभाषा – टिका – डॉ. कमलाकान्त पाण्डेय
4. ग्रहलाघव – मूल लेखक – गणेश दैवज्ञ, टिका – प्रोफे. रामचन्द्र पाण्डेय
5. केतकीग्रहगणितम् – मूल लेखक – आचार्य वेंकट।

४.९ सहायक पाठ्यसामग्री

1. गोल परिभाषा
2. जन्मपत्र व्यवस्था
3. भारतीय कुण्डली विज्ञान

४.१० निबन्धात्मक प्रश्न

1. लग्न किसे कहते है? स्पष्ट कीजिये।
2. भोग्य रीति से लग्न का साधन कीजिये।
3. साम्पातिक काल से लग्न का साधन कीजिये।
4. लग्न का महत्व प्रतिपादित कीजिये।
5. स्वकल्पित लग्न का साधन कीजिये।

इकाई - ५ अक्षक्षेत्र परिचय

इकाई की संरचना

५.१ प्रस्तावना

५.२ उद्देश्य

५.३ अक्षक्षेत्र परिचय

५.४ अक्षक्षेत्र साधन

५.५ सारांश

५.६ पारिभाषिक शब्दावली

५.७ बोध प्रश्नों के उत्तर

५.८ सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

५.९ सहायक पाठ्यसामग्री

५.१० निबन्धात्मक प्रश्न

५.१ प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई एमएजेवाई- 203 के प्रथम खण्ड की पाँचवीं इकाई से सम्बन्धित है, जिसका शीर्षक है – अक्षक्षेत्र परिचय। इसके पूर्व की इकाई में आपने दिक् साधन, अयनांश, पलभा एवं चरखण्ड तथा लग्नादि का अध्ययन कर लिया है। अब आप यहाँ अक्षक्षेत्रादि का अध्ययन करने जा रहे है।

अक्ष क्षेत्र से सम्बन्धित क्षेत्र को अक्षक्षेत्र कहा जाता है। इसका सम्बन्ध गणित ज्योतिष से है। आठ प्रकार के क्षेत्रों से यह सम्बन्धित है। सिद्धान्त एवं गोल में इसका ज्ञान परमावश्यक है।

इसलिए आइए इस इकाई में हम सभी अक्षक्षेत्रों से सम्बन्धित उसके गणितीय एवं सैद्धान्तिक पक्ष को समझने का प्रयास करते हैं।

५.२ उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप जान लेंगे कि –

- अक्ष क्षेत्र किसे कहते है।
- अक्ष क्षेत्र का साधन कैसे किया जाता है।
- अक्ष क्षेत्र के कितने प्रकार है।
- गणित ज्योतिष में अक्ष क्षेत्र का महत्व क्या है।
- गोल में अक्ष क्षेत्र की क्या भूमिका है।

५.३ अक्षक्षेत्र परिचय

अक्षक्षेत्र का सम्बन्ध ज्योतिष के गणित स्कन्ध या गोल से है। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है- अक्षक्षेत्र अर्थात् अक्षांश संबंधी क्षेत्र। अक्षक्षेत्र में मुख्यतया आठ क्षेत्र बनते है। गोल में इसका विस्तृत अध्ययन किया जाता है।

शंकु को नर अथवा ना भी कहते है। विषुवद् दिनार्ध पर खस्वस्तिक तथा निरक्षखस्वस्तिक का अन्तर ख अक्ष होता है। इन दोनों का अनतर करने से खस्वस्तिक तक रवि का नतांश होता है,

जिसको ख अक्ष अर्थात् अक्षांश भी कहते हैं। नतांश को तीन राशि में से घटाने से शेष को उन्नतांश कहते है। इसकी ज्या लम्ब रूप कोटि होती है, जिसको शंकु कहते हैं। अक्ष क्षेत्र का सम्बन्ध अक्षांश से है।

५.४ अक्ष क्षेत्र साधन

मूल श्लोक –

भुजोऽक्षभा कोटिरिनांगुलो ना कर्णोऽक्षकर्ण: खलु मूलमेतत्।
क्षेत्राणि यान्यक्षभवानि तेषां विद्येव मानार्थयश: सुखानाम्।।
लम्बज्यका कोटिरथाक्षजीवा भुजोऽत्र कर्णस्त्रिभुजे त्रिभुज्ये।
कुज्या भुज: कोटिरपक्रमज्या कर्णोऽग्रका च त्रिभुजं तथेदम्।।
तथैव कोटि: समवृत्तशंकुरग्रा भुजस्तद्धृतिरत्र कर्ण:।
भुजोऽपमज्या समना च कर्ण: कुज्योनिता तद्धृतिरत्र कोटि:।।
अग्रादिखण्डं कथिता च कोटिरूद्धृत्तना दो: श्रवणोपमज्या।
उद्धृत्तना कोटिरथाग्रकाग्रखण्डं भुजस्तदच्छ्रवण: क्षितिज्या।।
खण्डं यदूर्ध्वं समवृत्तशंकोर्यत् तद्धृतेस्तावथ कोटिकर्णी।
अग्रादिखण्डं भुज एवमष्टौ क्षेत्राण्यमून्यक्षभवानि तावत्।।

अर्थात् ध्रुव क्षितिज के आसक्त होता है। निरक्ष देश से द्रष्टा जैसे-जैसे उत्तर दिशा की तरफ जाता है वैसे-वैसे उसको ध्रुव उँचा उठाता हुआ दिखाई देता है। जितने अंश ध्रुव उन्नत होता है उतनी उस स्थान की अक्षांश संज्ञा होती है। ख स्वस्तिक से दक्षिण की ओर विषवन्मण्डल नीचा दिखाई देता है। विषुवन्मण्डल के तिर्यक स्थिति के कारण उसके आश्रित अहोरात्र वृत्त स्वस्थान पर तिरछा होता है। अत: साक्ष देश खगोल बलन तथा तिरछे भगोल बलन के संपात से तीन ओर से क्षेत्र उत्पन्न होता है। ऐसे ही अन्य क्षेत्रों की अक्ष क्षेत्र होती है। इन क्षेत्रों की उपयोगिता आचार्य भास्कर इस प्रकार कहते है –

१. अक्षभा अर्थात् पलभा भुज, १२ अंगुलात्मक शंकु कोटि तथा अक्षकर्ण से मूलभूत अक्षक्षेत्र बनता है। यह क्षेत्र ज्ञान के समान, मूलभूत क्षेत्र है, जिससे संसार की सभी मान, अर्थ यश तथा सुख आदि मूलभूत अच्छाईयाँ प्राप्त होती है।
२. दक्षिणोत्तर मण्डल और विषुवद् वृत्त के संपात से नीचे अवलम्बित क्षितिज पर्यन्त सूत्र वहाँ कोटि है। लम्ब मूल तथा भूमध्य का अन्तर जो अक्षज्या है वह भुज है। भूमध्य से लम्ब पर

अग्रगामि सूत्र त्रिज्या है। वह कर्ण है। यह भी एक अक्षक्षेत्र बनता है।

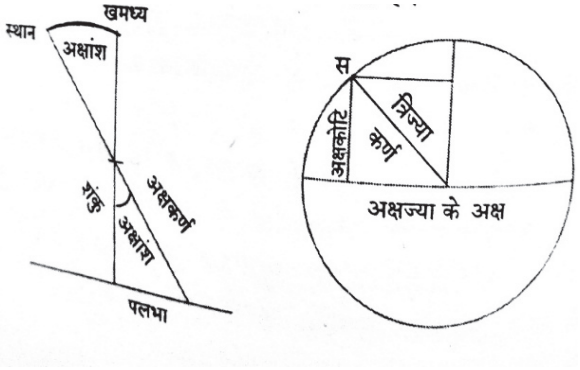

३. इष्ट अहोरात्र वृत्त जहाँ क्षितिज पर लगता है उसका पूर्व स्वस्तिक से अन्तर अग्राचापांश होता है जिसकी ज्या अग्रज्या होती है। क्षितिज पर अग्रा के दोनों अग्र बिन्दु से निबद्ध सूत्र उदयास्त होता हे। अहोरात्र वृत्त तथा उन्मण्डल के संपात का पूर्वापर सूत्र जो अन्तर है वह क्रान्तिज्या है, वह यहाँ कोटि है। अग्रा कर्ण है। उसका अग्रा से अन्तर कुज्या है वह भुज है। इस प्रकार यह तीसरा अक्षक्षेत्र है।

४. अहोरात्रवृत्त और सममण्डल के संपात से नीचे लंब समवृत्तशंकु है वह कोटि है। अग्रा भुज तथा अहोरात्र वृत्त में ज्याखण्ड तद्धृति कर्ण है। इस प्रकार यह चौथा अक्षक्षेत्र है।

५. कुज्या को तद्धृति में घटाने से अहोरात्र वृत्त में ज्यार्ध कोटि है उन्मण्डल में क्रान्तिज्या है वह भुज है। समवृत्त में समशंकु कर्ण है। इस प्रकार यह पाँचवाँ अक्षक्षेत्र है।

६. अहोरात्रवृत्त तथा उन्मण्डल के संपात से अवलंग उन्मण्डल शंकु भुज है। उन्मण्डल में क्रान्तिज्या कर्ण है। उन्मण्डल शंकुमूल से पूर्वापरर सूत्र का अन्तर जो अग्रादि का खण्ड है वह कोटि है। यह छठा अक्ष क्षेत्र है।

७. उन्मण्डल शंकु कोटि है। शंकुमूल तथा उदयास्त सूत्र का अन्तर अग्रा खण्ड भुज है तथा कोटि भुज, अग्रा का अन्तर सूत्र जो कुज्या है वह कर्ण है। इस प्रकार यह सातवाँ अक्षक्षेत्र है।

८. उन्मण्डल शंकु को समशंकु में से घटाने से समशंकु का उर्ध्व खण्ड कोटि है। तद्धृति में कुज्या घटाने से तद्धृति का उर्ध्व खण्ड कर्ण है तथा अग्रादि खण्ड भुज है। यह आठवाँ अक्षक्षेत्र है।

इस प्रकार ये आठ अक्षक्षेत्र कहे गये हैं। इनसे अतिरिक्त भी अन्य बहुत से अक्षक्षेत्र बनते हैं। इन अक्ष क्षेत्रों में एक कोण अक्षांश तुलय, दूसरा अक्षांश कोटि लंबांश तुल्य तीसरा समकोण ९० अंश होता है। आप नीचे इन आठों क्षेत्रों का अवलोकन कर समझ सकते हैं-

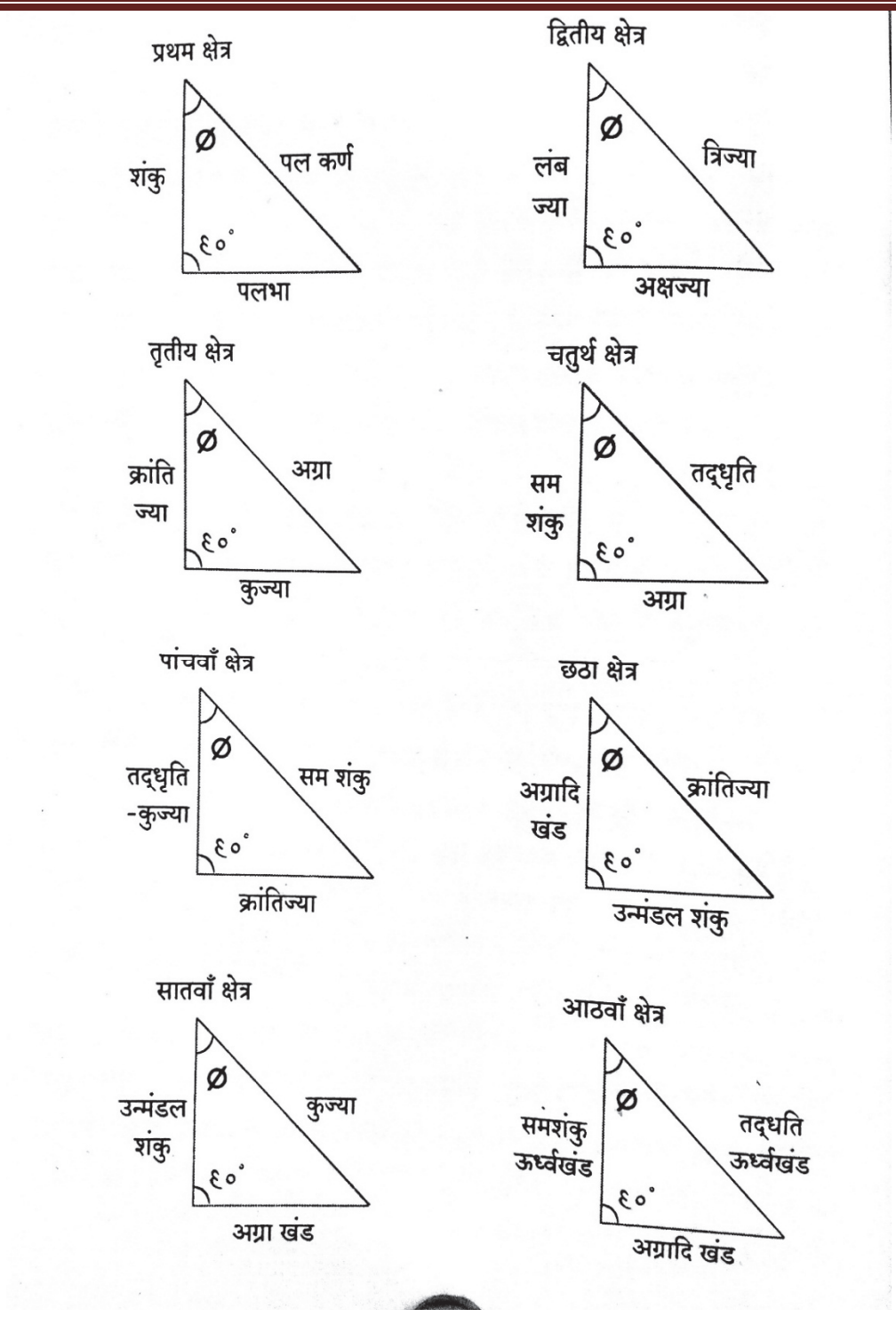
प्रथम क्षेत्र
शंकु
पल कर्ण
Ø
९०°
पलभा
द्वितीय क्षेत्र
लंब ज्या
त्रिज्या
Ø
९०°
अक्षज्या
तृतीय क्षेत्र
क्रांति ज्या
अग्रा
Ø
९०°
कुज्या
चतुर्थ क्षेत्र
सम शंकु
तद्धृति
Ø
९०°
अग्रा
पांचवाँ क्षेत्र
तद्धृति -कुज्या
सम शंकु
Ø
९०°
क्रांतिज्या
छठा क्षेत्र
अग्रादि खंड
क्रांतिज्या
Ø
९०°
उन्मंडल शंकु
सातवाँ क्षेत्र
उन्मंडल शंकु
कुज्या
Ø
९०°
अग्रा खंड
आठवाँ क्षेत्र
समशंकु ऊर्ध्वखंड
तद्धति ऊर्ध्वखंड
Ø
९०°
अग्रादि खंड

उक्त क्षेत्र में अक्षांश तुल्य कोण के सामने की भुजा भुज, अक्षांश कोटि तुल्य कोण के सामने की भुजा कोटि तथा ९० अंश समकोण के सामने की भुजा कर्ण होती है। इन आठ अक्ष क्षेत्रों के अतिरिक्त अहोरात्रवृत्त, विषुववृत्त के अन्य क्षितिजवृत्त, सममण्डल, याम्योत्तर वृत्त, उन्मण्डल तथा क्रान्तिवृत्त के साथ संपात से अन्य अक्ष क्षेत्र भी बनते हैं। ये सभी वृत्त क्षेत्र अक्ष, अक्षकोटि लम्बांश तथा समकोण में परस्पर संपात करते हैं। उपर्युक्त क्षेत्रों में अक्षांश के सम्मुख की भुजा भुज है।

गोल परिभाषा के अनुसार अक्षक्षेत्र -

सा भुज: कोटिरित्यत्र द्वादशांगुलसम्मिता।
तयोवर्गयुतेर्मूलं पलकर्ण: स कथ्यते।।
जात्यत्रयस्रमिदं प्राज्ञैरक्षक्षेत्रमुदीरितम्।
यतोऽक्षांशसमश्चैक: कोणोऽस्त्यस्मिन् त्रिबाहुके।।

पलभा भुज और द्वादशांगुल शंकु कोटि, इन दोनों के वर्गयोगमूल को पलकर्ण या अक्षकर्ण कहते है। पलभाजन्य जात्यत्रिभुज को अक्षक्षेत्र कहते है। अक्षक्षेत्र में एक कोण अक्षांश के तुल्य होता है।

	भुज:	**कोटि:**	**कर्ण:**
१.	अक्षज्या	लम्बज्या	त्रिज्या
२.	पलभा	द्वादंशांगुलशंकु:	पलकर्ण
३.	शंकुतल	मध्यमशंकु	हृति:
४.	कुज्या	क्रान्तिज्या	अग्रा
५.	अग्रा	समशंकु	तद्हृति:
६.	अग्राखण्ड	उन्मण्डलशंकु	कुज्या
७.	उन्मण्डलशंकु	अग्रादिखण्ड	क्रान्तिज्या
८.	इष्टशंकुतल	इष्टशंकु	इष्टहृति

इस प्रकार से गोल में उक्त आठ अक्ष क्षेत्र बनते हैं। जिसे अक्ष क्षेत्र के नाम से जाना जाता है। आगे अब इन्हीं आठ क्षेत्रों की गणितीय सम्बन्धों को क्रमश: समझने का प्रयास करते हैं।

आधुनिक ज्या Sine, कोज्या Cosine तथा स्पर्शज्या Tangent की परिभाषानुसार समतल त्रिभुज में – ज्या = लम्ब/कर्ण, कोज्या = आधार/कर्ण, स्पर्शज्या = लम्ब/ आधार

यहाँ अक्ष क्षेत्रों के भुज = लम्ब, तथा कोटि = आधार है। इनके आधार पर इन सभी त्रिभुज अक्ष क्षेत्रों में ये अनुपात ज्ञात करके यहाँ बताये जा रहे हैं। इस प्रकार सभी त्रिभुजों से ज्ञात अक्षज्या का मान तुल्य होगा, लम्बज्या का मान समान होगा तथा इसी प्रकार स्पर्शज्या का मान समान होगा।

$$\text{ज्या अक्षांश} = \frac{\text{अक्ष क्षेत्र का भुज}}{\text{अक्ष क्षेत्र का कर्ण}} \; ; \; \text{लंबज्या} = \frac{\text{अक्ष क्षेत्र की कोटि}}{\text{अक्ष क्षेत्र का कर्ण}}$$

$$\text{अक्षांश स्प.ज्या} = \frac{\text{अक्ष क्षेत्र का भुज}}{\text{अक्ष क्षेत्र की कोटि}}$$

अक्षक्षेत्र – प्रथम—

$$\text{अक्षांश ज्या} = \frac{\text{पलभा}}{\text{पलकर्ण}} = \frac{\text{भुज}}{\text{कर्ण}} \; ;$$

$$\text{लंब ज्या} = \frac{\text{शंकु}}{\text{पलकर्ण}} = \frac{\text{कोटि}}{\text{कर्ण}} \; ;$$

$$\text{अक्षांश स्प.ज्या} = \frac{\text{पलभा}}{\text{शंकु}} = \frac{\text{भुज}}{\text{कोटि}}$$

द्वितीय—

अक्षज्या = अक्षज्या;

लंबज्या = लंबज्या ;

अक्षांश स्प.ज्या = अक्षांश स्प.ज्या

तृतीय—

$$\text{अक्षज्या} = \frac{\text{कुज्या}}{\text{अग्रा}} \; ;$$

$$\text{लंबज्या} = \frac{\text{क्रांति ज्या}}{\text{अग्रा}} \; ;$$

$$\text{अक्षांश स्प.ज्या} = \frac{\text{कुज्या}}{\text{क्रांतिज्या}}$$

चतुर्थ —

$$\text{अक्षज्या} = \frac{\text{अग्रा}}{\text{तद्धृति}}$$

$$\text{लंबज्या} = \frac{\text{समशंकु}}{\text{तद्धृति}}$$

$$\text{अक्षांश स्प.ज्या} = \frac{\text{अग्रा}}{\text{समशंकु}}$$

पंचम —

$$\text{अक्षज्या} = \frac{\text{क्रांतिज्या}}{\text{समशंकु}}$$

$$\text{लंबज्या} = \frac{\text{तद्धृति} - \text{कुज्या}}{\text{क्रांतिज्या}}$$

$$\text{अक्षांश स्प.ज्या} = \frac{\text{क्रांतिज्या}}{\text{तद्धृति} - \text{कुज्या}}$$

षष्ठम —

$$\text{अक्षज्या} = \frac{\text{उन्मंडल शंकु}}{\text{क्रांतिज्या}};$$

$$\text{लंबज्या} = \frac{\text{अग्राखण्ड}}{\text{क्रांतिज्या}};$$

$$\text{अक्षांश स्प.ज्या} = \frac{\text{उन्मंडल शंकु}}{\text{अग्रादि खण्ड}}$$

सप्तम —

$$\text{अक्षज्या} = \frac{\text{अग्रा खंड}}{\text{कुज्या}};$$

$$\text{लंबज्या} = \frac{\text{उन्मंड़ल शंकु}}{\text{कुज्या}};$$

$$\text{अक्षांश स्प.ज्या} = \frac{\text{अग्रा खण्ड}}{\text{उन्मंडल शंकु}}$$

अष्टम —

$$\text{अक्षज्या} = \frac{\text{अग्रादि खंड}}{\text{तद्धृति ऊर्ध्वखंड}};$$

$$\text{लंबज्या} = \frac{\text{समशंकु ऊर्ध्वखंड}}{\text{तद्धृति ऊर्ध्वखंड}};$$

$$\text{अक्षांश स्प.ज्या} = \frac{\text{अग्रा खण्ड}}{\text{समशंकु ऊर्ध्वखंड}}$$

इन सभी में अक्षज्या, लंबज्या तथा स्प.ज्या के मान सभी अक्ष क्षेत्रों में तुल्य है। यथा —

(क) $$\text{अक्षज्या} = \frac{\text{पलभा}}{\text{पलकर्ण}} = \frac{\text{कुज्या}}{\text{अग्रा}} = \frac{\text{अग्रा}}{\text{तद्धृति}} = \frac{\text{क्रांज्या}}{\text{समशंकु}}$$

$$= \frac{\text{उन्मंडल शंकु}}{\text{क्रांज्या}} = \frac{\text{अग्रा खंड}}{\text{कुज्या}} = \frac{\text{अग्रादि खंड}}{\text{तद्धृति ऊर्ध्वखंड}} = \frac{\text{भुज}}{\text{कर्ण}}$$

ये अक्ष क्षेत्र के भुज तथा कर्ण के अनुपात हैं।

(ख) $$\text{लंबज्या} = \frac{\text{शंकु}}{\text{पलकर्ण}} = \frac{\text{क्रांज्या}}{\text{अग्रा}} = \frac{\text{समशंकु}}{\text{तद्धृति}} = \frac{\text{तद्धृति} - \text{कुज्या}}{\text{समशंकु}}$$

$$= \frac{\text{अग्राखण्ड}}{\text{क्रां.ज्या}} = \frac{\text{उन्मंडल शंकु}}{\text{कुज्या}} = \frac{\text{समशंकु ऊर्ध्वखंड}}{\text{तद्धृति ऊर्ध्वखंड}} = \frac{\text{कोटि}}{\text{कर्ण}}$$

ये अक्ष क्षेत्र की कोटि तथा कर्ण के अनुपात हैं।

(ग) $$\text{अक्षांश स्प.ज्या} = \frac{\text{पलभा}}{\text{शंकु}} = \frac{\text{कुज्या}}{\text{क्रांतिज्या}} = \frac{\text{अग्रा}}{\text{समशंकु}} = \frac{\text{क्रांज्या}}{\text{तद्धृति} - \text{कुज्या}}$$

$$= \frac{\text{उन्मंडल शंकु}}{\text{अग्रादिखंड}} = \frac{\text{अग्रा खंड}}{\text{उन्मंडल शंकु}} = \frac{\text{अग्रादि खंड}}{\text{समशंकु ऊर्ध्वखंड}} = \frac{\text{भुज}}{\text{कोटि}}$$

ये अक्षक्षेत्र के भुज तथा कोटि के अनुपात हैं। आचार्य ने इन्हीं अनुपातों की सहायता से संपूर्ण त्रिप्रश्नाधिकार के सूत्र कहे हैं।

यदि अक्षांश का मान क्रमशः ०°, ३०°, ४५°, ६०°, ९०° हो तो–

(१) अक्षांश ज्या ०° =० = $\frac{\text{भुज}}{\text{कर्ण}}$ होगा। अर्थात् वहाँ पर अक्ष क्षेत्र के सभी भुज = पलभा = अक्षज्या = कुज्या = अग्रा = क्रांतिज्या = उन्मंडल शंकु = अग्राखंड = अग्रादिखंड का मान शून्य होगा।

(२) यदि अक्षांश = ३०° हो तो अक्षांश ज्या ३०° = $\frac{\text{त्रिज्या}}{२}$; अतः $\frac{\text{भुज}}{\text{कर्ण}}$ = $\frac{१}{२}$ अर्थात् कर्ण = २ भुज होगा। यह सभी अक्ष क्षेत्रों में होगा। अर्थात् पूर्व लिखित अक्षांश ज्या के अनुपातों में हार (Denominator) का मान अंश (Numerator) के मान से दुगुने होंगे।

कोज्या ३०° = $\frac{\sqrt{३}}{२}$ अतः पूर्व लिखित लंबज्या के अनुपातों में अंश×२ = $\sqrt{३}$ हार अर्थात् कोटि ×२ = $\sqrt{३}$ कर्ण होंगे।

स्प.ज्या ३०° = $\frac{१}{\sqrt{३}}$ अतः पूर्व लिखित स्प.ज्या के अनुपातों में अंश× $\sqrt{३}$ = हार अर्थात् $\sqrt{३}$ भुज = कोटि होगें।

(३) यदि अक्षांश = ६०° हो तो अक्षांश ज्या ६०° = $\frac{\sqrt{३}}{२}$; अतः–

$\frac{\text{भुज}}{\text{कर्ण}}$ = $\frac{\sqrt{३}}{२}$ अर्थात सभी अक्ष क्षेत्रों में अंश (Numerator) = २ भुज तथा हार (Denominator) = कर्ण × $\sqrt{३}$ के मान तुल्य होंगे।

स्प.ज्या. ६०° = $\frac{\text{भुज}}{\text{कोटि}}$ = $\frac{१}{\sqrt{३}}$ अर्थात् सभी अक्ष क्षेत्रों में कोटि = $\sqrt{३}$ भुज होगी।

लंबज्या ६०° = $\frac{१}{२}$ = $\frac{\text{कोटि}}{\text{कर्ण}}$ अर्थात् सभी अक्ष क्षेत्रों में २ कोटि = कर्ण होगी।

(४) यदि अक्षांश ९०° हो तो अक्षज्या ९०° = १ अतः

$\frac{\text{भुज}}{\text{कर्ण}}$ = १ अर्थात् सभी अक्ष क्षेत्रों में भुज तथा कर्ण समान होंगे।

लम्बज्या =९० अंश = ० अर्थात् सभी अक्ष क्षेत्रों में कोटि का मान शून्य होगा।

स्प.ज्या = ९० अंश = अनन्त अर्थात् सभी अक्ष क्षेत्रों में भुज का मान अनन्त होगा। इसी प्रकार सभी अक्षांशों के लिए ज्ञान किया जा सकता है।

त्रिज्या को पृथक्-पृथक् कोटि और भुज से गुणा करके कर्ण से विभक्त करने से क्रमश: लम्बज्या और अक्षज्या होती है।

बोध प्रश्न : -

1. अक्षक्षेत्र में कितने क्षेत्र होते है।
   क. ५ ख. ६ ग. ७ घ. ८
2. भुज को आधुनिक गणित जगत में क्या कहते हैं।
   क. लम्ब ख. आधार ग. कर्ण घ. लग्न
3. अक्षक्षेत्र में एक कोण होता है–
   क. समकोण ख. ५०अंश ग.१८० अंश घ.६०
4. अक्षांश किस वृत्त में होता है।
   क. क्षितिज में ख. याम्योत्तर में ग. खमध्य में घ. क्रान्ति में
5. अक्ष की ज्या को क्या कहते है–
   क. लम्बज्या ख. अक्षज्या ग. कोटिज्या घ. क्रान्तिज्या

५.५ सारांश

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आपने जान लिया है कि अक्षक्षेत्र का सम्बन्ध ज्योतिष के गणित स्कन्ध या गोल से है। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है- अक्षक्षेत्र अर्थात् अक्षांश संबंधी क्षेत्र। अक्षक्षेत्र में मुख्यतया आठ क्षेत्र बनते है। गोल में इसका विस्तृत अध्ययन किया जाता है।

शंकु को नर अथवा ना भी कहते है। विषुवद् दिनार्ध पर खस्वस्तिक तथा निरक्षखस्वस्तिक का अन्तर ख अक्ष होता है। इन दोनों का अनतर करने से खस्वस्तिक तक रवि का नतांश होता है, जिसको ख अक्ष अर्थात् अक्षांश भी कहते हैं। नतांश को तीन राशि में से घटाने से शेष को उन्नतांश कहते है। इसकी ज्या लम्ब रूप कोटि होती है, जिसको शंकु कहते हैं। अक्ष क्षेत्र का सम्बन्ध अक्षांश

से है। ध्रुव क्षितिज के आसक्त होता है। निरक्ष देश से द्रष्टा जैसे-जैसे उत्तर दिशा की तरफ जाता है वैसे-वैसे उसको ध्रुव उँचा उठाता हुआ दिखाई देता है। जितने अंश ध्रुव उन्नत होता है उतनी उस स्थान की अक्षांश संज्ञा होती है। ख स्वस्तिक से दक्षिण की ओर विषवन्मण्डल नीचा दिखाई देता है।

विषुवन्मण्डल के तिर्यक स्थिति के कारण उसके आश्रित अहोरात्र वृत्त स्वस्थान पर तिरछा होता है। अत: साक्ष देश खगोल बलन तथा तिरछे भगोल बलन के संपात से तीन ओर से क्षेत्र उत्पन्न होता है। ऐसे ही अन्य क्षेत्रों की अक्ष क्षेत्र होती है।

५.६ पारिभाषिक शब्दावली

अक्ष क्षेत्र – अक्षांश सम्बन्धी क्षेत्र।

अष्ट - आठ

समकोण – 90 अंश का कोण

भुज – लम्ब

कोटि – आधार

अक्षभा – अक्षांश की छाया

५.७ बोध प्रश्नों के उत्तर

1. घ
2. क
3. क
4. ख
5. ख

५.८ सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. सिद्धान्तिशिरोमणि – मूल लेखक – भास्कराचार्य:, टिका – पं. सत्यदेव शर्मा
2. सूर्यसिद्धान्त – आर्ष ग्रनथ:, टिका – कपिलेश्वर शास्त्री/ प्रोफे. रामचन्द्र पाण्डेय
3. गोल परिभाषा – टिका – डॉ. कमलाकान्त पाण्डेय

५.९ सहायक पाठ्यसामग्री

1. गोल परिभाषा
2. जन्मपत्र व्यवस्था
3. भारतीय कुण्डली विज्ञान

५.१० निबन्धात्मक प्रश्न

1. अक्षक्षेत्र किसे कहते है? स्पष्ट कीजिये।
2. गोल परिभाषा के अनुसार अक्षक्षेत्र का परिचय दीजिये।
3. अक्षक्षेत्र का साधन कीजिये।
4. क्षेत्रद्वारा अक्षक्षेत्र को प्रदर्शित कीजिये।
5. गणित में अक्षक्षेत्र का क्या योगदान है?

खण्ड - 2
प्रमुख ज्योतिर्विदों का जीवन परिचय

इकाई - १ आचार्य लगध, आर्यभट्ट एवं वराहमिहिर

इकाई की संरचना

१.१ प्रस्तावना
१.२ उद्देश्य
१.३ ज्योतिष शास्त्र की प्रतिष्ठा
१.४ ऋषि लगध
१.४.१ लगध ऋषि का परिचय
१.५ वेदांग ज्योतिष
१.५.१ वेदांग ज्योतिष की विशेषताएँ
१.५.२ वेदांग ज्योतिष का स्वरूप
१.५.३ ऋक ज्योतिष
१.५.३.१ युग, संवत्सर
१.५.३.२ नक्षत्र अयन और मास
१.५.३.३ पल आदि मान
१.५.४ याजुष ज्योतिष
१.५.४.१ सौर वर्ष और ऋतु
१.५.४.२ नक्षत्रों की विशिष्ट संज्ञायें
१.५.५ अथर्व ज्योतिष
१.५.५.१ तिथि और वार
१.५.५.२ मुहूर्त्त विचार
१.५.५.३ नक्षत्र बल
१.६ आर्यभट्ट
१.६.१ आर्यभट्ट परिचय
१.६.२ आर्यभट्टीयम्
१.६.३ आर्यभट्टीयम् का वैशिष्ट्य
१.६.३.१ अंक संज्ञा

१.६.३.२ भूभ्रमण

१.६.३.३ युग पद्धति

१.७ वराहमिहिर

१.७.१ वराहमिहिर का काल

१.७.२ वराहमिहिर का परिचय

१.७.३ त्रिस्कन्ध मर्मज्ञ

१.७.४ कर्तृत्व

१.७.५ पंचसिद्धान्तिका

१.७.६ वृहत्संहिता

१.७.७ वृहज्जातक

१.८ सारांश

१.९ पारिभाषिक शब्दावली

१.१० बोध प्रश्नों के उत्तर

१.११ सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१.१२ निबन्धात्मक प्रश्न

१.१ प्रस्तावना –

प्रिय अध्येताओं! ज्योतिष-शास्त्र के एम.ए. द्वितीय वर्ष के तृतीय पत्र के द्वितीय खण्ड में आपका स्वागत है। इस खण्ड में हम भारतीय-ज्योतिष-शास्त्र की समृद्ध परम्परा के विषय में विस्तार से चर्चा करेंगे। जैसा कि आप सभी को अवगत है कि वेद-पुरुष के षट् अंग क्रमश: - व्याकरण, निरुक्त, शिक्षा, ज्योतिष, कल्प और छन्द हैं। इन षट् अङ्गों में ज्योतिष, नेत्र के रूप में परिगणित है। क्या आपने कभी सोचा है कि ज्योतिष को वेद-पुरुष का नेत्र ही क्यूं कहते हैं? ..... बन्धुओं! जिस प्रकार नेत्र सभी भौतिक पदार्थों को देखने का साधन है, जिसके अभाव में नेत्रहीन मनुष्य के लिए सम्पूर्ण जगत् अन्धकारमय है, ठीक उसी प्रकार ज्योतिष भावी घटनाओं को देखने या जानने का साधन है जिसके अभाव में ज्योतिष-ज्ञान-विहीन मनुष्य भावी जीवन-सम्बन्धी अज्ञानरूपी अन्धकार से युक्त रहता है।

ज्योतिष, व्याकरण आदि इन सभी वेदाङ्गों की स्वतन्त्र सत्ता यद्यपि वेदोत्तर काल में अस्तित्व में आई तथापि इसके पूर्व वैदिक काल में ही अन्य अङ्गों की भांति ज्योतिष-शास्त्रीय समूल-बीज यत्र-तत्र वैदिक वाङ्मय में प्रकीर्ण अवस्था में थे, जिनका कालान्तर में प्ररोहण व पल्लवन हुआ। संक्षेप में, अन्य शास्त्रों की भांति ज्योतिष की प्रगति भी अनेकों ऋषियों, मुनियों और आचार्यों के द्वारा समय-समय पर स्थापित सिद्धातों और नियमों के द्वारा हुई। ज्योतिष की इस ऐतिहासिक परम्परा का वर्णन अनेकों ग्रंथकारों ने किया है जिनमें बाल गंगाधर तिलक, सुधाकर द्विवेदी, शंकर बालकृष्ण दीक्षित, गोरख प्रसाद आदि प्रमुख हैं। ऐतिहासिकता का अध्ययन न केवल उस शास्त्र के विद्वानों और शास्त्र के क्रमिक-परिवर्तन को व्याख्यायित करता है अपितु समाज में उस शास्त्र के महत्त्व, और उसकी प्रासङ्गिकता को रेखांकित भी करता है।

इस खण्ड के पाँचों इकाईयों में काल-क्रम से ज्योतिष के प्रवर्तक आचार्यों के विषय में आप अध्ययन करेंगे। इस प्रथम इकाई में ऋषि लगध, आचार्य वराहमिहिर एवं सिद्धान्त ज्योतिष के आचार्य आर्यभट्ट के विषय में चर्चा की जाएगी।

१.२ उद्देश्य –

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आप –

- ज्योतिष के तीनों स्कन्धों को निरूपित कर सकने में समर्थ हो सकेंगे।
- भारतीय ज्योतिष के आरंभिक इतिहास का निरूपण करने में कुशल हो सकेंगे।

- वेदांगज्योतिष के स्वरुप को प्रकट करने में समर्थ हो सकेंगे।
- ऋक्ज्योतिष, याजुषज्योतिष और अथर्वज्योतिष में वर्णित विषयों को बता सकने में समर्थ होंगे।
- आर्यभट्ट और उनके ग्रन्थ का स्वरूप को समझा सकने में कुशल हो सकेंगे।
- वराहमिहिर और उनकी कृतियों के वर्णन में निपुण हो सकेंगे।

१.३ ज्योतिष-शास्त्र की प्रतिष्ठा -

मित्रों, संस्कृत वाङ्मय की समृद्धि और उसकी वैज्ञानिकता की प्रतिष्ठा में ज्योतिष-शास्त्र की महती भूमिका रही है । जैसा कि आप जानते हैं वेदाङ्ग होने के कारण ज्योतिष की उत्पत्ति वेदों से मानी जाती है। ऋग्वेद, तैत्तिरीयोपनिषद्, शतपथ ब्राह्मण आदि वैदिक वाङ्मय में पग-पग पर ज्योतिषीय अवधारणाएं, संकल्पनाएँ एवं सिद्धान्त कहीं पर सूत्र रूप में (अप्रत्यक्षत:) तो कहीं पर विस्तृत रूप में (प्रत्यक्षत:) दृष्टिगोचर होते हैं। यहाँ एक शङ्का आपके मन में यह होती होगी कि ऋषियों ने एकत्र इन ज्योतिषीय विषयों की चर्चा क्यों नहीं की? और ज्योतिष-शास्त्र को एक स्वतन्त्र रूप क्यूं नहीं दिया? वस्तुत: इन दोनों ही प्रश्नों का एक ही वाक्य में समाधान यह है कि तत्कालीन ऋषि का उद्देश्य किसी शास्त्र-विशेष का प्रवर्तन करना नहीं था अपितु उसका लक्ष्य प्रकृति या यूं कहें कि संपूर्ण ब्रह्माण्ड व जीव को एक समान और उस परमपिता परमेश्वर की विच्छित्ति मानते हुए प्रत्येक प्राकृतिक तत्त्व की देवत्व के रूप में स्तुति-गान करना तथा इस क्रम में उनके स्वरूप, गुण-धर्म, कार्य और पारस्परिक सम्बन्ध की व्याख्या करना था। अत: इन विषयों के उपस्थापक आचार्यों ने प्रसङ्गवशात् नक्षत्रों, ग्रहों, ग्रहण, मास, तिथि आदि ज्योतिषीय तत्त्वों की चर्चा स्तुति-गान के क्रम में की। हाँ... कालान्तर में ब्राह्मण ग्रन्थों और परवर्त्ती वैदिक साहित्य में ज्योतिषीय विषयों को विस्तार रूप में प्रस्तुत किया गया।

काल-क्रम से अनेकों ऋषियों, आचार्यों ने सङ्क्रान्ति, ग्रहण, ग्रह-युति, नक्षत्र, मुहूर्त्त आदि पर अपने-अपने सिद्धान्त प्रकट किये । आपको यह इसीलिये ज्योतिष के १८ प्रवर्तक आचार्य माने गए, जो कि इस प्रकार हैं –

सूर्य: पितामहो व्यास: वशिष्ठोऽत्रि: पराशर: ।
कश्यपो नारदो गर्गो मरीचिर्मनुरङ्गिरा ॥
लोमश: पौलिशश्चैव च्यवनो यवनो भृगु: ।
शौनकोऽष्टादशश्चैते ज्योतिषशास्त्रप्रवर्तका: ॥

इनमें सूर्य और पितामह को सनातन परम्परा में ऋषि न मानकर देव माना गया है। शेष ऋषि हैं। ये हैं व्यास, वशिष्ठ, अत्रि, पराशर, कश्यप, नारद, गर्ग, मरीचि, मनु, अङ्गिरा, लोमश, पौलिश, च्यवन, यवन, भृगु और शौनक।

यहाँ आपके मन में यह जिज्ञासा होगी इतने आचार्यों के होने के बावजूद वेदोत्तर काल से लेकर वेदांग काल तक के बीच में ज्योतिष का कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ आज तक क्यूं नहीं प्रकाश में आया? इसके दो प्रमुख कारण हैं।

पहला तो यह है कि वैदिक या वेदोत्तर काल मुख्यतया प्रवचन-काल रहा है। प्रसङ्गवशात् आचार्यों ने अपने मत शिष्यों के सामने रखे जिन्होनें उन मतों को आगे बढ़ाया। इस प्रकार कर्णाकर्णि परम्परा द्वारा इन ऋषियों द्वारा प्रवर्तित व प्रतिपादित सिद्धांतों के आधार पर ये आचार्य ज्योतिष-शास्त्र के प्रवर्तक तो माने गए किन्तु, स्वयं इन आचार्यों या उनके परम्परागत शिष्यों द्वारा शास्त्राध्ययन में लेखन-विधि की उपेक्षा के कारण तत्तद्विषयक शास्त्रीय-ग्रन्थों का अभाव रहा। कालान्तर में स्वतन्त्र रूप से शास्त्रीय ग्रन्थों की रचना बहुत बाद में प्रारम्भ हुई। तब निकट पूर्ववर्ती आचार्यों एवं शास्त्र-विशेष के विशिष्ट आचार्यों यथा- ज्योतिषशास्त्र में पाराशर, जैमिनि इत्यादि के मतों के संकलन रूप ग्रन्थों की रचना हुई जिनमें अतिप्राचीन आचार्यों के मतों का यत्र-तत्र समावेश किया गया।

दूसरा प्रमुख कारण यह है कि भारतवर्ष पिछले लगभग दो हज़ार वर्षों से आक्रान्ताओं से दुष्प्रभावित रहा। जिन्होनें समय-समय पर भारत की संस्कृति को बलात् समाप्त करने के उद्देश्य से संस्कृति के आधारभूत शास्त्रों और शास्त्र-संरक्षण में संलग्न संस्थाओं के विनाश का कार्य किया। इस कारण से अनेकों ग्रन्थ विलुप्त हो गए। जो बचे उनमें भी कई ग्रन्थों की हस्तलिखित प्रतियों के अंश यत्र-तत्र प्रकीर्णित अवस्था में होने से व अन्य कारणों से अपूर्ण अवस्था में प्राप्त हुए।

इसके अतिरिक्त कई अन्य प्रत्यक्ष एवं परोक्ष कारण रहे जिन्होंने भारत की अमूल्य शास्त्रीय परम्परा को और इस क्रम में भारतीय-ज्योतिष-परम्परा को अपूरणीय क्षति पहुंचाई।

....खैर मित्रों! इससे हुआ यह कि ऊपर परिगणित भारतीय-ज्योतिष-परम्परा के अनेकों प्रवर्तक आचार्यों के सिद्धान्त, स्वतन्त्र ग्रन्थ का रूप न ले सके। ...हां लेकिन इतना ज़रूर है कि उपलब्ध शास्त्रीय ग्रन्थों में इन आचार्यों के सिद्धान्त, नियम आदि मूल ग्रन्थ या टीकाओं में प्रसंगवशात यत्र-तत्र लिखित या वर्णित मिलते हैं जो इन आचार्यों के अस्तित्त्व व उनके प्रवर्तकत्व
को प्रमाणित करते हैं।

१.४ ऋषि लगध -

प्रिय अध्येता! अभी तक हमने वैदिक काल के बाद और लगध मुनि के पहले की भारतीय ज्योतिष की पृष्ठभूमि पर चर्चा की। ...आइए अब हम इस अध्याय के अगले प्रतिपाद्य विषय त्रषि लगध की चर्चा करते हैं।

लगध मुनि का नाम सुनते ही कई प्रश्न मस्तिष्क में आते हैं। लगध ऋषि कौन थे? प्रवर्तक आचार्यों में उनका नाम न होने पर भी भारतीय ज्योतिष में उनके अध्ययन का कारण क्या है? या ज्योतिष-शास्त्र को लगध मुनि की देन क्या है?

आइए एक-एक करके इन प्रश्नों के उत्तर ढूँढते हैं।

१.४.१ लगध ऋषि का परिचय -

प्राचीन भारतीय परम्परा में प्राय: आचार्यों ने अपनी अहंता बुद्धि को सदा ही पृष्ठ में रखा है। यही कारण है बहुत सारे शास्त्रीय ग्रन्थों में प्रणेताओं का परिचय नहीं मिलता है। फिर यहाँ तो अनुपम विनय का प्रदर्शन करते हुए यद्यपि महात्मा लगध ने स्वयं का कोई परिचय नहीं दिया है तथापि ऋक्-ज्योतिष के द्वितीय श्लोक में उनका कुछ परिचय प्राप्त होता है।

प्रणम्य शिरसा ज्ञानम् अभिवाद्य सरस्वतीम्।
कालज्ञानं प्रवक्ष्यामि लगधस्य महात्मन: ।।

(ऋक्ज्योतिषम्, श्लोक 2)

अर्थात् सरस्वती देवी का अभिवादन करके और सिर झुकाकर प्रणाम करते हुए महात्मा लगध के (द्वारा उपस्थापित) काल-ज्ञान को कहूंगा।

लगध मुनि सम्बन्धी एक मात्र परिचयात्मक इस श्लोक से यह पता चलता है कि यद्यपि महात्मा लगध ज्योतिष शास्त्र के आचार्य रहे हैं तथापि 'वेदाङ्ग-ज्योतिष' के रचयिता वह स्वयं नहीं अपितु उनका कोई शिष्य है। तथा सम्भवत: लगध के ही प्रतिपादित सूत्रों का संकलन 'ऋक्ज्योतिष', 'याजुष ज्योतिष' एवं 'अथर्व ज्योतिष' इत्यादि नाम से उनके शिष्यों ने किया। इसके अतिरिक्त लगध मुनि के विषय में अन्य कोई प्रामाणिक सूचना नहीं मिलती है क्यूंकि संस्कृत वाङ्मय में इस नाम के किसी आचार्य का अन्यत्र उल्लेख नहीं मिलता है। पाश्चात्य विद्वान 'लगध' को 'लगड़' या 'लाट' कहते हैं, जिससे उनका समय पांचवी शताब्दी के आस-पास आता है जो कि सर्वथा निराधार है। इसका कारण ग्रन्थोक्त उत्तरायण-बिन्दु की स्थिति है जो खगोलीय गणना के

आधार पर लगध का काल १४००-१५०० ईसा पूर्व निश्चित करता है।

जहां तक प्रश्न लगध के महत्त्व का है, वह वेदोत्तर काल और सिद्धांत काल के मध्य की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कड़ी हैं क्यूंकि इन दोनों कालों के मध्य सिर्फ उनका ही नाम स्वतन्त्र ग्रन्थ के प्रवर्तक के रूप में इतिहास में उल्लिखित है। तो फिर यह प्रश्न मन में उठता है कि ज्योतिष के प्रवर्तक आचार्य के रूप में लगध का नाम क्यूं नहीं आता है?

इस प्रश्न के कई उत्तर हैं। पहला तो यह कि लगध का काल पूर्वोक्त परिगणित प्रवर्तक आचार्यों से बाद का है। दूसरा, 'वेदांग ज्योतिष' का कोई भी विषय किसी नए ज्योतिषीय सिद्धान्त का प्रवर्तन नहीं करता है। इसका ऋक् एवं याजुष् भाग तो पञ्चाङ्ग-गणित (तिथि, वार, नक्षत्र, संवत्सर, अधिमास, अयन आदि) का जबकि अथर्व-ज्योतिष फलित-भाग का संक्षिप्त व सूत्र-रूप है।

जहां तक प्रश्न लगध के शिष्य का है, वेदांग ज्योतिष के संस्कृत टीकाकार डा. शाम शास्त्री के अनुसार, प्रथम श्लोक में उक्त 'शुचि' शब्द लगधाचार्य के शिष्य 'शुचि' का वाचक है –

इह तावज्ज्योतिर्विदो लगधाचार्यस्य शिष्यश्शुचिर्नाम कश्चन ऋषि:.....।

जबकि अन्य 'शुचि' शब्द का अर्थ पवित्रता लेते हैं।....जो भी हो, यह तो तय बात है कि वेदांग-ज्योतिष के इस वर्तमान स्वरुप का प्रणयन लगध मुनि के ही शिष्य-परम्परा के किसी आचार्य ने किया है।

जैसा कि स्पष्ट है 'वेदांग-ज्योतिष' ही महात्मा लगध का ज्योतिष-शास्त्र को अमूल्य देन है तो आइए, इस ग्रन्थ के विषय में कुछ चर्चा करें।

१.५ वेदाङ्ग ज्योतिष -

मित्रों! आपके मन में यह जिज्ञासा उठना स्वाभाविक है कि जब 'वेदाङ्ग-ज्योतिष' संक्षिप्त व सूत्र-रूप है तब फिर भारतीय ज्योतिष के इतिहास में इसका महत्त्व क्या और क्यूं है?

१.५.१ वेदाङ्ग ज्योतिष की विशेषताएं -

वेदाङ्ग ज्योतिष के महत्त्व को समझाने के लिए उसकी विशेषताएं जानना अधिक प्रासंगिक होगा अत: आइए पहले इसकी विशेषताओं को बिन्दुश: रेखांकित करने का प्रयास करें।

१. यह वर्तमान में उपलब्ध, संस्कृत भाषा में निबद्ध, सर्वाधिक प्राचीन ज्योतिष-शास्त्रीय ग्रन्थ है।

२. यह ज्योतिष के स्कन्धात्मक पक्ष को मूर्तरूप देने का प्रथम प्रयास है। जैसा कि आपको अवगत होगा कि गणित (सिद्धान्त), फलित (होरा) एवं संहिता इन तीन स्कन्धों पर आधारित होने के कारण ज्योतिष 'त्रिस्कन्धात्मक' कहा जाता है। यह ग्रन्थ 'ऋक-

ज्योतिष' (आर्च-ज्योतिष), एवं 'याजुष-ज्योतिष' एवं 'अथर्व-ज्योतिष' (आथर्वण ज्योतिष) का समेकित रूप है। इस ग्रन्थ में सिद्धान्त या गणित-स्कन्ध से सम्बन्धित पंचांग के विविध अवयवों की गणना हेतु 'ऋक-ज्योतिष' (आर्च-ज्योतिष) एवं 'याजुष-ज्योतिष' का प्रणयन तथा फलित स्कन्ध से सम्बन्धित विषयों के उपस्थापन के लिए 'अथर्व-ज्योतिष' का प्रणयन किया गया है।

३. यह प्रथम स्वतन्त्र ज्योतिषीय ग्रन्थ है जिसमें वेदाङ्ग के रूप में ज्योतिष की चर्चा आई है और उसको वेदाङ्गों में सर्वाधिक महत्त्व का बताया गया है।

४. यह वर्त्तमान में उपलब्ध संभवत: एक मात्र वेदोत्तरकालीन ज्योतिषीय ग्रन्थ है जिसमें सूत्र-रूप में पंचांग के अवयवों का साधन बताया गया है।

५. यह प्रथम ग्रन्थ है जिसमें सौर-चान्द्रात्मक-पंचांग साधन की भारतीय पद्धति का परिचयात्मक ज्ञान मिलता है।

६. तत्कालीन उत्तरायण एवं दक्षिणायन बिन्दु की स्थिति को बताने वाला यह सम्भवत: प्रथम स्वतन्त्र ज्योतिषीय ग्रन्थ है।

७. यह प्रथम स्वतन्त्र ज्योतिषीय ग्रन्थ है जिसमें नक्षत्रों और उनके देवताओं का आद्यक्षर से संकेत किया गया है। कालान्तर में ज्योतिषियों ने पद्य-रचना में इस पद्धति का बहुत प्रयोग किया।

इसके अतिरिक्त अनेकों अन्य विशेषताएं इस ग्रन्थ की हैं जो इसके महत्व को स्थापित करती हैं।

१.५.२ वेदांग ज्योतिष का स्वरुप –

प्रिय अध्येता! जैसे कि पूर्व में ही चर्चा हुई, वेदांग ज्योतिष 'ऋक् ज्योतिष', 'याजुष् ज्योतिष' एवं 'अथर्व ज्योतिष' के सम्मिलित रूप को कहते हैं। यद्यपि मुख्यत: ऋक और याजुष का ही सम्मिलित रूप वेदांग ज्योतिष इस नाम से व्यवहृत है तथापि अथर्व ज्योतिष के नाम से प्राप्त अन्य ग्रन्थ को भी वेदांग ज्योतिष के रूप में कालांतर में स्वीकार करके उसका भी अध्ययन इसके अंतर्गत किया जाने लगा। 'ऋक् ज्योतिष' में ३६ श्लोक हैं और 'याजुष् ज्योतिष' में ४४ श्लोक हैं। इन दोनों में विषय तो प्रायः एक ही है किन्तु शब्दों और पाठ-भेदों का अंतर है। अथर्व ज्योतिष में १६२ श्लोक पाए जाते हैं जो कि १४ प्रकरणों में विभक्त हैं। अत: इसके स्वरूप को समझने के लिये इनकी भी थोड़ी-थोड़ी चर्चा यहाँ आवश्यक है।

बोध प्रश्न

प्र.१ निम्नलिखित वाक्यों में सही के आगे (√) का और गलत के आगे (×) का चिह्न लगाएं –

(क) ज्योतिष का वर्णन तैत्तिरीयोपनिषद् में मिलता है ( )

(ख) ब्राह्मण ग्रंथों में ज्योतिष के विषय नहीं मिलते हैं ( )

(ग) ज्योतिष-शास्त्र के १५ प्रवर्तक आचार्य आने गए हैं ( )

(घ) ऋक्ज्योतिष और याजुषज्योतिष में विषय-गत साम्य नहीं है ( )

(ङ) अथर्वज्योतिष में मुख्यत: फलित के विषय वर्णित हैं ( )

अभ्यास प्रश्न

प्र.१ वेदाङ्गज्योतिष के रचयिता के विषय में लिखें।

_____

_____

_____

_____

बोध प्रश्न

प्र.२ निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दें –

(क) खगोलीय गणना के आधार पर लगध का काल _____ है।

(ख) _____ ने शुचि को लगध का शिष्य माना है।

(ग) ऋक्ज्योतिष में _____ श्लोक हैं।

(घ) आथर्वणज्योतिष में _____ प्रकरण हैं।

(ङ) ज्योतिष-शास्त्र _____ स्कंधों में विभक्त है।

अभ्यास प्रश्न

प्र.२ वेदांग ज्योतिष की ४ विशेषताएं लिखिए।

_____

_____

_____

_____

१.५.३ ऋक् ज्योतिष –

जैसा कि पूर्व में ही कहा कि ऋक् ज्योतिष में ३६ श्लोक हैं। इसमें युग, अयन, वर्ष, मास, ऋतु, दिनमान, पर्वगण, पर्वसम्मित नक्षत्र, पल इत्यादि मान, लग्न, ग्रह-गति आदि विषयों का समावेश किया गया है।

१.५.३.१ युग, संवत्सर, अयन और मास –

मित्रों! हालांकि 'युग' इस शब्द से सामान्यत: सत्युग, त्रेतायुग, द्वापरयुग एवं कलियुग का ही बोध होता है जिनका ज्योतिषीय मान कई-कई वर्षों का होता है किन्तु इसके अतिरिक्त वैदिक साहित्य में वर्णित पञ्चवर्षीय युग का उल्लेख ऋक् ज्योतिष में मिलता है –

पञ्च संवत्सरमयं युगाध्यक्षं प्रजापतिम्।
दिनर्त्वयनमासाङ्गं प्रणम्य शिरसा शुचि: ।।

(ऋक्ज्योतिषम्, श्लोक 1)

अर्थात् दिवस, ऋतु, अयन और मास जिसके अङ्ग हैं ऐसे पञ्चसंवत्सरमय युगाध्यक्ष प्रजापति को शिरसा प्रणाम कर मैं शुचि (शुद्ध होता हुआ)।

किन्तु पञ्च संवत्सरों के नाम यहाँ नहीं आए हैं। सोमाकर ने ८वें श्लोक की टीका में गर्ग मुनि के वचन को उद्धृत करते हुए इनके नाम दिए हैं जो क्रमश: इस प्रकार हैं –

१. संवत्सर, २. परिवत्सर, ३. इदावत्सर, ४. अनुवत्सर और ५. इद्वत्सर। इन संवत्सरों के गर्ग मुनि प्रोक्त देवता क्रमश: १. अग्नि, २. आदित्य, ३. वायु, ४. चन्द्रमा और ५. मृत्यु हैं।

अयन की स्थिति को स्पष्ट करते हुए ऋक ज्योतिष कहता है –

प्रपद्येते श्रविष्ठादौ सूर्याचन्द्रमसावुदक्।
सार्पार्धे दक्षिणार्कस्तु माघश्रवणयो: सदा।।

(ऋक्ज्योतिषम्, श्लोक ६)

अर्थात् श्रविष्ठा (धनिष्ठा) के आरम्भ में सूर्य और चन्द्रमा उत्तर की ओर मुड़ते हैं और सार्प (आश्लेषा) के आधे पर दक्षिण की ओर। सूर्य सर्वदा माघ और श्रावण (मासों में क्रमश: उत्तर और दक्षिण की ओर मुड़ता है)।

इसके अतिरिक्त ५वें श्लोक में कहा है कि जब सूर्य और चन्द्रमा धनिष्ठा नक्षत्र में एकत्र प्राप्त होते हैं तब युग, माघ (मास), तपस् (वसन्त) ऋतु, शुक्ल पक्ष और उत्तरायण का आरम्भ होता है। इस प्रकार वर्ष का आरम्भ माघ शुक्ल पक्ष से और समाप्ति पौष कृष्ण पक्ष की अमावास्या से होती है।

चान्द्र मासों के अतिरिक्त सौर मासों और सावन मासों के भी ज्ञान का पता चलता है। अधिक मास के स्वरूप और उसके साधन की विधि भी ऋक् ज्योतिष में उपलब्ध है।

१.५.३.२ नक्षत्र –

इसके अतिरिक्त नक्षत्रों के नाम और देवता का उल्लेख उनके अक्षरों के आदि या अन्त्य अक्षरों के आधार पर किया गया है।

जौद्रागः खेश्वेहीरोषाचिम्मूषण्यः सूमाधाणः।
रे मृघा स्वापोऽजः कृष्यः हज्येष्ठा इत्यृक्षा लिङ्गैः।।

(ऋक्ज्योतिषम्, श्लोक १८)

जौ (अश्वयुजौ = अश्विनी), द्रा (आर्द्रा), गः (भगः = पूर्वाफाल्गुनी), खे (विशाखा), श्वे (विश्वेदेवा = उत्तराषाढा), हिः (अहिर्बुद्ध्न्य = उत्तरभाद्रपद्), रो (रोहिणी), षा (आश्लेषा), चित् (चित्रा), मू (मूल), षा (शतभिषा), ण्यः (भरणी), सू (पुनर्वसु), मा (अर्यमा = उत्तरफाल्गुनी), धा (अनुराधा), णः (श्रवण), रे (रेवती), मृ (मृगशिरा), घा (मघा), स्वा (स्वाती), पः (अपः = पूर्वाषाढा), अजः (अज = पूर्वभाद्रपद्), कृ (कृत्तिका), ष्यः (पुष्य), ह (हस्त), ज्ये (ज्येष्ठा), ष्ठा (श्रविष्ठा = धनिष्ठा)।

यद्यपि इस श्लोक में २७ नक्षत्रों का वर्णन है तथापि इनका क्रम व्यवस्थित नहीं है क्यूंकि यह क्रम पर्वों (विशेष संज्ञा) में उन नक्षत्रों की स्थिति का बोध कराता है।

१.५.३.३ पल आदि मान –

ऋक्ज्योतिष में पल आदि काल-मापन की इकाइयों का भी वर्णन प्राप्त होता है –

नाडिके द्वे मुहूर्तस्तु पञ्चाशत्पलमाषकम्।
माषकात् कुम्भको द्रोणः कुटपैर्वर्धते त्रिभिः।।

(ऋक्ज्योतिषम्, श्लोक १७)

१ कुडव = ३-१/८ पल; ३ कुडव = ९-३/८ पल; ४ कुडव = १ प्रस्थ

१ प्रस्थ = १२-१/२ पल; ४ प्रस्थ = ५० पल = १ आढक

४ आढक = १ द्रोण या २०० पल

१ नाडिका = (१ द्रोण – ३ कुडव) = १९०-५/८ पल

२ नाडिका = १ मुहूर्त; ३० मुहूर्त = ६०३ कला = १ दिन

१.५.४ याजुष् ज्योतिष –

इसमें 'ऋक् ज्योतिष' के ही श्लोक हैं। केवल १३-१४ श्लोकों में ही भिन्नता है। ऋक्ज्योतिष के ३६ में से ३० श्लोक किञ्चिद् पाठभेद के साथ यहाँ सम्मिलित किये गए हैं। 'याजुष् ज्योतिष' में वर्णित विषय ऋक्ज्योतिष से भिन्न नहीं हैं। इसमें पर्व-तिथि का साधन, सावन-चान्द्र-नाक्षत्र मास का कथन, चान्द्र-सौर दिन, अधिमास आदि का वर्णन है।

१.५.४.१ सौर वर्ष और ऋतु –

ग्रन्थ के अध्ययन से यह भी ज्ञात होता है कि उस समय से ही चान्द्र वर्ष की अपेक्षा सौर वर्ष का ही प्रचलन अधिक था। २६ वें श्लोक में सौर वर्ष का प्रमाण भी बताया गया है –

त्रिंशत्यह्नां सषट्षष्टिरब्दः षट् चर्तवोऽयने।
मासा द्वादश सौराः स्युः एतत्पञ्चगुणं युगम्॥

(याजुष् ज्योतिषम्, श्लोक २८)

अर्थात् त्रिंशत् (३००) सषट्षष्टिः (६६) अह्नां (दिनों का) एक अब्द (वर्ष/सौर वर्ष) होता है, जिसमें षट् ऋतुएं, अयने (२ अयन), द्वादश सौर मास होते हैं। एतत् (इन सब दिनादियों को) पञ्च गुणित करने पर एक युग में इनकी संख्या का ज्ञान होता है।

१.५.४.२ नक्षत्रों की विशिष्ट संज्ञाएं –

ऋक् (आर्च) से भिन्न वर्ण्य विषयों में नक्षत्रों की संज्ञाएं मुख्य हैं।

उग्राण्यार्द्रा च चित्रा च विशाखा श्रवणाश्वयुक्।
क्रूराणि तु मघा स्वाती ज्येष्ठा मूलं यमस्य तत्॥

(याजुष् ज्योतिषम् श्लोक ३३)

अर्थात् आर्द्रा, चित्रा, विशाखा, श्रवण और अश्विनी ये सभी 'उग्र नक्षत्र' हैं। मघा, स्वाती, ज्येष्ठा, मूल और यम ये सभी क्रूर नक्षत्र हैं।

१.५.५ अथर्व ज्योतिष –

'अथर्व ज्योतिष' या 'आथर्वण ज्योतिष' पितामह-कश्यप-संवाद रूप है। यह १४ प्रकरणों और १६२ श्लोकों में विभाजित है। विषय की दृष्टि से इसमें ज्योतिष के फलित पक्ष का अधिक निरूपण हुआ है। यह पूर्वोक्त दोनों की अपेक्षा नवीन प्रतीत होता है। पी.वी. काणे इसका प्रणयन काल द्वितीय या प्रथम शताब्दी ई.पू. मानते हैं। इसमें प्रतिपादित विषय संक्षेप में इस प्रकार से है।

१.५.५.१ तिथि और वार -

इसमें तिथि, वार के साथ-साथ नक्षत्र और करण का भी उल्लेख मिलता है। तिथियों के नन्दा, भद्रा तथा रिक्ता आदि पांच नाम प्राप्त होते हैं। इसके साथ ही वारों के भी नाम यहाँ प्राप्त होते हैं –

आदित्य: सोमो भौमश्च तथा बुधबृहस्पती।
भार्गव: शनैश्चरैश्चैव एते सप्त दिनाधिपा:।।

(अथर्व ज्योतिष १०३)

तिथियों के करणों की भी चर्चा है। करणों के शुभाशुभ एवं मुख-पुच्छादि का भी विचार प्राप्त होता है। तिथि, नक्षत्र, वार और करणों की गुणवत्ता बताते हुए उत्तरोत्तर उनके बलाधिक्य की भी बात कही गयी है –

तिथिरेकगुणा प्रोक्ता नक्षत्रं च चतुर्गुणम्।
वारश्चाष्टगुण: प्रोक्त: करणं षोडशान्वितम्।।

(अथर्व ज्योतिष ९०)

१.५.५.२ मुहूर्तविचार –

अथर्व ज्योतिष में मुहूर्तों की संख्या १५ बताई गयी है। बारह अंगुल के शंकु की छाया के भिन्न-भिन्न परिमाण ही इन मुहूर्तों की अवधि हैं। यदि शंकु छाया ९६ अंगुल के लगभग है तो वह काल-खण्ड (मुहूर्त) 'रौद्र' कहलाता है। ६० अंगुल छाया जब हो तब 'श्वेत' नामक मुहूर्त, १२ अंगुल परिमाण में 'मैत्र' संज्ञक मुहूर्त, ६ अंगुल प्रमाण में 'सारभट' मुहूर्त, ५ अंगुल में 'सावित्र', ४ अंगुल में 'वैराज', ३ अंगुल में 'विश्वावसु' मुहूर्त होता है। मध्याह्न के बाद उपर्युक्त छाया के उत्क्रम से मुहूर्तों का ज्ञान किया जाता है। मध्याह्न में छाया का मान शंकुमूल में आने पर 'अभिजित्' नामक शुभ मुहूर्त होता है। मुहूर्तों के अनुरूप उनके शुभाशुभ फल समझना चाहिए।

१.५.५.३ नक्षत्र (तारा) बल –

वस्तुत: वैदिक ज्योतिष और वेदोत्तर ज्योतिष नक्षत्र-प्रधान थी। इसका प्रमाण आथर्वण ज्योतिष में भी स्पष्टतया मिलता है। इसमें ३-३ नक्षत्रों का वर्ग बनाकर उनकी 'जन्म', 'सम्पत्', 'विपत्', 'क्षेम्य', 'प्रत्वर', 'साधक', 'नैधन', 'मैत्र', ' अतिमैत्र' ये संज्ञाए पढी गयी हैं, जिनका फल उनके नाम के अनुरूप बताया गया है –

जन्म सम्पत्विपत् क्षेम्य: प्रत्वर: साधकस्तथा।

नैधनो मित्रवर्गश्च परमो मैत्र एव च।।

(अथर्व ज्योतिष १०३)

इसके अतिरिक्त जन्मनक्षत्र से १०वां नक्षत्र 'कर्म', १९वां 'गर्भाधानक' कहा गया है।

बोध प्रश्न

प्र.३ निम्नलिखित वाक्यों में सही के आगे (√) का और गलत के आगे (×) का चिह्न लगाएं –

(क) वेदांग ज्योतिष में युग १०० वर्षों के माने गए हैं।)

(ख) अनुवत्सर सम्वत्सरों का एक प्रकार है। ( )

(ग) चित्रा का दूसरा नाम श्रविष्ठा है। ( )

(घ) 'जौ' का तात्पर्य अश्विनी नक्षत्र है। ( )

(ङ) १२ अङ्गुल छाया होने पर 'सारभट' नामक मुहूर्त होता है। ( )

अभ्यास प्रश्न

प्र.३ वेदाङ्गज्योतिष में वर्णित युग के सम्वत्सरों और उनके देवताओं के नाम लिखें।

_____

_____

_____

_____

बोध प्रश्न

प्र.४ निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दें –

(क) 'द्रा' से कौन सा नक्षत्र प्रकट होता है ?

(ख) एक मुहूर्त में कितनी नाडिकाएं होती हैं ?

(ग) अथर्वज्योतिष में मुहूर्तों की संख्या कितनी बताई गयी है?

(घ) कितनी अंगुल छाया होने पर 'वैराज' नामक मुहूर्त होता है?

(ङ) जन्मनक्षत्र से १०वें नक्षत्र की क्या संज्ञा है ?

अभ्यास प्रश्न

प्र.४ 'प्रपद्येते श्रविष्ठादौ'..... श्लोक का अर्थ लिखिए।

_____

_____

१.६ आर्यभट्ट –

प्रिय अध्येता! अभी तक हमने वेदांग ज्योतिष के विषय में चर्चा की। किन्तु, यहाँ से हम ज्योतिषवाङ्मयेतिहास के उस पड़ाव पर चलेंगे जहां से स्वतन्त्र ज्योतिषीय ग्रन्थों का वर्त्तमान में अस्तित्व मिलता है। इसमें यदि आप गौर करेंगे तो पाएंगे कि ज्योतिष शास्त्र के सिद्धान्त-स्कन्ध का विकास बड़ी ही तेज़ी से हुआ और तत्कालीन विद्वानों विशेषकर गणित के पंडितों ने इस स्कन्ध में विशेष रुचि प्रदर्शित की। इसीलिये कई इतिहासकारों ने इसे 'आदि-सिद्धान्त-काल' भी कहा है। इस काल के प्रमुख अग्रगण्यों में आर्यभट्ट का नाम शीर्ष पर समादृत है।

मित्रों! आपको स्मरण होना चाहिए कि भारत-सरकार द्वारा भेजे गए उपग्रहों में से एक का नाम इसी महान गणितज्ञ और खगोलविद् के नाम पर रखा गया है। तो आइए, आर्यभट्ट और उनके कर्तृत्व की कुछ चर्चा की जाए।

१.६.१ **आर्यभट्ट का परिचय –**

आर्यभट्ट ने स्वयं का कोई विशेष एवं विस्तृत परिचय नहीं दिया है। आर्यभट के द्वारा स्वयं दी गयी जानकारी के अनुसार उनका जन्म गुप्त काल (३२०ई. – ७४०ई.) के मध्य ४७६ ईस्वी में हुआ। आर्यभट कुसुमपुर के निवासी थे। यहीं पर उन्होंने 'आर्यभटीयम्' नामक ग्रन्थ की रचना की –

आर्यभटस्त्विह निगदति कुसुमपुरेऽभ्यर्चितं ज्ञानम्।।

(आर्यभटीयम्, गणितपाद, १)

कुसुमपुर पटना या पाटलिपुत्र का ही प्राचीन नाम था।

१.६.२ आर्यभटीयम् –

आर्यभटीयं या आर्यसिद्धान्त के मुख्य दो भाग हैं। प्रथम में गीति छन्द के १० पद्य हैं जिसमें ग्रहों के भगण (राशिचक्र-भ्रमण) के मान पढ़े गए हैं। इस भाग को 'दशगीतिक' कहते हैं। द्वितीय भाग में तीन प्रकरण हैं जिनमें आर्या छन्द में १०८ श्लोक हैं। इन श्लोकों के अतिरिक्त एक मंगलाचरण और एक संख्या-परिभाषा को मिलाकर कुल १२० श्लोक इस ग्रन्थ में हैं। इस प्रकार इस ग्रन्थ में दशगीतिक', 'गणित', 'कालक्रिया' और 'गोल' ये चार पाद हैं। गणित पाद में मंगलाचरण के अलावा ३२ आर्या हैं। अंकगणित, बीजगणित, भूमिति और त्रिकोण मिति सम्बन्धी विषयों का संक्षिप्त विवरण दिया गया है। उनमें दशगुणोत्तर संख्याओं के नाम, वर्ग, घन, वर्गमूल, घनमूल, त्रिभुज, वृत्त और अन्य क्षेत्र, इनके

क्षेत्रफल, घन, गोल इनके घनफल, भुजज्या-साधन, श्रेढी, त्रैराशिक, भिन्नकर्म, कुट्टक इत्यादि विषय हैं। आर्यभट्ट ने वृत्त की परिधि और व्यास का सूक्ष्म सम्बन्ध भी बताया –

चतुरधिकं शतमष्टगुणं द्वाषष्टिस्तथा सहस्राणाम्।
अयुतद्वयविष्कम्भस्यासन्नो वृत्तपरिणाहः ।।

(आर्यभटीयम्, गणितपाद, १०)

अर्थात् वृत्त का विष्कम्भ (व्यास) यदि अयुतद्वय (२००००) हो तो उसकी परिणाह (परिधि) ६२८३२ होगी इस आधार पर व्यास और परिधि का सम्बन्ध १:३.१४१६ है।

१.६.३ आर्यभटीयम् का वैशिष्ट्य –

आर्यभटीयम् स्वयं में कई विशेषताओं से परिपूर्ण है अत: इसका बड़ा महत्व भी है। आइए इसकी विशेषताओं की संक्षेप में चर्चा करते हैं।

१.६.३.१ अङ्कसंज्ञा –

ज्योतिष के ग्रन्थों में एक (१), दो (२), तीन (३)... इत्यादि संख्याओं के प्रकटन हेतु पद्य-रचना में भू, नेत्र, राम... आदि शब्दों के प्रयोगों की परम्परा रही है। किन्तु, आर्यभट्ट ने संख्याओं के संकेतार्थ इस परम्परा से इतर दूसरी पद्धति का आविष्कार किया है। उन्होंने अक्षरों की ही संख्या का निर्धारण वर्णमाला में उनके क्रमानुसार करके संख्याओं का प्रकटन अक्षर-विशेष से किया है।

अ = १ ए = १०००००००००

इ = १०० ऐ = १००००००००००

उ = १०००० ओ = १०००००००००००

ऋ = १००००० औ = १००००००००००००००

ऌ = १००००००००

क = १	च = ६	ट = ११	त = १६ प = २१
ख = २	छ = २	ठ = ७	थ = १७ फ = २२
ग = ३	ज = ८	ड = १३	द = १८ ब = २३
घ = ४	झ = ९	ढ = १४	ध = १९ भ = २४
ङ = ५	ञ = १०	ण = १५	न = २० म = २५
य = ३०	र = ४०	ल = ५०	व = ६०
श = ७०	ष = ८०	स = ९०	ह = १००

ऐसा लगता है कि इस पद्धति का आविष्कार भी आर्यभट्ट ने स्वयं ही किया होगा क्यूंकि प्राय: अन्यत्र इस प्रकार का अंक-प्रदर्शन नहीं मिलता है। इस पद्धति से बहुत ही कम शब्दों में बड़ी से बड़ी संख्याओं का ज्ञान हो जाता है। जहां सब ग्रहों के भगण बताने में अन्य पद्धति में ९ से १० श्लोक लगते हैं वहीं आर्यभट्ट ने दो ही श्लोकों में सभी ग्रहों के भगण पढ़ दिए हैं। इसीलिये जहां अन्य सिद्धान्त ग्रन्थों में मध्यमाधिकार के विषय ५० से ७० श्लोकों में प्रस्तुत किये जाते हैं वहीं इस ग्रन्थ में प्राय: उन्हीं विषयों का समावेश १० आर्या श्लोकों में ही कर दिया गया है।

किन्तु, जहां एक ओर संक्षिप्तीकरण इस पद्धति का गुण है वहीं दूसरी ओर इसमें अशुद्धि की सम्भावना अधिक होने का दोष भी है। एक भी अक्षर का हेर-फेर संख्याओं में भारी उलट-फेर कर सकता है। यही कारण है कि डा. केर्न के द्वारा संपादित पुस्तक में भू-भगण की संख्या का मान 'बु' के स्थान पर 'षु' होने के कारण मूल पुस्तक के भू-भगण की संख्या से ५७००० अधिक है।

१.६.३.२. भूभ्रमण-सिद्धान्त -

यद्यपि वेदों में भू-भ्रमण के संकेत यत्र-तत्र मिलते हैं तथापि ज्योतिष-शास्त्रीय इतिहास में आर्यभट्ट पहले ज्ञात गणितज्ञ थे जिन्होंने सर्वप्रथम भू के भ्रमण की बात कही है –

अनुलोमगतिर्नौस्थ: पश्यत्यचलं विलोमगं यद्वत्।
अचलानि भानि तद्वत् समपश्चिमगानि लङ्कायाम्।।

अर्थात् जिस प्रकार (चलती हुई) नौका में बैठा हुआ मनुष्य स्थिर (अचलायमान) वस्तुओं को नौका के विपरीत दिशा में जाता हुआ देखता है ठीक उसी प्रकार, (चलती हुई) पृथ्वी पर स्थित (मनुष्य) स्थिर नक्षत्रों को अपने पश्चिम क्षितिज की ओर जाते हुए (देखता है) ।

पृथ्वी के भ्रमण की गति को बताते हुए वो कहते हैं –

प्राणेनैति कलां भू.....।

अर्थात् प्राण नामक काल-परिमाण (पल का षष्ठांश) में पृथ्वी एक कला चलती है।

१.६.३.३. युगपद्धति -

आर्यभट्ट की युग पद्धति अन्य सिद्धांतों से भिन्न है। दशगीतिका के अनुसार –

काहो मनवो ढ१४ मनुयुगश्ख गतास्ते च६ मनुयुगछना२७ च।

इस ग्रन्थ में १ मनु में ७२ युग बताए गए हैं जबकि अन्य सिद्धांतों में युगों की संख्या ७१ बतलाई गयी है। 'सूर्यसिद्धान्त' आदि के सामान इसमें मन्वन्तर के आरम्भ में संधि नहीं बताई गयी है।

आर्यभट कलियुग का आरम्भ शुक्रवार को तथा महायुगारम्भ बुधवार को मानते हैं। सतयुग आदि चतुर्युगों की व्यवस्था भी आर्यभट के अनुसार अन्य सिद्धान्त ग्रन्थों की अपेक्षा भिन्न है।

यह ग्रन्थ अति संक्षिप्त और बोधगम्य है। यह ग्रन्थ ज्योतिष के नित्य व्यवहार में उपयोगी बनाने की दृष्टि से नहीं, बल्कि केवल सैद्धान्तिक महत्त्व के विषयों का संग्रह करने के उद्देश्य से लिखा है।

आर्यभट्ट के अतिरिक्त आर्यभट्ट द्वितीय का भी उल्लेख ज्योतिष-शास्त्रीय इतिहास में मिलता है जिनका काल शंकर बालकृष्ण दीक्षित जी ८७५ शक माना है।

बोध प्रश्न

प्र.५ निम्नलिखित वाक्यों में सही के आगे (√) का और गलत के आगे (×) का चिह्न लगाएं –

(क) 'आर्यभटीयम्' ग्रन्थ में २ पाद हैं। ()

(ख) 'ई' अक्षर से १०००० संख्या का बोध होता है। ()

(ग) 'प' से २१ संख्या का बोध होता है। ()

(घ) आर्यभट्ट ने पृथ्वी को चलायमान माना है। ()

(ङ) आर्यभट्ट के अनुसार १ मनु में ७२ युग होते हैं। ()

अभ्यास प्रश्न

प्र.५ आर्यभटीय-पद्धति में संख्याओं का ज्ञान कैसे करते हैं, लिखें।

_____

_____

_____

_____

बोध प्रश्न

प्र.६ रिक्त स्थानों की पूर्ति करें –

(क) कुसुमपुर का दूसरा नाम _____ है।

(ख) वृत्त का विष्कम्भ _____ होता है।

(ग) 'ध' से _____ संख्या का बोध होता है।

(घ) पृथ्वी की गति ५ प्राण में _____ कला होती है।

(ङ) आर्यभट्ट के अनुसार, कलियुग का आरम्भ _____ वार से होता है।

अभ्यास प्रश्न

प्र.६ 'अनुलोमगतिर्नौस्थ:'..... श्लोक का अर्थ लिखिए।

_____

_____

_____

_____

१.७ वराहमिहिर –

आचार्य वराहमिहिर त्रिस्कन्धात्मक ज्योतिषशास्त्र के पितामह कहे जा सकते हैं। क्योंकि वो एक ऐसे ज्योतिषी हैं जिन्होंने ज्योतिष के तीनों स्कन्धों का सांगोपांग वर्णन किया है। निश्चित तौर पर उनके द्वारा रचित ग्रन्थ भारतीय ज्योतिष के आधारभूत माने गए हैं।

१.७.१ वराहमिहिर का काल –

चूंकि वराहमिहिर ने स्वयं अपने काल इत्यादि का स्पष्ट तौर पर परिचय नहीं दिया है अंत: इनके काल का निर्धारण भी अन्त: और बाह्य साक्ष्यों का आधार पर ही सम्भव है।

पञ्चसिद्धान्तिका के रोमक सिद्धान्त के प्रकरण में यह लिखा गया है कि अहर्गण बनाने के लिए ४२७ शक को घटाया जाए –

सप्ताश्विवेदसंख्यं शककालमपास्य चैत्रशुक्लादौ।

(पञ्चसिद्धान्तिका, १/८)

सप्त (७) अश्वि (२) वेद (४); सप्ताश्विवेदसंख्यं (४२७) शककालम् अपास्य (घटाकर).....।

इस प्रकार ४२७ शक या ५०५ ई. यदि पञ्चसिद्धान्तिका का रचना-काल माना जाए तो शङ्कर बालकृष्णदीक्षित के शब्दों में उनका जन्म निश्चित ही ग्रन्थ-रचना के १५-२० वर्ष पहले ही हुआ होगा अत: उनका काल ५०५ ई. से ५१२ ई. माना जाना चाहिए। आइए इस सम्बन्ध में वराहमिहिर के ही एक अन्य ग्रन्थ बृहत्संहिता से एक अन्य उद्धरण लेते हैं। इसके अनुसार वराहमिहिर कहते हैं कि उनके समय में अयनान्त मृग अर्थात् मकर के आदि में उत्तरायण और कर्क के आदि में दक्षिणायन क्रमश: धनिष्ठा और आश्लेषा नक्षत्र में होता था–

साम्प्रतमयनं सवितु: कर्कटाद्यं मृगादितश्चान्यत्।

(बृहत्संहिता ३/१/१)

अयनांश की गति के आधार पर उनका काल छठी शताब्दी का आरम्भ माना जा सकता है। यहाँ तक तो बात हुई अन्त:साक्ष्यों के आधार पर। आइए, अब थोड़ा बाह्य साक्ष्यों पर दृष्टिपात करते हैं।

वराहमिहिर के समकालीन लेखकों ने किसी न किसी रूप में उन्हें उद्धृत किया है और परवर्ती लेखकों व टीकाकारों ने उनकी रचनाओं पर अपनी लेखनी चलाई है। परवर्ती कल्याणवर्मा ने अपने ग्रन्थ 'सारावली' में आचार्य वराहमिहिर का नाम बड़े ही आदर से लिया है –

विस्तरकृतानि मुनिभि: परिहृत्य पुरातनानि शास्त्राणि।
होरातन्त्रं रचितं वराहमिहिरेण संक्षेपात्।।

(सारावली १/३)

कल्याणवर्मा का समय विद्वानों ने ५०० शक (५७८ ई.) माना है। अत: निश्चित ही वराहमिहिर का काल इनके पूर्व का ही है। 'ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त' एवं 'खण्डखाद्य' के प्रणेता आचार्य ब्रह्मगुप्त ने अपने ग्रन्थों में वराहमिहिर की चर्चा की है। चूंकि ब्रह्मगुप्त ने अपने जन्म-समय की स्पष्ट चर्चा की है अत: इससे भी स्पष्ट है कि वराहमिहिर ५०० शक अर्थात् छठी शताब्दी के उत्तरार्ध से पूर्व हुए हैं। डा. गोरख प्रसाद ने वराहमिहिर का जन्म-काल ४२७ शक के पश्चात् का माना है।

१.७.२ वराहमिहिर का परिचय –

इतिहासकार डा. उदयनारायण राव ने अपने ग्रन्थ 'गुप्त राजवंश तथा उसका युग' नामक अपनी पुस्तक में लिखा है कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के दरबार में स्थित ९ विद्वानों(नवरत्नों) में से एक वराहमिहिर थे। वस्तुत: इसका आधार कालिदास के 'ज्योतिर्विदाभरण' का एक श्लोक है –

धन्वन्तरिक्षपणकामरसिंहशंकुवेतालभट्ट घटखर्परकालिदासा: ।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपते: सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नवविक्रमस्य।।

अर्थात् धन्वन्तरि, क्षपणक, अमरसिंह, शङ्कु, वेतालभट, घटखर्पर, कालिदास, वराहमिहिर, वररुचि ये ९ रत्न राजा (विक्रमादित्य) की सभा के थे।

वराहमिहिर के जन्मस्थान को लेकर भिन्न-भिन्न मत हैं। चूंकि एक पाठ में स्थान कापित्थ आया है तो दूसरे में काम्पिल्य इन नामों में भी विवाद है सुधाकर द्विवेदी वर्तमान कालपी को अपभ्रंश मानते हुए उनका मूल निवास उत्तर प्रदेश मानते हैं तो कोई उज्जयिनी का निवासी मानता है। डा. नेमिचन्द्र शास्त्री भी आचार्य वराहमिहिर का जन्म कालपी नगर में ५०५ ई में मानते हुए कालान्तर में उनके उज्जयिनी-निवास की बात करते हैं। उज्जैन के पास कपित्थ नामक ग्राम के निवासी आदित्यदास

के पुत्र उन्हीं से विद्या का अध्ययन कर (तदवाप्तबोधः) सूर्य से वर प्राप्त कर (सवितृलब्धवरप्रसाद) वराहमिहिर द्वारा पूर्व काल के मुनियों के ग्रन्थों को देखकर यह सुन्दर होरा ग्रन्थ बनाया गया है –

आदित्यदासतनयस्तदवाप्तबोधः कापित्थके सवितृलब्धवरप्रसादः।
आवन्तिको मुनिमतान्यवलोक्य सम्यग्घोरां वराहमिहिरो रुचिराञ्चकार।।

(बृहज्जातकम्, उपसंहार ९)

आचार्य वराहमिहिर पूर्णरूपेण वैष्णव और सूर्योपासक थे चूंकि बृहत्संहिता में आचार्य वराहमिहिर ने चैत्रादि बारह मासों के नाम वैष्णवपरक ही रखे हैं –

मृगशीर्षाद्याः केशवनारायणमाधवाः सगोविन्दाः।
विष्णुमधुसूदनाख्यौ त्रिविक्रमो वामनश्चैव।।

(बृहत्संहिता १०५/१४)

१.७.३ त्रिस्कन्धमर्मज्ञ वराहमिहिर –

आचार्य वराहमिहिर ही एक ऐसे श्रेष्ठ त्रिस्कन्धज्ञ हुए हैं जिन्होंने अपने ज्योतिष के ग्रन्थों में तीनों स्कन्धों का विधिवत् निरूपण किया है। आचार्य वराहमिहिर से परवर्ती आज तक कोई भी ऐसा आचार्य नहीं हुआ जिसने ज्योतिषशास्त्र के तीनों स्कन्धों पर अपनी लेखनी उठाई हो।

त्रिस्कन्धज्ञ की प्रशंसा करते हुए आचार्य वराहमिहिर लिखते हैं कि जो व्यक्ति गणित स्कन्ध में सुष्ठु ज्ञान रखता है तथा लग्न आदि छाया शंकु आदि के माध्यम से अथवा जला-घटिका इत्यादि से सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर लेता है तथा होरा, संहिता का सम्यक् ज्ञान रखता है उसकी वाणी मिथ्या कभी नहीं होती –

तंत्रे सुपरिज्ञाते लग्ने छायाम्बुयन्त्रसंविदिते।
होरार्थे च सुरूढे नादेष्टुर्भारती वन्ध्या।।

(बृहत्संहिता, २/१५)

ज्योतिषशास्त्र को महार्णव (ज्योतिषशास्त्रमहार्णवप्रतरणे.. – बृहज्जातक १/२) की संज्ञा के महत्त्व को प्रकट करते हुए कहते हैं –

अप्यर्णवस्य पुरुषः परतरन् कदाचिदासादयेत् अनिलवेगवशेन पारम्।
न त्वस्य कालपुरुषाख्यमहार्णवस्य गच्छेत् कदाचिदनृषिर्मनसापि पारम्।।

१.७.४ वराहमिहिर का कर्तृत्व –

प्रिय अध्येता! जैसा की मैंने पूर्व में आपसे चर्चा की कि वराहमिहिर ने ज्योतिष के

भी स्कन्धों पर अपनी सशक्त लेखनी चलाई है। उनका सबसे विशाल एवं महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ बृहत्संहिता है जिसका प्रणयन उन्होंने सबसे अंत में किया। जैसा कि वह स्वयं कहते हैं –

वक्रानुवक्रास्तमयोदयाद्यास्ताराग्रहाणां करणे मयोक्ता: ।
होरागतं विस्तरतश्च जन्मयात्राविवाहैस्सह पूर्वमुक्तम्।।

(बृहत्संहिता, १/१०)

अर्थात् ताराग्रहों (मंगल, बुध, गुरु, शुक्र और शनि) के वक्र, अनुवक्र, उदय, अस्तमय आदि (विविध सैद्धान्तिक विषयों) का वर्णन मैंने करण ग्रन्थ (पञ्चसिद्धान्तिका) में किया है। होरा (स्कन्धान्तार्गत) विषयों का जन्म-यात्रा-विवाह (विषयक) ग्रंथों के साथ विस्तारपूर्वक वर्णन मैंने इसके पहले ही कर दिया है।

अत: बृहत्संहिता में उपस्थापित ज्योतिषीय सिद्धांत बड़े ही महत्त्वपूर्ण, प्रासंगिक और सम-सामयिक हैं। यहाँ पर मैंने 'उपस्थापित' शब्द का प्रयोग किया है न कि 'प्रतिपादित' चूंकि वराहमिहिर स्वयं कहते हैं '**विस्तरकृतानि मुनिभि: परिहृत्य पुरातानानि शास्त्राणि सारं समुद्धृत्य..**' अर्थात् पूर्व में कथित आचार्यों के मतों को संकलन कर उसका सार-रूप अपने मत के साथ-साथ इस ग्रन्थ में प्रस्तुत कर रहा हूँ।

यहां आपके मन में जिज्ञासा उठ रही होगी कि बृहत्संहिता के पूर्व अन्य किन ग्रंथों की रचना वराहमिहिर ने की। तो आइए, इस पर एक दृष्टिपात करते हैं।

१.७.४.१ पञ्चसिद्धान्तिका –

सर्वप्रथम पञ्चसिद्धान्तिका नामक करण ग्रन्थ की रचना उन्होंने की। जैसा कि पूर्व में चर्चा की गयी है कि इसमें तत्कालीन पांच सिद्धांत ग्रंथों - सौर, पितामह वाशिष्ठ, रोमक और पौलिश का वर्णन है, जिसमें ग्रहों की गति-स्थिति-ग्रहण आदि के साधन सम्बन्धी विषयों की चर्चा है। इन सभी सिद्धान्तों का संक्षेपत: संकलन करके इन पाँचों का गणित की दृष्टि से आंकलन भी किया है। उनके अनुसार सौर सिद्धांत इन सभी में उत्तम है। -

पौलिशकृतो स्फुटोऽसौ तस्यासन्नस्तु रोमक: प्रोक्त: ।
स्पष्टतर: सावित्र: परिशेषौ दूरविभ्रष्टौ।।

(पञ्चसिद्धान्तिका, १/४)

अर्थात् पौलिश सिद्धान्त गणितीय दृष्टि से स्पष्ट है, रोमक भी उसी के आस-पास है। सबसे स्पष्ट सौर सिद्धान्त है अन्य दो (पैतामह और वाशिष्ठ) अत्यन्त अशुद्ध हैं। यह ग्रन्थ सिद्धान्त स्कन्ध है। इस ग्रन्थ पर महामहोपाध्याय पण्डित सुधाकर द्विवेदी और जी थिबो कृत टीका भी उपलब्ध है।

इसके अलावा विवाहपटल, बृहज्जातक, लघुजातक, बृहद्योगयात्रा और फ़िर अंत में बृहत्संहिता इनकी रचना वराहमिहिर ने की। इनमें विवाहपटल, बृहद्योगयात्रा और बृहत्संहिता ये संहिता स्कन्ध के अंतर्गत आते हैं। बृहज्जातक और लघुजातक ये दोनों होरा या फलित शाखा के ग्रन्थ हैं।

१.७.४.२ बृहत्संहिता

बृहत्संहिता भारतीय ज्योतिष के इतिहास में मील का पत्थर है। इस ग्रन्थ ने भारतीय ज्योतिष की प्रतिष्ठा में चार चाँद लगाने का काम किया है। संहिता ग्रन्थ होने के कारण इसमें नगर, देश, द्वीप बड़े भूभाग आदि पर ग्रह-चार के द्वारा होने वाले प्राकृतिक प्रभावों का अध्ययन किया जाता है। इसकी दृष्टि से यह ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्व का है। इसमें प्रथम दो अध्याय क्रमश: 'उपनयन' और 'साम्वत्सर' नाम के हैं जिनमें क्रमश: ज्योतिषशास्त्र, संहिता इत्यादि के स्वरुप और साम्वत्सर (ज्योतिषी) के लक्षणों का सविस्तार वर्णन है। इसके पश्चात् अध्याय संख्या ३ से लेकर ११ तक सूर्य, चन्द्र, राहू और अन्य ग्रहों के चार (संचरण) का फल वर्णित है। अध्याय सं १२ व् १३ में क्रमश: अगस्त्य और सप्तर्षियों के उदयास्त का वर्णन फल सहित किया गया है। १४ वें नक्षत्रकूर्माध्याय में प्राचीन भारतवर्ष के नक्षत्राधारित ९ विभागों का वर्णन है। इसके बाद नक्षत्रव्यूह, ग्रहयुद्ध, ग्रहसमागम का वर्णन है उसके बाद वर्षफल नमक अध्याय में विविध संवत्सरों के पहला विचार मिलते हैं जिनके आधार पर आजकल पंचांगों में वर्षों के फल लिखे जाते हैं। गर्भलक्षण, गर्भसंभव, स्वात्याषाढीयोग, सद्योवर्षण इत्यादि अध्यायों में संभावित वर्षा के योगों का विचार किया गया है। इसके बाद कुसुमफल, संध्या, दिग्दाह, भूकम्प, उल्का, परिवेष (मण्डल), गन्धर्वनगर (विशेष आकाशीय स्थिति), प्रतिसूर्य, निर्घात – इन सृष्टि के चमत्कारों का वर्णन है। इसके बाद धान्यादिकों के मूल्य, इन्द्रध्वज और नीराजन का वर्णन है। फिर खञ्जन नामक पक्षी के दर्शन-फल और दिव्य, अन्तरिक्ष, भौम उत्पातों का वर्णन है। इसके पश्चात् मयूरचित्रक, पुष्यस्नान, पट्टलक्षण, खड्गलक्षण का वर्णन है। इसके बाद वास्तुप्रकरण के अंतर्गत विविध विषयों का विस्तार से वर्णन है। इसके अतिरिक्त दकार्गल (धरती के नीचे जल का) विचार,शकुन विचार, स्त्री-पुरुष-लक्षण इत्यादि भी वर्णित हैं। इस पर केर्न की टीका के अतिरिक्त अच्युताननन्द झा और सुरेश चन्द्र मिश्र की टीकाएँ उपलब्ध हैं।

१.७.४.२ बृहज्जातक

यह होरा शास्त्र इस नाम से भी प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ की प्रशंसा परवर्ती आचार्यों कल्याणवर्मा आदि ने भी की है। इस ग्रन्थ में ग्रहों और राशियों के संपूर्ण परिचय के अतिरिक्त वियोनिजन्म, निषेक, अष्टकवर्ग, आयुर्दाय, दशान्तर्दशा, विविध राजयोग, नाभसयोग, कर्माजीव, स्त्रीजातक आदि विषयों का वर्णन है। बृहज्जातक पर भटोत्पल की टीका के अतिरिक्त बलभद्र, महीदास, महीधर, रुद्र (दशाध्यायी), सुबोधिनी इत्यादि की टीकाएं हैं।

भटोत्पल ने वराहमिहिर के प्राय: सभी ग्रन्थों की टीका लिखी है। यद्यपि वराह के ग्रन्थ अपने आप में बहुत महत्त्वपूर्ण और प्रचलित हैं किन्तु भटोत्पल की टीकाओं ने उन्हें और भी सुबोध्य और लोकप्रिय बना दिया है। भटोत्पल की टीकाओं का काल प्राय: ८८८ शक (वराह के लगभग ४०० वर्ष बाद का) है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि हालांकि आरम्भ में वराहमिहिर ने करण-ग्रन्थ की रचना की किन्तु बाद में उनका झुकाव ग्रहों के प्रभाव के अध्ययन की ओर ज्यादा हो गया और विशेषकर अनेकों प्रकार के सृष्टिगत-चमत्कार, पदार्थों के गुण-धर्म और व्यवहार के प्रति उनका ध्यान अधिक आकृष्ट हुआ। वराहमिहिर का योगदान भारतीय ज्योतिष में अतुल्य है। बिना इनकी चर्चा किये भारतीय-ज्योतिष का इतिहास पूर्ण नहीं हो सकता है। वह सच्चे अर्थों में भारतीय-ज्योतिष रूप आकाश के देदीप्यमान मिहिर (सूर्य) के रूप में सदैव ही विराजमान रहेंगे।

बोध प्रश्न

प्र.७ निम्नलिखित वाक्यों में सही के आगे (√) का और गलत के आगे (×) का चिह्न लगाएं –

(क) 'पञ्चसिद्धान्तिका' संहिता-स्कन्ध का ग्रन्थ है। ()

(ख) वराहमिहिर के समय दक्षिणायन धनिष्ठा नक्षत्र में होता था। ()

(ग) वराहमिहिर का जन्म-काल छठी शताब्दी के बाद का है। ()

(घ) अगस्त्यचार का वर्णन बृहज्जातक में है। ()

(ङ) इन्द्रध्वज का वर्णन बृहत्संहिता में नहीं है। ()

अभ्यास प्रश्न

प्र.७ पञ्चसिद्धान्तिका के विषय में लिखें।

_____

_____

_____

१.८ सारांश –

ज्योतिषीय अवधारणाएं, संकल्पनाएँ एवं सिद्धान्त ऋग्वेद, तैत्तिरीयोपनिषद्, शतपथ ब्राह्मण आदि वैदिक वाङ्मय में पग-पग पर दृष्टिगोचर होते हैं। ऋषियों ने वैदिक वाङ्मय में एकत्र इन ज्योतिषीय विषयों की इसलिए नहीं की चूंकि तत्कालीन ऋषि का उद्देश्य ज्योतिष आदि किसी शास्त्र-विशेष का प्रवर्तन करना नहीं था। कालान्तर में ज्योतिष के १८ प्रवर्तक आचार्य माने गए हैं। महात्मा लगध ज्योतिष शास्त्र के आचार्य रहे जिनके द्वारा प्रतिपादित सूत्रों का संकलन 'ऋक्ज्योतिष', 'याजुष ज्योतिष' एवं 'अथर्व ज्योतिष' इत्यादि नाम से उनके शिष्यों ने किया। वेदांग ज्योतिष 'ऋक् ज्योतिष', 'याजुष् ज्योतिष' एवं 'अथर्व ज्योतिष' के सम्मिलित रूप को कहते हैं।'ऋक् ज्योतिष' में ३६ श्लोक और 'याजुष् ज्योतिष' में ४४ श्लोक हैं। इन दोनों में विषय तो प्रायः एक ही है किन्तु शब्दों और पाठ-भेदों का अंतर है। अथर्व ज्योतिष में १६२ श्लोक पाए जाते हैं जो कि १४ प्रकरणों में विभक्त हैं। ऋक् ज्योतिष में युग, अयन, वर्ष, मास, ऋतु, दिनमान, पर्वगण, पर्वसम्मित नक्षत्र, पल इत्यादि मान, लग्न, ग्रह-गति आदि विषयों का वर्णन किया गया है। अथर्व ज्योतिष पितामह-कश्यप-संवाद रूप है। इसमें १५ मुहूर्तों की भी चर्चा है। आर्यभट्ट के ग्रन्थ आर्यभटीयम् के 'दशगीतिका', 'गणित', 'कालक्रिया' और 'गोल' ये चार पादों में कुल १२० श्लोक हैं। आर्यभट्ट ने संख्याओं के संकेतार्थ नई पद्धति का आविष्कार किया है। आर्यभट्ट पहले ज्ञात गणितज्ञ थे जिन्होंने सर्वप्रथम भू के भ्रमण की बात कही। अयनांश की गति के आधार पर वराहमिहिर का काल छठी शताब्दी का आरम्भ माना जा सकता है। पञ्चसिद्धान्तिका, विवाहपटल, बृहज्जातक, लघुजातक, बृहद्योगयात्रा और फ़िर अंत में बृहत्संहिता इनकी रचना वराहमिहिर ने की। इनमें विवाहपटल, बृहद्योगयात्रा और बृहत्संहिता ये संहिता स्कन्ध के अंतर्गत आते हैं। बृहज्जातक और लघुजातक ये दोनों होरा या फलित शाखा के ग्रन्थ हैं।

१.९ शब्दावली –

प्रणम्य - अभिवादन करके।

प्रवक्ष्यामि - कहूंगा।

दिनर्त्वयनमासाङ्गं - दिवस, ऋतु, अयन और मास जिसके अङ्ग हैं।

प्रपद्येते – प्राप्त करते हैं।

श्रविष्ठादौ - श्रविष्ठा (धनिष्ठा) के आरम्भ में।

सूर्याचन्द्रमसावुदक् - सूर्य और चन्द्रमा उत्तर की ओर।

सार्पार्धे - आश्लेषा) के आधे पर।

त्रिंशत् – ३००।

सषट्षष्टि: -६६।

अह्नां - दिनों का।

अब्दम् - वर्ष।

विष्कम्भ: - व्यास।

अयुतद्वयम् – २००००।

परिणाह: - परिधि।

नौस्थ: - नौका में बैठा हुआ।

तदवाप्तबोध: - उन्हीं से ज्ञान प्राप्त करने वाला (मैं वराहमिहिर)।

सवितृलब्धवरप्रसाद: - सूर्य से वर प्राप्त किया है जिसने (ऐसा मैं वराहमिहिर)।

१.१० बोध प्रश्नों के उत्तर -

प्र.१ (क) (√) (ख) (×) (ग) (×) (घ) (×) (ङ) (√)

प्र.२ (क) १४००ई.पू. से १५०० ई.पू.

(ख) डा. शाम शास्त्री

(ग) ३६

(घ) १४

(ङ) ३

प्र.३ (क) (×) (ख) (√) (ग) (×) (घ) (√) (ङ) (×)

प्र.४ (क) आर्द्रा

(ख) २

(ग) १५

(घ) ४ अंगुल

(ङ) कर्म

प्र.५ (क) (×) (ख) (×) (ग) (√) (घ) (√) (ङ) (√)

प्र.६ (क) पाटलिपुत्र

(ख) अयुतद्वय (२००००)

(ग) १९

(घ) ५ कला

(ङ) शुक्रवार

प्र.७ (क) (×) (ख) (√) (ग) (×) (घ) (×) (ङ) (×)

१.११ सन्दर्भ ग्रन्थ सूची –

१. झारखंडी शिवनाथ (१९९०) भारतीय ज्योतिष (मूल – शंकर बालकृष्ण दीक्षित), उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ (द्वितीय संस्करण)।

२. प्रसाद गोरख (१९९०), भारतीय ज्योतिष का इतिहास, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ।

१.१२ सहायक ग्रन्थ सूची –

१. शास्त्री नेमीचन्द्र (२०१४), भारतीय ज्योतिष, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली।

२. शास्त्री गिरिजा शंकर (२००१), आचार्य वराहमिहिर, ज्योतिष कर्मकांड एवं अध्यात्म शोध संस्थान, इलाहाबाद।

३. द्विवेदी सुधाकर (१८९२), गणक तरंगिणी।

१.१३ निबन्धात्मक प्रश्न –

१. वेदांग ज्योतिष का परिचय दीजिए।

२. आर्यभटीयम में वर्णित विषयों पर प्रकाश डालिए।

३. भारतीय ज्योतिष के इतिहास में वराहमिहिर की भूमिका को स्पष्ट कीजिए।

इकाई - 2 लल्ल, ब्रह्मगुप्त, वटेश्वर एवं श्रीपति

इकाई संरचना

२.१ प्रस्तावना
२.२ उद्देश्य
२.३ सिद्धान्त स्कन्ध का प्रगति-काल
२.४ ब्रह्मगुप्त
  २.४.१ ब्रह्मगुप्त का परिचय और काल
  २.४.२ ब्रह्मगुप्त का कर्तृत्व
    २.४.२.१ ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त
    २.४.२.२ खण्डखाद्य
  २.४.३ ब्रह्मगुप्त का वैशिष्ट्य
२.५. लल्ल
२.६ वटेश्वर
२.७ श्रीपति
२.८ सारांश
२.९ शब्दावली
२.१० बोध प्रश्नों के उत्तर
२.११ सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
२.१२ सहायक ग्रन्थ सूची
२.१३ निबन्धात्मक प्रश्न

२.१ प्रस्तावना –

प्रिय अध्येताओं! ज्योतिष-शास्त्र के एम.ए. द्वितीय वर्ष के तृतीय पत्र के द्वितीय खण्ड की द्वितीय इकाई में आपका स्वागत है। यह बड़े ही संतोष का विषय है कि आपके पाठ्यक्रम के इस खण्ड में भारतीय-ज्योतिष-शास्त्र की समृद्ध परम्परा के विषय में विस्तार से चर्चा की जा रही है। पिछली इकाई में हमने भारतीय ज्योतिष के स्वतन्त्र स्वरुप की प्रतिष्ठा-काल पर चर्चा की थी। प्रतिष्ठा काल से मेरा तात्पर्य यह कतई नहीं है की लगध और वेदांग ज्योतिष के पूर्व भारतीय-ज्योतिष का अस्तित्व नहीं था और इस बारे में विस्तार से पिछली इकाई में मैंने चर्चा भी की है। यहाँ प्रतिष्ठा काल से मेरा अभिप्राय केवल यही है की यद्यपि लगध के पूर्व ज्योतिष-शास्त्रीय विषय वैदिक साहित्य में मिलते हैं किन्तु उनकी चर्चा केवल प्रसंगवशात ही है न की स्वतंत्र शास्त्र के अंग के रूप में।

वस्तुत: स्वतंत्र रूप से ज्योतिष-शास्त्रीय ग्रंथों का प्रणयन बाद में हुआ जब पाराशर, लगध इत्यादि के ग्रन्थ प्रकाश में आए। इसी कारण से मैं लगध, आर्यभट्ट और वराहमिहिर के काल को भारतीय ज्योतिष का उत्पत्ति काल न कहकर प्रतिष्ठा काल कहता हूँ। इस काल का यह प्रभाव पड़ा कि स्वतंत्र रूप से भारतीय ज्योतिष और गणित के क्षेत्र में सिद्धांतों का उपस्थापन और तत्सम्बद्ध ग्रंथों का प्रणयन तेजी से आरम्भ हो गया। अत: इस काल-खण्ड को **सिद्धान्त स्कन्ध का प्रगति-काल** कहना चाहिए। इस काल के कुछ विद्वानों की चर्चा इस इकाई में करेंगे जिन्होंने भारतीय ज्योतिष के इतिहास में अपने कर्तृत्व से अपनी अविस्मरणीय उपस्थिति दर्ज कराई। इन विद्वानों में से लल्ल, ब्रह्मगुप्त, वटेश्वर और श्रीपति की चर्चा इस इकाई में की जाएगी।

जैसा कि पूर्व में भी मैंने आपसे निवेदन किया था कि पाठ्यक्रम की सीमा को देखते हुए हम विद्वानों की संक्षिप्त चर्चा करेंगे अत: विस्तृत अध्ययन के लिए आपको इन विद्वानों के मूलग्रंथों के साथ-साथ प्रामाणिक ऐतिहासिक ग्रन्थों को भी देखना चाहिए।

२.२ उद्देश्य –

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आप –

- ज्योतिष में लल्ल के योगदान को विस्तारपूर्वक निरूपित कर सकने में समर्थ हो सकेंगे।
- भारतीय ज्योतिष के प्रगति-काल का निरूपण करने में कुशल हो सकेंगे।
- ब्रह्मगुप्त और उनके कर्तृत्व का परिचय दे सकने में समर्थ हो सकेंगे।

- वटेश्वर और उनके ग्रन्थ का स्वरूप को समझा सकने में कुशल हो सकेंगे।
- श्रीपति की कृति के वर्णन में निपुण हो सकेंगे।

२.३ सिद्धान्त स्कन्ध का प्रगतिकाल –

प्रिय बंधुओं! सिद्धान्त स्कन्ध के प्रगति-काल से मेरा तात्पर्य यह कतई नहीं समझा जाना चाहिए कि इसके पहले या बाद में सिद्धांत ग्रंथों की रचना नहीं हुई। ऐसा अभिप्राय मेरा कतई नहीं है। यहाँ मेरा आशय यह है कि वराहमिहिर और आर्यभट्ट ने जो राह दिखाई या सिद्धान्त-ज्योतिष के क्षेत्र में जो नई युक्तियों और विचारधाराओं के द्वार खोले उन विचारों ने परवर्ती आचार्यों को बहुत प्रेरित किया और पूर्व की तुलना में ज्योतिष के खासकर सिद्धांत ज्योतिष के स्वतन्त्र ग्रन्थों का प्रणयन अधिक मात्रा में हुआ। फलत: ज्योतिष के क्षेत्र में नई-नई प्रतिभाओं और विचारों का उदय होने के कारण इस शास्त्र को बड़ी गति मिली। यही वजह है कि इस काल-खण्ड को **सिद्धांत ज्योतिष का प्रगति-काल** समझना अधिक उचित होगा।

मेरे कथन से यह भी बिलकुल नहीं समझना चाहिए कि केवल सिद्धांत-स्कंध के क्षेत्र में ही शोध ने गति पकड़ी बल्कि इसे यूं समझें कि उस समय ज्योतिष-शास्त्र को समग्रता की दृष्टि से देखा जाता था। आज की तरह शास्त्र की दुर्दशा नहीं थी कि बस फलित-स्कन्ध के किसी मूल ग्रन्थ के आरंभिक २-३ अध्याय या एक-दो द्वितीयक सामग्री पढ़ ली और बन गए ज्योतिषी! अगर आप बृहत्संहिता के साम्वत्सरसूत्राध्याय को पढ़े जिसमें ज्योतिषी के लक्षण, योग्यता और अधिकारित्व की बात की गयी है तो निश्चित ही आपको थोड़ा अंदाज़ा अवश्य हो जाएगा कि वर्त्तमान-कालीन ज्योतिषी वराहमिहिर के उक्त पैमाने पर कितना खरे उतरते हैं।

यहाँ मेरे कहने का उद्देश्य वर्तमान स्थिति का दूषण करना कतई नहीं है किन्तु मेरे कहने से दो बातें स्पष्ट तौर पर समझी जा सकती हैं।

पहली, वराहमिहिर ने अपने ग्रन्थ में ज्योतिषी के त्रिस्कन्धज्ञ होने की जो बात कही है वह लक्षण निश्चित ही उस समय चरितार्थ होता था और जब तक निर्धारित मानकों के आधार पर विद्वान् को परीक्षण में खरा नहीं पाया जाता था तब तक उसे एक ज्योतिषी के रूप में राज्याश्रय नहीं मिलता था और उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा नहीं होती थी। यही कारण है कि भारतीय ज्योतिष के इतिहास में जितने भी प्रसिद्ध ज्योतिषी हुए हैं उनमें से प्राय: सभी किसी न किसी राजा के दरबार में प्रतिष्ठित थे। दूसरे शब्दों में कहूं तो, ज्योतिष के किसी एक स्कंध में प्रवीण को उस समय ज्योतिषी ही नहीं माना

जाता था। इसलिए विद्वान् ज्योतिषी सिद्धांत के साथ-साथ फलित और संहिता का भी जानकार होता था। हाँ यह अलग बात है की अभिरुचि के अनुसार किसी का झुकाव किसी एक स्कंध की और अधिक तो दूसरे का दूसरे स्कन्ध की और अधिक हो। ऐसे में ज्योतिषी अपनी अभिरुचि व कौशल के अनुसार ग्रंथों का प्रणयन करता है और इस क्रम में तद्विषय-सम्बद्ध अपने विचारों और सिद्धांतों का प्रतिपादन करता है।

दूसरी बात यह है कि किसी-किसी काल-खण्ड में कुछ ऐसे विचारक विद्वान् हो जाते हैं जो संपूर्ण काल-खण्ड को प्रभावित कर देते हैं। जैसा कि वराहमिहिर और आर्यभट्ट ने किया। इनकी वजह से इस काल-खंड में सिद्धान्त-स्कंध के प्रति लोगों की रुचि बढ़ी और प्रतिभाशाली युवाओं का झुकाव सिद्धान्त की ओर अधिक हो गया। यही कारण है कि परवर्ती आचार्यों यथा लल्ल, ब्रह्मगुप्त, वटेश्वर आदि ने सिद्धान्त-ज्योतिषीय ग्रंथों की रचनाएं अधिक कीं। अत: इस काल-खण्ड को **सिद्धान्त-स्कन्ध का प्रगति-काल** कहना अधिक युक्तिसङ्गत होगा। तो आइए, कुछ बात उस काल-खण्ड की भी हो जाए।

मित्रों! भारतीय ज्योतिष के इतिहास का प्रत्येक काल-खण्ड अपने में एक विशेषता को समेटे हुए है। कोई भी काल-खण्ड किसी अन्य से कम या अधिक नहीं है। वस्तुत: काल-खण्ड तो उस शास्त्र की इतिहास-यात्रा को समझने का एक माध्यम है। इस दृष्टि से मैं यह कह सकता हूँ कि भारतीय ज्योतिष के सिद्धान्त स्कन्ध ने इस काल-खण्ड से अपने विकास की गति पकड़ ली थी। आपके मन में यह प्रश्न निश्चय ही उठ रहा होगा कि इस काल-खण्ड के प्रसिद्ध विद्वान् ज्योतिषी कौन थे? कुछ प्रसिद्ध ज्योतिर्विद् इस प्रकार हैं – **श्रीषेण, विष्णुचन्द्र, ब्रह्मगुप्त, लल्ल, पद्मनाभ, श्रीधर, महावीर, बलभद्र, वित्तेश्वर, मुंजाल, आर्य भट्ट द्वितीय, पृथूदकस्वामी, भटोत्पल, विजयनंदि, भानुभट्ट, वटेश्वर, श्रीपति, भोजराज** और **दशबल**। ये उन विद्वानों की सूची है जिनके ग्रन्थ अद्यावधि मिलते हैं इसके अतिरिक्त अन्य भी ज्योतिषी होंगे जिनके ग्रन्थ वर्त्तमान में उपलब्ध नहीं होते हैं। इन विद्वानों में चार का अध्ययन आपको इस इकाई में करना है, जो इस प्रकार हैं- ब्रह्मगुप्त, लल्ल, वटेश्वर और श्रीपति। ये क्रम इनके काल के अनुसार है। इन चारों का योगदान अविस्मरणीय है। आइए, क्रमश: इन पर थोड़ी चर्चा कर ली जाए।

२.४ ब्रह्मगुप्त -

उपरिलिखित पाठ्यांश में ब्रह्मगुप्त का नाम सबसे पहले है चूंकि काल-क्रम में ये अन्य तीनों से पूर्व में आते हैं। अत: आइए, सर्वप्रथम चर्चा इन्हीं की करते हैं।

ब्रह्मगुप्त गणित-ज्योतिष के बहुत बड़े आचार्य थे। वराहमिहिर और आर्यभट्ट के बाद और भास्कर के पहले जिन भारतीय गणितज्ञों पर अधिक शोध-कार्य हुए उनमें ब्रह्मगुप्त का नाम सर्वोपरि है। भास्कर ने इनके ग्रन्थ ब्राह्म-स्फुट-सिद्धान्त को आधार बनाकर ही अपने ग्रंथ सिद्धान्त शिरोमणि की रचना की। भास्कराचार्य ने इनको 'गणकचक्रचूड़ामणि' कहकर इनके प्रति अपनी अगाध श्रद्धा व्यक्त की है। इसी से ब्रह्मगुप्त की महत्ता को समझा जा सकता है।

२.४.१ ब्रह्मगुप्त का परिचय और काल –

ब्रह्मगुप्त गुजरात के आबू पर्वत के निकट दक्षिण मारवाड़ क्षेत्र के भिलमाल या भीनमाल के निवासी थे। यह स्थान सातवीं शताब्दी में जब कि चीनी यात्री ह्वेनसांग भारत आया था उत्तर गुजरात की राजधानी था। इसका उल्लेख ह्वेन्सांग ने अपने ग्रंथ में भी किया है। ब्रह्मगुप्त ने अपना सिद्धान्त-ग्रन्थ 'ब्राह्म-स्फुट-सिद्धान्त' तत्कालीन चापवंशीय नरेश के काल में लिखा था जिसके राज्य में भिल्लमालकाचार्य' के रूप में उनकी ख्याति थी। इनका जन्म शक ५२० में हुआ था। इनके पिता का नाम जिष्णुगुप्त था।

श्रीचापवंशतिलके श्रीव्याघ्रमुखे नृपे शकनृपाणाम्।
पञ्चाशत्संयुक्तैर्वर्षशतै: पञ्चभि ५५० रतीतै: ।।
ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त: सज्जनगणितज्ञगोलवित्प्रीत्यै।
त्रिंशद्वर्षेण कृतो जिष्णुसुतब्रह्मगुप्तेन।।

(ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त)

अर्थात् श्रीचापवंश के श्रीमान् व्याघ्रमुख राजा के काल में (**श्रीचापवंशतिलके श्रीव्याघ्रमुखे**) ५५० शक में (**पञ्चाशत्संयुक्तैर्वर्षशतै: पञ्चभिरतीतै:**) ३० वर्ष (**त्रिंशद्वर्षेण**) की अवस्था में मुझ श्रीमान् जिष्णु के पुत्र ब्रह्मगुप्त के द्वारा सज्जन गणितज्ञों और खगोलवेत्ताओं की प्रसन्नता के लिए (**सज्जनगणितज्ञगोलवित्प्रीत्यै**) किया गया है।

अल्बरूनी के ग्रन्थ के आधार पर प्रो. साचो कहते हैं कि " प्राच्य-सुधार के इतिहास में ब्रह्मगुप्त का स्थान बहुत ऊंचा है। टालमी से पहले अरबवासियों को ब्रह्मगुप्त ने ज्योतिषशास्त्र का ज्ञान सिखाया क्योंकि उस समय के अरबी भाषा के साहित्य में ब्रह्मगुप्त के ग्रंथों ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त और खण्डखाद्य का अरबी भाषा में अनुवाद क्रमश: 'अस सिन्ध हिन्द' और 'अल अरकंद' इस नाम से मिलता है। अलबरूनी स्वयं कहता है कि उसके काल में सिंध क्षेत्र में ब्रह्मगुप्त के ग्रंथों का बहुत प्रचार था। उपरिवर्णित श्लोक पर ध्यान दें तो यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ब्रह्मगुप्त गोल और गणित दोनों की

पृथक् किन्तु सम्बद्ध सत्ता स्वीकारते थे और उनकी दोनों में ही पकड़ थी। इतना ही नहीं बल्कि उस समय तक गणित और खगोल दोनों को अलग किन्तु सम्बद्ध विषय मानकर उनका अध्ययन होता था, अन्यथा ब्रह्मगुप्त **सज्जनगणितज्ञगोलवित्प्रीत्यै** यह नहीं कहते। वह पहले आचार्य थे जिन्होंने गणित-ज्योतिष की रचना विशेष क्रम से की और ज्योतिष और गणित के विषयों को अलग-अलग अध्यायों में बाँटा।

२.४.२. ब्रह्मगुप्त का कर्तृत्व –

ब्रह्मगुप्त के दो प्रसिद्ध ग्रन्थ मिलते हैं। पहला है 'ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त' और दूसरा है 'खण्डखाद्यक'। इन्होंने शक ५५० (६८५ वि.) में ब्राह्मस्फुट सिद्धांत की रचना की थी। इन्होंने स्थान-स्थान पर लिखा है कि आर्यभट, श्रीषेण विष्णुचन्द्र आदि की गणना से ग्रहों का स्पष्ट स्थान शुद्ध नहीं आता, इसलिए वे त्याज्य हैं, और ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त में दृग्गणितैक्य होता है, इसलिए वही मानना चाहिए। इससे सिद्ध होता है कि ब्रह्मगुप्त ने ब्राह्मस्फुट-सिद्धांत की रचना ग्रहों का प्रत्यक्ष वेध करके की थी और वे इस बात के पक्षधर थे कि समय-समय पर गणना और वेध के अन्तर को वेध के द्वारा गणना शुद्ध कर लेना चाहिए।

२.४.२.१ ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त -

इसमें कुल २४ अध्यायों में १००८ श्लोक हैं। इसके प्रत्येक अध्याय के अंत में यह बताया गया है कि उसमें कितने छन्द हैं। प्रथम दस अध्यायों में सिद्धान्त-ज्योतिषीय विषयों का वर्णन है तदुपरांत शेष १४ अध्यायों में अन्य बहुत महत्व के विषय हैं, जिनमें दूषणाध्याय, अंकगणित, बीजगणित, शंकुच्छायादिज्ञानाध्याय, छेदश्चित्युत्तराध्याय और यन्त्राध्याय इन छह अध्यायों को छोड़कर शेष में पूर्वार्ध में वर्णित ज्योतिषीय विषयों की उपपत्ति का वर्णन है। आइए, ब्राह्मस्फुट-सिद्धान्त के अध्यायों रूपरेखा संक्षिप्त में जानें।

इस ग्रन्थ में प्रथम दस अध्यायों में सिद्धान्त-ज्योतिष के विषयों का वर्णन है। पहले मध्यमाधिकार में ग्रहों की मध्यम गति की गणना है। दूसरे स्पष्टाधिकार में स्पष्ट गति जानने की रीति बतायी गयी है। इसी अध्याय में ज्या निकालने की रीति भी बतायी गई है, जिसमें त्रिज्या का मान ३२७० कला माना गया है। तीसरे त्रिप्रश्नाधिकार में दिशा, देश और काल ज्योतिष के इन तीन मुख्य विषयों पर चर्चा की गयी है। चौथे चंद्रग्रहणाधिकार में चंद्रग्रहण के साधन की विधि का वर्णन है। पांचवे सूर्यग्रहणाधिकार में सूर्यग्रहण की गणना करने की रीति है। छठे उदयास्ताधिकार में बताया गया है कि चंद्रमा, मंगल, बुध, गुरु, शुक्र और शनि ये सूर्य के कितने पास आने पर अस्त हो जाते हैं, अर्थात

अदृश्य हो जाते हैं, और कितनी दूर होने से उदित होते हैं, अर्थात् दिखायी पड़ने लगते हैं। सातवें चंद्रशृङ्गोन्नत्यधिकार में बताया गया है कि शुक्लपक्ष द्वितीया के दिन चंद्रमा का कौन सा श्रृंग (नोंक) उठा रहता है। आठवें चंद्रच्छायाधिकार में उदित और अस्त होते हुए चंद्रमा के वेध से छाया आदि का ज्ञान करने की रीति है। अन्य ग्रंथों में इसके लिए कोई अलग अध्याय नहीं है। नवें ग्रहयुत्यधिकार में ब्रह्मगुप्त ने चर्चा की है कि ग्रहों की युति की गणना कैसे की जाती है। दसवें भग्रहयुत्यधिकार में बताया गया है कि नक्षत्रों या तारों के साथ ग्रहों की युति कब होती है और इसकी गणना कैसे की जाती है। ग्रन्थकार ने इस अध्याय में नक्षत्रों के ध्रुवीय भोगांश और शर के साथ-साथ नक्षत्रों की पूरी सूची दी है। इन दस अध्यायों के अतिरिक्त अध्याय संख्या १३ से १७ तक पांच और अध्याय हैं जिनमें सिद्धान्त-ज्योतिषीय-विषयों की चर्चा है। तेरहवें मध्यगति-उत्तराध्याय में ग्रहों की मध्यगति संबंधी प्रश्र और उत्तर हैं। चौदहवें स्फुटगति-उत्तराध्याय में ग्रहों की स्पष्टगति संबंधी प्रश्र और उत्तर हैं। पन्द्रहवें त्रिप्रश्नोत्तराध्याय में त्रिप्रश्नाध्याय संबंधी प्रश्नोत्तर हैं। सोलहवें ग्रहणोत्तराध्याय में सूर्य-चन्द्रमा के ग्रहण संबंधी प्रश्न हैं। सत्रहवें शृङ्गोन्नत्युत्तराध्याय में चन्द्रमा की शृङ्गोन्नति संबंधी प्रश्नोत्तर हैं।

उपरिलिखित अध्यायों के अतिरिक्त अन्य अध्यायों में वेध और गणित के विषयों पर चर्चा है। इनमें ग्रन्थ के ग्यारहवें तंत्रपरीक्षाध्याय नामक अध्याय में ब्रह्मगुप्त ने आर्यभट, श्रीषेण, विष्णुचंद्र, आदि पूर्वाचार्यों के कुछ विषयों का खण्डन किया है, चूंकि वह वेध या दृक्तुल्यता के पक्षधर थे और इस क्रम में जो सिद्धांत इसमें बाधक थे उसका स्पष्ट विरोध भी उन्होंने किया।

जिस कि ऊपर मैंने संकेत दिया कि ब्रह्मगुप्त ने गणित से सम्बंधित चार अध्याय इस ग्रन्थ में रखे हैं। इनमें ग्रन्थ के बारहवें गणिताध्याय में जोडऩा, घटना, गुणा, भाग, वर्ग, वर्गमूल, घन, घनमूल, भिन्नों का योग-घटाना आदि, त्रैराशिक, व्यस्त-त्रैराशिक, मिश्रक व्यवहार इत्यादि अंक-गणित या पाटीगणित के विषय हैं। श्रेढी व्यवहार (समानान्तर श्रेढी), क्षेत्र व्यवहार (त्रिभुज, चतुर्भुज आदि के क्षेत्रफल जानने की रीति) क्षेत्र व्यवहार (त्रिभुज, चतुर्भुज आदि के क्षेत्रफल जानने की रीति), वृत्त-क्षेत्र गणित खात व्यवहार (खाई आदि का घनफल जानने की रीति), चिति व्यवहार, क्राकचिक व्यवहार (आरा चलाने वाले के काम का गणित), राशि व्यवहार, छाया व्यवहार (दीप स्तंभ और उसकी छाया से संबंधित प्रश्न के साधने की रीति) आदि इसी अध्याय में वर्णित हैं। इसके आगे अभ्यास के लिए एक अध्याय है। अट्ठारहवें कुट्टकाध्याय में कुट्टक की विधि से प्रश्रों का उत्तर जानने की रीति है। इस अध्याय में ब्रह्मगुप्त ने प्रत्येक प्रकार के कुट्टक की रीति बतायी है और इससे ग्रहों के भगण आदि के ज्ञान की विधि भी बताई है। १०३ श्लोकों वाला यह अध्याय कई खण्डों में विभाजित है। एक खंड में धन, ऋण और

शून्य का जोड़-घटाना-गुणा-भाग, करणी का जोड़-घटाना-गुणा-भाग बताया गया है। दूसरे खंड में एकवर्ण-समीकरण, अनेकवर्ण-समीकरण आदि बीजगणित के प्रश्न हैं। तीसरे खंड में भावित की गणित है। चौथा खंड वर्गप्रकृति नामक है। पाँचवें खंड में अनेक उदाहरण दिये गये हैं। उन्नीसवें शंकुच्छायादिज्ञानाध्याय में त्रिकोणमिति से संबंधित गणित यथा छाया से समय या किसी वस्तु की ऊँचाई आदि जानने की विधि बतायी गयी है। बीसवें छेदश्चित्युत्तराध्याय में १९ श्लोक हैं।

इसके अतिरिक्त अन्य अध्यायों में सिद्धान्त-ज्योतिष के गोल-शाखा से सम्बन्धित हैं। इक्कीसवें गोलाध्याय में भूगोल और खगोल संबंधी गणनाएं और सिद्धान्त चार खण्डों – ज्याप्रकरण, स्फुटगतिवासना, ग्रहणवासना, गोलबन्धाधिकार में वर्णित हैं। बाईसवें यंत्राध्याय में ५७ श्लोकों में अनेक प्रकार के यंत्रों का वर्णन किया गया है जिनसे समय का ज्ञान होता है और ग्रहों के उन्नतांश, नतांश आदि जाने जाते हैं।

तेईसवें मानाध्याय में सौर, चांद्र, सावन आदि नौ प्रकार के काल-मानों की चर्चा है। चौबीसवें संज्ञाध्याय भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। ब्रह्मगुप्त एक ऐसे विद्वान् हैं जो बिना किसी लाग-लपेट के अपनी शोध-परक दृष्टि को रखते हैं। उन्होंने इस प्रकरण में अपना स्पष्ट मत रखते हुए कहते हैं सूर्य, सोम, पौलिश, रोमक, वासिष्ठ और यवन सिद्धांतों में एक ही सिद्धांत का प्रतिपादन किया गया है। और यदि कुछ भेद है तो वैसे ही जैसे सूर्य की संक्रान्ति स्थान भेद के कारण भिन्न-भिन्न कालों में कही जाती है। ध्यानग्रहोपदेशाध्याय में तिथि, नक्षत्र, आदि की गणना करने की सरल रीति बतायी गयी है।

इस ग्रन्थ के आरम्भ के १० अध्यायों की टीका पृथूदक द्वारा लिखी हुई मिलती है। यद्यपि कोलब्रुक ने अपने लेख में एकत्र लिखा है कि उसने संपूर्ण ग्रन्थ पर टीका लिखी है तथापि इसके अंकगणित और बीजगणित से सम्बन्धित अध्यायों पर कोलब्रुक का अंग्रेज़ी अनुवाद मिलता है।

बोध प्रश्न

प्र.१ निम्नलिखित वाक्यों में सही के आगे ($\surd$) का और गलत के आगे ($\times$) का चिह्न लगाएं –

(च) बृहत्संहिता के साम्वत्सरसूत्राध्याय में ज्योतिषी का लक्षण वर्णित है। ()

(छ) ब्रह्मगुप्त भीनमाल के निवासी थे। ()

(ज) ब्रह्मगुप्त के पिता का नाम समुद्रगुप्त था। ()

(झ) ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त में २० अध्याय हैं। ()

(ञ) ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त के बारहवें अध्याय में अंकगणित का वर्णन है। ()

अभ्यास प्रश्न

प्र.१ सिद्धान्त-स्कन्ध का प्रगति-काल के विद्वानों के नाम लिखें।

_____

_____

_____

_____

बोध प्रश्न

प्र.२ निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दें –

(च) _____की ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त के प्रारम्भिक १० अध्यायों पर टीका है।

(छ) ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त के गणितीय अध्यायों पर _____की अंग्रेज़ी टीका है।

(ज) ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त के_____ में तिथि, नक्षत्र, आदि की गणना-रीति वर्णित है।

(झ) ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त में चौदहवाँ अध्याय _____ है।

(ञ) ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त में सत्रहवाँ अध्याय _____है।

अभ्यास प्रश्न

प्र.२ ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त का संक्षिप्त परिचय लिखिए।

_____

_____

_____

_____

२.४.२.२. खण्डखाद्य -

यह ब्रह्मगुप्त का दूसरा ग्रन्थ है। ब्रह्मगुप्त ने शक ५८७ में ६९ वर्ष की उम्र में इसकी रचना तिथि, नक्षत्रों और ग्रहों की सुगम रीति से गणना करने के लिए की। यद्यपि ब्राह्मस्फुट-सिद्धान्त में ब्रह्मगुप्त ने आर्यभट्ट के कई मतों का कहीं पर समुचित कारणों से तो कहीं पर दुराग्रह के कारण खण्डन किया। किन्तु इस ग्रन्थ में उन्होंने आर्यभट्ट के कुछ मतों के अनुसार विषयों का उपस्थापन किया। परंतु इस ग्रंथ में भी ब्रह्मगुप्त ने नवीन बातें बतायी हैं और कुछ संशोधन भी किये हैं। इस ग्रंथ के पूर्व और उत्तर ये दो भाग हैं। प्रथम भाग में ९ अधिकार हैं जिनमें कुल १९४ श्लोक आर्या छन्द में हैं।

दूसरे भाग में ५ अधिकार हैं जिनमें कुल मिलाकर ७१ आर्याएं हैं। इनमें तिथि, नक्षत्रादि की गणना, मंगल, बुध, गुरु, शुक्र और शनि इन पांच ताराग्रहों की मध्य और स्पष्ट गणना, त्रिप्रश्नाधिकार, चंद्रग्रहणाधिकार, सूर्यग्रहणाधिकार, उदयास्ताधिकार, चंद्रशृङ्गोन्नत्यधिकार, ग्रहयुत्यधिकार नामक अध्याय पूर्व खण्ड में हैं। ग्रन्थ के उत्तर खण्ड में ब्रह्मगुप्त ने अपने संशोधनों की चर्चा की है और नए विषयों पर अपने विचार रखे हैं। इसके साथ ही ताराग्रहों और नक्षत्रों की युति के संबंध में विचार किया है और नक्षत्रों के योग-तारों का ध्रुवक और विक्षेप बताया है।

खण्डखाद्य पर वरुण और भटोत्पल की टीकाएँ हैं। इस पर पृथूदक ने भी एक टीका लिखी है।

२.४.३. ब्रह्मगुप्त का वैशिष्ट्य -

ब्रह्मगुप्त सायन रवि के मेष संक्रमण को ही वास्तविक मेष संक्रमण मानते हैं। ब्रह्मगुप्त के अनुसार उनका उद्देश्य वर्षमान बदलने का था और उन्होंने बदला भी। आलोचक शंकर बालकृष्ण दीक्षित कहते हैं कि यदि ब्रह्मगुप्त वेध करके उसकी तुलना करते तो उनके सरीखे अन्वेषक को सायन वर्ष का वास्तविक मान ज्ञात होना कठिन नहीं था। ब्रह्मगुप्त ने तत्कालीन वेधानुकूल ग्रह लाने के लिए उनके भगणों की स्वयं ही कल्पना की। वह स्वयं वेध करने वाले अन्वेषक थे। और इस कारण उनका स्वयं का अभिमान कहीं-कहीं प्रकट होता है –

ब्रह्मोक्तमध्यरविशशितदुच्चतत्परिधिभि: स्फुटीकरणम्।
कृत्वैवं स्पष्टतिथिर्दूरभ्रष्टान्यतन्त्रोक्ते: ।।
आर्यभटस्याज्ञानान्मध्यममन्दोच्चशीघ्रपरिधीनाम्।
न स्पष्टा भौमाद्या: स्पष्टा ब्रह्मोक्तमध्याद्यै: ।।

अर्थात् ब्रह्मगुप्त के द्वारा प्रतिपादित विधि के द्वारा मध्यम सूर्य, चन्द्र और उनके द्वारा लायी हुई ही तिथि शुद्ध है और अन्य तन्त्रों द्वारा लाई हुई अत्यन्त भ्रष्ट है। ब्रह्मगुप्त के सिद्धान्त से आनीत मध्यमग्रह, मन्दोच्च और शीघ्रपरिधि द्वारा भौमादि स्पष्टग्रह शुद्ध आते हैं, आर्यभटीय से नहीं।
लेकिन यह भी है कि कहीं-कहीं उनका अभिमान दुराग्रह बन गया है क्योंकि उन्होंने आर्यभट्ट में कुछ ऐसे दोष दिखाए हैं जो वास्तव में नहीं हैं। इस प्रकार उपरिलिखित विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्मगुप्त ने सिद्धान्त-ज्योतिष और गणित से सम्बन्धित नए और मौलिक विचार तथा विधियां आज से १३०० वर्ष रखीं थीं जिनके आधार पर ग्रहों की स्थिति आदि वेध से भी ठीक उतरती थी। इस सब बातों पर विचार करने से सिद्ध होता है कि ब्रह्मगुप्त एक महान आचार्य थे। इनकी पद्धति का अनुसरण

प्राय: सभी परवर्ती आचार्यों ने किया। इस प्रकार ब्रह्मगुप्त का भारतीय ज्योतिष में योगदान सदैव अविस्मरणीय रहेगा।

२.५. लल्ल -

भारतीय ज्योतिष-परम्परा का बड़ा आचार्य माना जाता है। इनका काल ब्रह्मगुप्त के बाद का है। आपके मन में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि लल्ल को भारतीय ज्योतिषेतिहास में स्थान क्यूं मिला। तो मित्रों! इसका कारण उनकी दो विशेषताएं हैं। इनकी पहली विशेषता यह है कि इन्होंने सिद्धान्त के साथ-साथ संहिता स्कंध पर भी कार्य किया। उस काल-खण्ड में जबकि सिद्धान्त-ज्योतिष का अध्ययन ज़ोर पकड़ रहा था उन्होंने सिद्धान्त के साथ ही संहिता के महत्वपूर्ण भाग मुहूर्त पर काम किया। दूसरी बात जो लल्ल को भारतीयज्योतिष के इतिहास में महत्त्वपूर्ण बनाती है वह है उनका ग्रन्थ शिष्यधीवृद्धिद जो कि सिद्धान्तस्कंध के ही एक उपविभाग तन्त्र शाखा का ग्रन्थ है। और भारतीय-ज्योतिष-वाङ्मय में तंत्र पद्धति पर अङ्गुलिगण्य ग्रन्थ मिलते हैं जिनमें लल्ल रचित तंत्र बहु प्रसिद्ध ग्रंथ है, जिसे आर्यभटीयम के आधार पर लिखा गया है।

२.५.१. लल्ल का काल और परिचय –

लल्ल के समय के संबंध में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। पंडित सुधाकर द्विवेदी ने लल्ल का समय ४२१ शक माना है। और उनके इस काल-निर्धारण का आधार आर्यभटीयम् ग्रन्थ है। द्विवेदी जी के अनुसार चूंकि लल्ल ने आर्यभटीयम में आये हुए ग्रहों में बीज-संस्कार देने के लिए ४२० शक घटाकर ग्रह स्पष्ट करने के लिए इन्होंने कहा है। प्रबोधचन्द्र सेनगुप्त अपनी खण्डखाद्य की टीका की भूमिका में लल्ल का समय शक ६७० मानते हैं। लल्ल के काल का निर्धारण वह नक्षत्रों के योगतारों के ध्रुवांकों के आधार पर कहते हैं। उनके अनुसार लल्ल ने नक्षत्रों के योगतारों के जो ध्रुवक दिये हैं वे ब्राह्मस्फुट-सिद्धांत के ६ तारों के ध्रुवक से लगभग २ अंश अधिक हैं और दो तारों के ध्रुवक से लगभग १०१ अंश अधिक हैं, इसलिए इनका समय ब्रह्मगुप्त के समय से कम से कम ८५ वर्ष और अधिक से अधिक १४० वर्ष बाद का है। ब्रह्मगुप्त के पश्चात लल्ल के होने की बात श्री बबुआ मिश्र की संपादित खण्डखाद्य की टीका से भी सिद्ध होती है। शंकर बालकृष्ण दीक्षित इनका समय ५६० शक के लगभग बताते हैं, जिससे यह ब्रह्मगुप्त के समकालीन सिद्ध होते हैं।

लल्ल दक्षिण-भारतीय हो सकते हैं। इसके पीछे शंकर बालकृष्ण दीक्षित दो तर्क देते हैं। पहला अलबरूनी ने शक ९५० के पहले के प्राय: सभी ज्योतिषियों का उल्लेख अपने ग्रन्थ में किया किन्तु

लल्ल का नामोल्लेख नहीं किया इसका कारण यह हो सकता है कि उत्तर भारत के अधिकांश भाग में कम से कम ९५० शक तक लल्ल के ग्रन्थ का प्रचार नहीं हुआ था। दूसरा लल्ल द्वारा प्रस्तुत बीजसंस्कार से संस्कृत आर्यभट्ट के सिद्धान्त का दक्षिण भारत में प्रचार था।

२.५.२ लल्ल का कर्तृत्व –

जैसा की पूर्व में मैंने कहा कि लल्ल के दो ग्रन्थ तो पूर्णतया प्रकाश में आए जिनमें पहला है शिष्यधीवृद्धिदम् और दूसरा है रत्नकोष। आये क्रमश: इन पर संक्षिप्त में चर्चा करें।

२.५.२.१ शिष्यधीवृद्धिदम् –

कहा यह जाता है कि चूंकि लल्ल के शिष्यों को आर्यभट के ग्रन्थ आर्यभटीयम् को समझने में कठिनाई होती थी, इसलिए लल्ल ने शिष्यधीवृद्धिदम् ग्रन्थ की रचना की। उन्होंने विस्तारपूर्वक उदाहरण देकर इस ग्रंथ लिखा। इस ग्रन्थ में १००० श्लोक हैं। इसमें गणित-संबंधी अध्याय नहीं हैं, केवल ज्योतिष-संबंधी विषयों पर विस्तारपूर्वक चिन्तन किया है। यह ग्रन्थ मुख्यतया दो भागों में बंटा है – पहला गणिताध्याय और दूसरा गोलाध्याय। इस ग्रंथ के गणिताध्याय में मध्यमाधिकार, स्पष्टाधिकार, त्रिप्रश्नाधिकार, चंद्रग्रहणाधिकार, सूर्यग्रहणाधिकार, पर्वसम्भवाधिकार, ग्रहादेयास्ताधिकार, चंद्रछायाधिकार, चंद्रशृङ्गोन्नत्यधिकार, ग्रहयुत्यधिकार, भग्रहयुत्यधिकार, महापाताधिकार और उत्तराधिकार नामक १३ अध्याय हैं। गोलाध्याय में छेद्यकाधिकार, गोलबन्धाधिकार, मध्यगतिवासना, भूगोलाध्याय, ग्रहभ्रम-संस्थाध्याय, भुवनकोश, मिथ्याज्ञानाध्याय, यंत्राध्याय और प्रश्नाध्याय हैं। इन अध्यायों के नाम से भी प्रकट होता है कि यह पुस्तक ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त के बाद लिखी गयी है और ज्योतिष संबंधी जिन बातों की कमी ब्राह्मस्फुट-सिद्धांत में थी, वह यहाँ पूरी की गई है। अंकगणित या बीजगणित संबंधी कोई अध्याय इसमें नहीं है, जिससे प्रकट होता है कि ब्रह्मगुप्त के बाद, जब ज्योतिष और गणित संबंधी विकास बहुत तीव्रता से हुआ तब, इन दोनों शाखाओं पर स्वतन्त्ररूप से सविस्तार ग्रन्थ लिखने की परम्परा आरम्भ हो गयी। जिससे एक ओर कुछ विद्वानों यथा श्रीधर और महावीर ने केवल गणित-सम्बन्धी ग्रन्थों का प्रणयन किया,तो वहीं दूसरी ओर पृथूदकस्वामी, भटोत्पल आदि ने केवल ज्योतिष पर ग्रंथों की रचना की।

२.५.२.२. रत्नकोष –

लल्ल का दूसरा ग्रन्थ रत्नकोष एक मुहूर्तग्रन्थ है। इसका अनुमान पं. सुधाकर द्विवेदी अपनी गणकतरंगिणी में भी करते हैं, क्योंकि मुहूर्त चिंतामणि की पीयूषधारा टीका में लल्ल के मत की चर्चा है।

पाटीगणित (अंकगणित) और बीजगणित की कोई पुस्तक भी लल्ल की बनायी हुई थी, ऐसा सुधाकर द्विवेदी अनुमान करते हैं, परन्तु यह पुस्तक भी अब उपलब्ध नहीं है।

२.५.३ लल्ल का महत्त्व –

लल्ल ने स्वयं वेध करके बीजसंस्कार निरूपित किया। इससे यह सिद्ध होता है की वह सिद्धान्त-ज्योतिष के पंडित और खगोल के ज्ञाता होने के साथ-साथ एक अन्वेषक भी थे। लल्ल के महत्त्व और उनके योगदान को समझाने के लिए यह जानना पर्याप्त होगा की उनके ५०० से ८०० वर्षों बाद उनके द्वारा वेध करके बनाए गए गृह-बीजों के संस्कार करके ही १०१४ शक में करणप्रकाश और १३३९ शक में भटतुल्य नामक करण-ग्रन्थों की रचना हुई।

बोध प्रश्न

प्र.३ निम्नलिखित वाक्यों में सही के आगे (√) का और गलत के आगे (×) का चिह्न लगाएं –

(क) ब्रह्मगुप्त ने ६९ वर्ष की उम्र में खण्डखाद्य की रचना की। ()

(ख) खण्डखाद्य के प्रथम भाग में ९ अधिकार हैं । ()

(ग) खण्डखाद्य के श्लोक मंदाक्रांता छन्द में हैं। ()

(घ) रत्नकोष एक करण-ग्रन्थ है। ()

(ङ) ब्रह्मगुप्त सायन रवि के मेष संक्रमण को ही वास्तविक मेष संक्रमण मानते हैं। ()

अभ्यास प्रश्न

प्र.३ सिद्धान्त स्कन्ध के भेदों के विषय में लिखें ।

_____

_____

_____

_____

बोध प्रश्न

प्र.४ निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दें –

(क) खण्डखाद्य के प्रथम भाग में कुल _____श्लोक हैं।

(ख) खण्डखाद्य के दूसरे भाग में कुल _____ आर्याएं हैं।

(ग) शिष्यधीवृद्धिदम के मध्यमाधिकार में _____अध्याय हैं।

(घ) मुहूर्त चिंतामणि की _____ टीका में लल्ल के मत की चर्चा है।

(ङ) १०१४ शक में _____ करण-ग्रन्थ की रचना शिष्यधीवृद्धिदम के आधार पर हुई।

अभ्यास प्रश्न

प्र.४ सिद्धांत के उन्नति-काल के विद्वानों के नाम लिखिए।

_____

_____

_____

_____

२.६ वटेश्वर -

प्रिय अध्येता! वटेश्वर भारतीय ज्योतिषियों में एक ऐसे विद्वान् हैं जिन पर ज्योतिषीय पंडितों ने अधिक चर्चा नहीं की है। इसमें आश्चर्य नहीं कि शंकर बालकृष्ण दीक्षित ने इनका नामोल्लेख अपने ग्रन्थ भारतीय ज्योतिष में नहीं किया। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि न ही इन्हें वटेश्वरसिद्धान्त ग्रन्थ मिला और न ही श्रीपति के ग्रन्थ सिद्धांतशेखर का इन्होंने प्रत्यक्ष किया जिसमें वटेश्वर सिद्धांत सम्बन्धी कुछ मतों का उल्लेख मिलता है। इन पर थोड़ी बहुत बात केवल महामहोपाध्याय पण्डित सुधाकर द्विवेदी ने ही अपने ग्रन्थ गणकतरंगिणी में की है। किन्तु मेरा मानना है कि यह एक ऐसे मणि हैं जिनको जितना घिसा जाए उतना ही ज्योतिष-विषयक-प्रकाश मिलेगा और ज्योतिषीय इतिहास के बहुत सारे अल्प प्रकाशित तथ्य उजागर होंगे। इनका एक ही ग्रन्थ 'वटेश्वरसिद्धान्त' नामक मिलता है जो कि सिद्धान्त स्कन्ध का अत्यन्त प्रौढ़ और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसी ग्रन्थ से वटेश्वर का परिचय और उनकी प्रतिभा का ज्ञान मिलता है।

२.६.१. वटेश्वर का काल और परिचय –

वटेश्वर का जन्म आनन्दपुर में ८०२ शक में ब्राह्मण परिवार हुआ। इनके पिता का नाम महदत्त था। इनके पिता वेद, धर्मशास्त्र, स्मृति और आचार के बड़े पण्डित थे। किम्वदंती है की भगवत-कृपा से वर-रूप में महदत्त जी को वटेश्वर पुत्र-रूप में प्राप्त हुए। यह निश्चय ही उनके महनीय गुणों और पाण्डित्य का परिचायक है। यह सूचना उनके ग्रन्थ से ही मिलती है जिसमें प्रत्येक अध्याय के अंत में स्वयं उन्होंने लिखा है –

"इति श्रीमदानन्द्पुरीयमहदत्तसुतवटेश्वरविरचिते स्वनामसंज्ञिते स्फुटसिद्धान्ते" ।

अब यह आनन्दपुर, पञ्जाब प्रान्त में स्थित वर्तमान आनन्दपुर ही है या अन्य कोई इस विषय में स्पष्टतापूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता है। वटेश्वरसिद्धान्त की रचना के समय इनकी उम्र २४ वर्ष थी। जैसा की उन्होंने स्वयं ही कहा है –

शकेन्द्रकालात् भुजशून्यकुञ्जरै: (८०२) रभूद्तीतैर्मम जन्म हायनै:।
अकारि सिद्धान्तमितै: स्वजन्मतो मया जिनाब्दै: (२४) द्युसदामनुग्रहात्।।

अर्थात् शक नृप के काल से भुज (२) शून्य (०) कुंजर (८) (अङ्कानां वामतो गति: इस नियम से) ८०२ हायनै: (वर्षों के द्वारा) मेरा जन्म हुआ। दूसरे शब्दों में कहूं तो ८०२ शक में मेरा जन्म हुआ। द्युसदां (ग्रहों या देवों की) अनुग्रहात् (कृपा के कारण) स्वजन्मत: (अपने जन्म-काल से) जिनाब्दै: (२४ वर्षो के द्वारा) मैंने इस सिद्धान्त (वटेश्वरसिद्धान्त) की रचना की।

तत्कालीन विद्वानों के हृदय में उनके प्रति बहुत सम्मान था। भास्कराचार्य ने भी कहीं-कहीं इनके मत का खण्डन बिना इनके नाम लिए किया है। विशेषकर ब्रह्मा के आयु के सम्बन्ध में वटेश्वर के ही मत को ध्यान में रखते हुए उन्होंने सिद्धांत शिरोमणि में कहा –

.....गतं सार्धवर्षाष्टकं केचिदूचु:।

भवत्वागम: कोऽपि नास्योपयोग: ग्रहा: वर्तमानात् द्युयातात् प्रसाध्या:।।

यहां 'केचित्' इस पद से वटेश्वर का ही संकेत ग्रहण किया जाना चाहिए क्यूंकि वटेश्वर ने ब्रह्मा की आयु का निर्धारण करते हुए कहा है –

'**कजन्मनोऽष्टौ सदला: समा: स्यु:**'

अर्थात् क (ब्रह्मा) के जन्म से अष्टौ सदला: (अर्धयुक्त आठ = साढे आठ) समा: (वर्ष) हो चुके हों।

वटेश्वर आर्यभट्ट के बहुत बड़े समर्थक और ब्रह्मगुप्त के विरोधी थे। जिस प्रकार आर्यभट्ट ने अपने ग्रन्थ आर्यभटीयम के गणितपाद में मंगलाचरण में ग्रहों के कक्षा-क्रमानुसार ही वर्णन कर उन्हें प्रणाम किया है ठीक उसी प्रकार वटेश्वर भी अपने ग्रन्थ में मंगलाचरण करते हैं –

ब्रह्मावनीन्दु-बुध-शुक्र-दिवाकरार-जीवार्कसूनु-भगुरून् पितरौ च नत्वा।

ब्राह्मं ग्रहर्क्षगणितं महदत्तसूनुर्वक्ष्येऽखिलं स्फुटमतीव वटेश्वरोऽहम्।।

अर्थात् ब्रह्मा, अवनि (पृथ्वी), चन्द्रमा, दिवाकर (सूर्य), आर (मंगल), जीव (गुरु), अर्कासूनु (शनि), भ (नक्षत्र) और पितरों को प्रणाम करके मैं महदत्त जी का पुत्र वटेश्वर ब्राह्म (ब्रह्मगुप्त द्वारा प्रतिपादित) अखिल (सम्पूर्ण) ग्रह-नक्षत्रगणित को (ब्रह्मगुप्त के भ्रमात्मक ज्ञान से दुरूह को) अत्यन्त स्पष्ट कर रहा हूँ।

यद्यपि वटेश्वर आर्यभट्ट के सिद्धान्त के प्रबल समर्थक हैं फिर भी आर्यभट्ट के भूभ्रमण-सिद्धान्त को वह स्वीकार नहीं करते हैं। क्यूंकि स्वयं आर्यभट्ट इस मत को लेकर भ्रम की स्थिति में हैं। एक जगह तो वह 'अनुलोमगति: नौस्थ:' यह कहकर भूभ्रमण का सिद्धान्त रखते हैं वहीं दूसरी जगह -

उदयास्तामयनिमित्तं नित्यं प्रवहेण वायुना क्षिप्त:।

लङ्कासमपश्चिमगो भपञ्जर: सग्रहो भ्रमति।।

(अर्थात् क्षितिज पर प्रतिदिन उदय और अस्त होने के लिये ग्रहों के साथ-साथ राशिचक्र प्रवह वायु के द्वारा फेंके (धकेले) जाने पर लंकादेशीय पूर्वापर मंडल में पश्चिम की ओर भ्रमण करता है।) यह कहकर दैनिक उदयास्त हेतु प्रवह-वायु-प्रेरित पश्चिमाभिमुख भ्रमण की भी बात करते हैं।

२.६.२. वटेश्वर का कर्तृत्व –

वटेश्वर की एक ही कृति ज्ञात है जो उन्होंने स्वयं के नाम से रची। इस ग्रन्थ की बड़ी ख्याति रही। उनके परवर्ती आचार्यों विशेषकर श्रीपति और भास्कर ने अपने मतों का मंडन -खंडन करने के लिए वटेश्वर के सिद्धान्त का यत्र-तत्र प्रयोग किया। श्रीपति के तो बहुत से विचार ब्रह्मगुप्त या वटेश्वर से प्रभावित हैं। वर्त्तमान में उपलब्ध इस ग्रन्थ का सम्पादन आचार्य रामस्वरूप शर्मा और पण्डित मुकुन्द मिश्र ने किया जो कि १९६२ ई. में तत्कालीन वैज्ञानिक अनुसन्धान और सांस्कृतिक मन्त्रालय, भारत सरकार के अनुदान से इन्डियन इन्स्टीट्यूट आफ अस्ट्रोनोमिकल एंड संस्कृत रिसर्च, नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित किया गया। वटेश्वर सिद्धान्त की अपनी टीका की भूमिका में आचार्य रामस्वरूप शर्मा कहते हैं कि " **अलबरूनी ने लिखा है कि वटेश्वर सिद्धांत नाम का एक उत्तम ग्रन्थ भारत में है जिसमें ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त पर आलोचना की गयी है" (वटेश्वर सिद्धान्त, भूमिका पृ.सं १५)**। आये इस ग्रन्थ पर कुछ चर्चा करें।

२.६.२.१. वटेश्वर सिद्धान्त -

यह ग्रन्थ तीन भागों में विभक्त है – १. मध्यमाधिकार, २. स्पष्टाधिकार और ३. त्रिप्रश्नाधिकार। यदि अन्य सिद्धांत ग्रंथो को देखें तो कह सकते हैं कि यह ग्रन्थ या तो अपूर्ण रह गया या फिर अपूर्ण ही प्राप्त होता है।...खैर जो भी हो, वर्तमान में उपलब्ध ग्रन्थ में उपर्युक्त मुख्यतः तीन अधिकार हैं। इसमें मध्यमाधिकार में १० अध्याय हैं। ये क्रमशः १. मंगलाचरण और परिचय, २. मानविवेक, ३. द्युगणविधि, ४. सर्वतोभद्र, ५. प्रत्ययशुद्धि, ६. करणविधि, ७. प्रमाणविधि, ८. देशान्तरविधि, ९. प्रश्नविधि और १०. दूषणानि। स्पष्टाधिकार में ७ अध्याय हैं, जो क्रमशः इस प्रकार हैं – १. स्फुटीकरणस्य प्रयोजन, २. स्वोच्चनीचग्रहस्फुटीकरण, ३. प्रतिमंडलस्पष्टीकरणविधि, ४. स्पष्टीकरण, ५. फलज्यास्फुटीकरण, ६. तिथ्यानयनविधि, ७. प्रश्नविधि। त्रिप्रश्नाधिकार में कुल १५ अध्याय हैं। ये इस प्रकार हैं – १. त्रिप्रश्नारम्भप्रयोजन, २. लम्बाक्षज्यानयनविधि, ३. क्रन्तिज्यानयनविधि, ४. द्युज्यानयनविधि, ५. कुज्यानयनविधि, ६. अग्रानयनविधि, ७. स्वचारार्धज्याप्राणसाधनविधि, ८. लग्नादिविधि, ९. द्युदलभादिविधि, १०. इष्टछायाविधि, ११. सममंडलप्रवेशविधि, १२. कोणशंकुविधि, १३. छायातोऽर्कानयनविधि, १४. छायापरिलेखविधि, १५. प्रश्नाध्यायविधि।

इस ग्रन्थ में आर्यभट्ट के समान ही अन्य सिद्धान्त ग्रंथों से भिन्न ७२ महायुगों का एक मनु-काल माना गया है। इस ग्रन्थ में कहीं-कहीं पर तो ब्रह्मगुप्त का अनावश्यक खण्डन किया गया है। जैसे एकत्र वटेश्वर ब्रह्मगुप्त के इस मत का कि कलियुग के तीन चरण बीत गए हैं का **युगपादान्**

जिष्णुसुतस्त्रीन् यातानाह...ऐसा कहकर खंडन करते हैं पर अन्यत्र स्वयं ही **युगत्रिवृन्दं सदृशाङ्घ्रयस्त्रय:** ऐसा कहकर ब्रह्मगुप्तकथित मत को दुहराते हैं खंडन करते हैं। यद्यपि सभी सिद्धान्त ग्रंथों में नव प्रकार के काल-मानों की चर्चा करके उनमें चार सौर, चंद्र, सावन और नाक्षत्र की ही उपयोगिता पर बल देते हैं। भास्कराचार्य ने भी **मानैश्चतुर्भिर्व्यवहारवृत्ते:** ऐसा कहा है। किन्तु वटेश्वर ने इस ग्रन्थ में सभी मानों की उपयोगिता बताते हुए किसका उपयोग किस निमित्त करना चाहिए यह स्पष्ट किया है। वटेश्वर सिद्धान्त में अहर्गण-साधन के भी कई प्रकार बताए हैं और इसके साथ ही लघु-अहर्गण-साधन की विधि भी बताई है। वटेश्वर ने क्रान्तिज्या के साधन के और दिक्-साधन के भी कई प्रकारों की चर्चा अपने ग्रन्थ में की है।

इसके अतिरिक्त अन्य बहुत सी विशेषताएं इस ग्रन्थ की हैं जो ग्रन्थ के अवलोकन से ज्ञात होंगी वह भी तब जब आप सिद्धान्त-ज्योतिष के अध्येता हों। संक्षेप में कहें तो यह ग्रन्थ निश्चय ही वटेश्वर की प्रतिभा को ज्योतिष-जगत के समक्ष प्रस्तुत करता है।

२.७. श्रीपति -

श्रीपति ज्योतिष की तीनों शाखाओं में अद्वितीय पंडित थे। प्रबोधचंद्रसेनगुप्त के अनुसार श्रीपति पहले भारतीय ज्योतिषी थे जिन्होंने काल-समीकरण के उस भाग का पता लगाया जो रविमार्ग की तिर्यकता के कारण उत्पन्न होता है। इन्होंने सिद्धान्त, फलित और संहिता स्कन्ध के मुहूर्त शाखा पर कार्य किया।

२.७.१ श्रीपति का काल और परिचय –

श्रीपति का एक करण-ग्रन्थ है 'धीकोटिदकरण' है। जैसा की आपको ज्ञात होगा कि करण-ग्रन्थ में किसी अभीष्ट शक से ग्रह-गणना की जाती है। इस ग्रन्थ में भी अभीष्ट शक से ग्रह-गणना है जो कि श्रीपति के काल-निर्धारण में सहायक है। इस ग्रन्थ में ९६१ शक से गणना की गयी है अत: निश्चय ही इनका काल ९६१ शक के आस-पास का ही होगा।

इन्होंने अपने वंश का कोई परिचय नहीं दिया है। किन्तु इनके ग्रन्थ रत्नमाला की टीका के आरम्भ में महादेव ने लिखा है –

"**कश्यपवंशपुण्डरीकखण्डमार्तण्ड: केशवस्य पौत्र: नागदेवस्य सूनु: संहितार्थामभिधातुमिच्छुराह**"।।

इससे यह ज्ञात होता है ये काश्यप-गोत्रीय ब्राह्मण थे। इनके पितामह का नाम 'केशव' और पिता का नाम 'नागदेव' था। श्रीपति स्वयं कहते हैं कि उन्होंने 'रत्नमाला' ग्रन्थ की रचना लल्ल के 'रत्नकोष' के आधार पर की। वस्तुत: खगोलशास्त्री और ज्योतिषशास्त्रीय इतिहासवेत्ता शंकर बालकृष्ण दीक्षित स्वयं लिखते हैं की उन्हें श्रीपति का सिद्धान्तशेखर ग्रन्थ नहीं मिला। यही कारण है की उन्होंने श्रीपति के इस ग्रन्थ की चर्चा न करके संकेत-मात्र किया है। इसीलिये रत्नमाला धीकोटिदकरण के आधार पर ये श्रीपति को लल्ल का अनुयायी मानते हैं। किन्तु सिद्धान्तशेखर की चर्चा पण्डित सुधाकर द्विवेदी अपने ग्रन्थ गणकतरंगिणी में करते हैं। कालांतर में इस ग्रन्थ की प्राप्ति और प्रकाशन भी हुआ। और सिद्धान्त शेखर को देखने से ज्ञात होता है कि श्रीपति ने इस ग्रन्थ में जिन-जिन सिद्धान्तों का उपस्थापन किया है वो कहीं तो ब्रह्मगुप्त से और कहीं ब्रह्मगुप्त के परवर्ती और मतविरोधी वटेश्वर से प्रभावित हैं। लेकिन सिद्धान्तशेखर और चूंकि इस ग्रन्थ के दो प्रकरणों सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहण पर मिली टीका में दो उदाहरण क्रमश: १५३२ शक और १५९३ शक के हैं अत: यह कहा जा सकता है कि इस काल तक तो कम से कम इस ग्रन्थ का प्रचार अवश्य ही रहा होगा।

२.७.२ श्रीपति का कर्तृत्व -

जैसा कि पूर्व में मैंने कहा कि श्रीपति तीनों ही स्कंधों के पंडित थे इन्होंने तीनों ही स्कंधों पर अपने ग्रंथों का प्रणयन करके अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है। सिद्धांत के क्षेत्र में इनके दो ग्रन्थ क्रमश: 'सिद्धान्तशेखर' और 'धीकोटिदकरण' प्रसिद्ध हैं। इसके अतिरिक्त फलित के एक ग्रन्थ 'जातकपद्धति' तथा मुहूर्त के एक ग्रन्थ 'रत्नमाला' का भी प्रणयन इन्होंने किया। इनका परिचय देते हुए शंकर बालकृष्ण दीक्षित कहते हैं कि चूंकि मुनीश्वर ने लीलावती की टीका में इनके ग्रन्थ के कुछ वचन उद्धृत किये हैं अत: ऐसा प्रतीत होता है कि पाटीगणित और बीजगणित पर भी इनका कोई ग्रन्थ रहा होगा। इसके अतिरिक्त इनके एक और ग्रन्थ 'रत्नसार' का उल्लेख भी मिलता है जो कि सम्भवत: रत्नमाला का संक्षिप्त रूप हो।

मुनीश्वर ने लीलावती में श्रीपति के जो उद्धरण दिए हैं उसी से पता चलता ही कि इन्होंने ज्याखण्डों के बिना ही केवल चाप द्वारा ज्या-साधन बताया है, जिसका पूर्व में वटेश्वर आदि ने निरूपण किया है। निष्कर्ष रूप में कहा जाए तो प्राय: ब्रह्मगुप्त से आरम्भ होने वाले सिद्धान्त स्कंध के इस प्रगति-काल के न केवल अंतिम और महत्वपूर्ण कड़ी श्रीपति हैं बल्कि ये एक ऐसे विद्वान् हैं जो तीनों ही स्कंधों में पूर्ण दक्षता रखते हैं। यही कारण है कि श्रीपति निश्चय ही न केवल इस काल-खण्ड के अपितु

सम्पूर्ण भारतीय-ज्योतिष-मणिमाला के एक अपूर्व और बहुमूल्य मणि हैं जिनके बिना यह माला निश्चयेन अपूर्ण है।

इस कालखण्ड के विद्वानों ने भारत की समृद्ध बौद्धिक परम्परा से विश्व को न केवल परिचित कराया अपितु गणित और खगोल के क्षेत्र में भारत की प्रतिष्ठा को पूर्णतया स्थापित किया।

बोध प्रश्न

प्र.५ निम्नलिखित वाक्यों में सही के आगे (√) का और गलत के आगे (×) का चिह्न लगाएं –

(क) वटेश्वर का काल श्रीपति के बाद का है। ()

(ख) सिद्धान्तशेखर एक करण-ग्रन्थ है। ()

(ग) श्रीपति के पितामह का नाम श्रीषेण था। ()

(घ) वटेश्वर ब्रह्मगुप्त के मतानुयायी थे। ()

(ङ) सिद्धान्तशेखर वटेश्वर का ग्रन्थ नहीं है। ()

अभ्यास प्रश्न

प्र.५ सिद्धान्त स्कन्ध के भेदों के विषय में लिखें।

_____

_____

_____

_____

बोध प्रश्न

प्र.६ निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दें –

(क) श्रीपति के पिता का नाम_____था।

(ख) वटेश्वर का जन्म _____शक में हुआ था।

(ग) वटेश्वरसिद्धान्त के मध्यमाधिकार में _____ अध्याय हैं।

(घ) रत्नमाला के रचयिता _____ हैं।

(ङ) वटेश्वर के पिता का नाम _____था।

अभ्यास प्रश्न

प्र.६ सिद्धांत के उन्नति-काल के विद्वानों के नाम लिखिए।

२.८ सारांश

वराहमिहिर और आर्यभट्ट की कृतियों ने सिद्धान्त-ज्योतिष के क्षेत्र में जो नई युक्तियों और विचारधाराओं के द्वार खोले उन विचारों ने परवर्ती आचार्यों को बहुत प्रेरित किया और पूर्व की तुलना में ज्योतिष के खासकर सिद्धांत ज्योतिष के स्वतन्त्र ग्रन्थों का प्रणयन अधिक मात्रा में हुआ। फलत: इस काल-खण्ड को **सिद्धांत ज्योतिष का प्रगति-काल** समझना अधिक उचित होगा। ब्रह्मगुप्त गणित-ज्योतिष के बहुत बड़े आचार्य थे। भास्कराचार्य ने इनको 'गणकचक्रचूड़ामणि' कहकर इनके प्रति अपनी अगाध श्रद्धा व्यक्त की है। ब्रह्मगुप्त का जन्म शक ५२० में गुजरात के भीनमाल में हुआ। अलबरूनी स्वयं कहता है कि उसके काल में सिंध क्षेत्र में ब्रह्मगुप्त के ग्रंथों का बहुत प्रचार था। ब्रह्मगुप्त के दो ग्रन्थ क्रमश: 'ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त' और 'खण्डखाद्यक' हैं। इन्होंने शक ५५० (६८५ वि.) में ब्राह्मस्फुट सिद्धांत की रचना की थी। ब्राह्मस्फुट-सिद्धांत में कुल २४ अध्यायों में १००८ श्लोक हैं। प्रथम दस अध्यायों में सिद्धान्त-ज्योतिषीय विषयों का वर्णन है तदुपरांत शेष १४ अध्यायों में अन्य बहुत महत्व के विषय हैं, जिनमें दूषणाध्याय, अंकगणित, बीजगणित, शंकुच्छायादिज्ञानाध्याय, छेदश्चित्युत्तराध्याय और यन्त्राध्याय इन छह अध्यायों को छोड़कर शेष में पूर्वार्ध में वर्णित ज्योतिषीय विषयों की उपपत्ति का वर्णन है। ब्रह्मगुप्त ने ब्राह्मस्फुट-सिद्धांत की रचना ग्रहों का प्रत्यक्ष वेध करके की थी।

लल्ल के दो ग्रन्थ क्रमश: शिष्यधीवृद्धिदम् और रत्नकोष हैं। शिष्यधीवृद्धिदम् में १००० श्लोक हैं। इसमें गणित-संबंधी अध्याय नहीं हैं, केवल ज्योतिष-संबंधी विषयों पर विस्तारपूर्वक चिन्तन किया है। यह ग्रन्थ मुख्यतया दो भागों में बंटा है – पहला गणिताध्याय और दूसरा गोलाध्याय। इस ग्रंथ के गणिताध्याय में १३ अध्याय तथा गोलाध्याय में ९ अध्याय हैं। लल्ल का दूसरा ग्रन्थ रत्नकोष एक मुहूर्तग्रन्थ है। लल्ल ने स्वयं वेध करके बीजसंस्कार निरूपित किया।

वटेश्वर का जन्म आनन्दपुर में ८०२ शक में ब्राह्मण परिवार हुआ। इनके पिता का नाम महदत्त था। इनका एक ही ग्रन्थ 'वटेश्वरसिद्धान्त' नामक मिलता है जो कि सिद्धान्त स्कन्ध का अत्यन्त प्रौढ़

और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ तीन भागों में विभक्त है – १. मध्यमाधिकार, २. स्पष्टाधिकार और ३. त्रिप्रश्नाधिकार। इसमें मध्यमाधिकार में १० अध्याय हैं। स्पष्टाधिकार में ७ अध्याय तथा त्रिप्रश्नाधिकार में कुल १५ अध्याय हैं। इस ग्रन्थ में वटेश्वर ने आर्यभट्ट के सिद्धान्त का पोषण और ब्रह्मगुप्त का अनावश्यक खण्डन किया गया है।

श्रीपति का काल ९६१ शक के आस-पास का है। ये काश्यप-गोत्रीय ब्राह्मण थे। इनके पितामह का नाम 'केशव' और पिता का नाम 'नागदेव' था। श्रीपति ने 'रत्नमाला' ग्रन्थ की रचना लल्ल के 'रत्नकोष' के आधार पर की। इनके कुल ४ ग्रन्थ मिलते हैं। सिद्धांत के क्षेत्र में इनके दो ग्रन्थ क्रमश: 'सिद्धान्तशेखर' और 'धीकोटिदकरण', फलित का एक ग्रन्थ 'जातकपद्धति' तथा मुहूर्त का एक ग्रन्थ 'रत्नमाला' है। इन्होंने ज्याखण्डों के बिना ही केवल चाप द्वारा ज्या-साधन बताया है।

२.९ शब्दावली

श्रीचापवंशतिलके श्रीव्याघ्रमुखे - श्रीचापवंश के श्रीमान् व्याघ्रमुख राजा के काल में।

वर्षशतै: पञ्चभिरतीतै: - विगत ५०० वर्षों के द्वारा।

पञ्चाशत्संयुक्तै – (उसमें) ५० जोड़ने के द्वारा।

वर्षशतै: पञ्चभिरतीतै: पञ्चाशत्संयुक्तै – बीते हुए ५५० वर्षों के द्वारा।

त्रिंशद्वर्षेण - ३० वर्षों के द्वारा।

सज्जनगणितज्ञगोलवित्प्रीत्यै - सज्जन गणितज्ञों और खगोलवेत्ताओं की प्रसन्नता के लिए।

शकेन्द्रकालात् - शक नृप के काल से।

भुज – (भुजाएं) २।

शून्य – ०।

कुंजर – हाथी (संख्या में आठ प्रकार के माने गए हैं) ८।

भुजशून्यकुञ्जरै: - ८०२।

हायनै: -वर्षों के द्वारा।

अकारि – किया।

द्युसदां - ग्रहों या देवों की।

अनुग्रहात् - कृपा के कारण।

जिनाब्दै: - २४ वर्षो के द्वारा।

सार्धवर्षाष्टकं – साढ़े आठ वर्ष।

ऊचु: - कहे।

द्युयातात् – अहर्गण से।

क - ब्रह्मा।

सदला: - अर्धयुक्त।

समा: - वर्ष।

२.१० बोध प्रश्नों के उत्तर

प्र.१ (क) (√) (ख) (√) (ग) (×) (घ) (×) (ङ) (√)

प्र.२ (क) पृथूदकस्वामी।

(ख) कोलब्रुक।

(ग) ध्यानग्रहोपदेशाध्याय।

(घ) चौदहवां।

(ङ) सत्रहवां।

प्र.३ (क) (√) (ख) (√) (ग) (×) (घ) (×) (ङ) (√)

प्र.४ (क) १९४।

(ख) ७१।

(ग) १३।

(घ) पीयूषधारा।

(ङ) करणप्रकाश।

प्र.५ (क) (×) (ख) (√) (ग) (×) (घ) (×) (ङ) (√)

प्र.६ (क) केशव।

(ख) ८०२।

(ग) १०।

(घ) श्रीपति।

(ङ) महदत्त।

२.११ सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१. झारखंडी शिवनाथ (१९९०) भारतीय ज्योतिष (मूल – शंकर बालकृष्ण दीक्षित), उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ (द्वितीय संस्करण)।

२. प्रसाद गोरख (१९९०), भारतीय ज्योतिष का इतिहास, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ।

३. शर्मा पण्डित रामस्वरूप (१९६२), वटेश्वरसिद्धान्त, इन्डियन इन्स्टीट्यूट आफ अस्ट्रोनोमिकल एंड संस्कृत रिसर्च, नई दिल्ली।

२.१२ सहायक ग्रन्थ सूची –

१. शास्त्री नेमीचन्द्र (२०१४), भारतीय ज्योतिष, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली।

२. शास्त्री गिरिजा शंकर (२००१), आचार्य वराहमिहिर, ज्योतिष कर्मकांड एवं अध्यात्म शोध संस्थान, इलाहाबाद।

३. द्विवेदी सुधाकर (१८९२), गणक तरंगिणी।

२.१३ निबन्धात्मक प्रश्न –

१. वटेश्वर सिद्धान्त का वर्णन कीजिए।

२. श्रीपति के कर्तृत्व पर प्रकाश डालिए।

३. भारतीय ज्योतिष के इतिहास में ब्रह्मगुप्त की भूमिका को स्पष्ट कीजिए।

४. लल्ल के कर्तृत्व का निरूपण कीजिए।

इकाई - 3 भास्कराचार्य, मकरन्दाचार्य, केशवाचार्य एवं गणेश दैवज्ञ

इकाई की संरचना

३.१ प्रस्तावना

३.२ उद्देश्य

३.३. सिद्धान्त स्कन्ध का संक्षिप्त परिचय

३.४ सिद्धान्त स्कन्ध का उन्नतिकाल

३.५ भास्कराचार्य

- ३.५.१ भास्कराचार्य का परिचय
- ३.५.२ भास्कराचार्य का कर्तृत्व
  - ३.५.२.१ लीलावती
  - ३.५.२.२ बीजगणित
  - ३.५.२.३ सिद्धान्त शिरोमणि
- ३.५.३ भास्कराचार्य का वैशिष्ट्य

३.६ मकरंदाचार्य

३.७ गणेश दैवज्ञ

- ३.७.१ गणेश दैवज्ञ का काल
- ३.७.२ गणेश दैवज्ञ का परिचय
- ३.७.३ गणेश दैवज्ञ का कर्तृत्व
  - ३.७.३.१ ग्रहलाघव

३.८ सारांश

३.९ शब्दावली

३.१० बोध प्रश्नों के उत्तर

३.११ सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

३.१२ सहायक ग्रन्थ सूची

३.१३ निबन्धात्मक प्रश्न

३.१ प्रस्तावना –

प्रिय अध्येताओं! ज्योतिष-शास्त्र के एम.ए. द्वितीय वर्ष के तृतीय पत्र के द्वितीय खण्ड की तृतीय इकाई में आपका स्वागत है। जैसा कि मैने पूर्व में चर्चा की कि इस खण्ड में हम भारतीय-ज्योतिष-शास्त्र की समृद्ध परम्परा के विषय में विस्तार से चर्चा करेंगे। यह इकाई भी इसी विषय को दृष्टिगत करते हुए लिखी गयी है। इसलिए यद्यपि यह इकाई अन्य इकाइयों के समान ही भारतीय ज्योतिष के इतिहास को अपने में समेटे हुए है तथापि यह अन्य इकाइयों से कुछ भिन्न और बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह कैसे भिन्न है? वस्तुत: इस इकाई में हम भारतीय ज्योतिष के इतिहास के सबसे प्रतिष्ठित काल-खण्ड के खगोलज्ञों और गणितज्ञों की चर्चा करेंगे। यह सबसे प्रतिष्ठित क्यों माना जाए? इस काल-खण्ड की क्या विशेषताएं हैं? इस खण्ड के प्रमुख गणितज्ञ और वैज्ञानिक कौन हैं? इन सब प्रश्नों के उत्तर आपको इकाई के अध्ययन से अवश्य ही मिलेंगे। हां..... एक बात जो प्रस्तावना में और कहनी है, वह है इस इकाई के महत्व से सम्बन्धित। देखिए...हर शास्त्र, भाषा, संस्कृति या सभ्यता के इतिहास में उत्पत्ति, चरम और पतन ये तीन बड़ी ही महत्त्वपूर्ण घटनाएं होती हैं और इनमें से प्रत्येक घटना का सभी परिप्रेक्ष्यों से अध्ययन निश्चय ही तत्सम्बन्धी इतिहास के प्रति हमारी समझ को बढ़ाता है। यह इकाई इसलिए महत्वपूर्ण है क्यूंकि इसमें जिस काल-खंड की चर्चा होगी उसमें भारतीय ज्योतिष के, विशेषकर सिद्धान्त-स्कन्ध के चरमोत्कर्ष की गाथा समाई हुई है, जिसके नायक भास्कर द्वितीय (भास्कराचार्य) रहे हैं।

यद्यपि इस कालखंड में अनेकों प्रख्यात ज्योतिर्विद हुए हैं किन्तु आपके स्वाध्याय-सामग्री की सीमा को देखते हुए उनमें से तीन विद्वानों भास्कराचार्य, मकरान्दाचार्य और गणेश दैवज्ञ का ही संक्षिप्त परिचय इस इकाई में प्रस्तुत किया जा रहा है। संक्षिप्त इसलिए क्यूंकि इनमें से एक-एक का विस्तृत वर्णन स्वयं में एक-एक खण्ड की अपेक्षा रखता है। अत: इन विद्वानों के विषय में विस्तृत ज्ञान हेतु इनके मूल ग्रंथों और भारतीय-ज्योतिषेतिहास के मूल ग्रंथों को देखना चाहिए।

३.२ उद्देश्य –

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आप –

- ज्योतिष के सिद्धान्त-स्कन्ध को विस्तारपूर्वक निरूपित कर सकने में समर्थ हो सकेंगे।
- भारतीय ज्योतिष के मध्यकालीन इतिहास का निरूपण करने में कुशल हो सकेंगे।
- भास्कराचार्य का परिचय दे सकने में समर्थ हो सकेंगे।

- लीलावती, बीजगणित और सिद्धान्त शिरोमणि में वर्णित विषयों को बता सकने में समर्थ होंगे।
- मकरान्दाचार्य के ग्रन्थ का स्वरूप को समझा सकने में कुशल हो सकेंगे।
- गणेश दैवज्ञ और उनकी कृतियों के वर्णन में निपुण हो सकेंगे।

३.३ सिद्धान्त स्कन्ध का संक्षिप्त परिचय –

प्रिय बंधुओं! सिद्धान्त स्कन्ध के उन्नति-काल के पूर्व आइए थोड़ी चर्चा सिद्धान्त स्कन्ध के स्वरूप पर कर लेते हैं। जैसा कि आप जानते हैं ज्योतिष त्रि-स्कन्धात्मक है। इस संबन्ध में स्वयं नारद जी का वचन है-

सिद्धान्तसंहिताहोरारूपं स्कन्धत्रयात्मकम्।
वेदस्य निर्मलं चक्षु: ज्योतिषशास्त्रमकल्मषम्।।

(नारदसंहिता, १/४)

अर्थात् सिद्धान्त, संहिता और होरा इन तीन स्कन्धों से युक्त वेद-पुरुष के निर्मल नेत्र के रूप में प्रतिष्ठित यह ज्योतिष शास्त्र है।

इन स्कंधों में सिद्धान्त का क्या स्वरुप है – ऐसी जिज्ञासा आपके मन में उठना स्वाभाविक है। यदि एक वाक्य में कहें तो ग्रहों की गति, स्थिति, ग्रहण-काल आदि की गणना ज्योतिष के जिस स्कन्ध में की जाए वह 'सिद्धान्त' कहलाता है। सिद्धान्त के संक्षिप्त परिचय को बड़े ही सुन्दर शब्दों में परिभाषित करते हुए स्वयं भास्कर कहते हैं –

त्रुट्यादिप्रलयान्तकालकलनामानप्रभेद: क्रमाच्,
चारश्च द्युसदां द्विधा च गणितं प्रश्नास्तथा सोत्तरा:।
भूधिष्ण्यग्रहसंस्थितैश्च कथनं यन्त्रादि यत्रोच्यते,
सिद्धान्त: स उदाहृतोऽत्र गणितस्कन्धप्रबन्धे बुधै:।।

(सिद्धान्तशिरोमणि, गणिताध्याय, मध्यमाधिकार १/५)

अर्थात् त्रुटि से लेकर प्रलय तक की काल गणना (कलना) और उस काल को मापने के विविध तरीके, ग्रहों के (द्युसदां) विभिन्न राशि या नक्षत्रों में संचरण (चार), प्रश्न तथा उत्तर इन दो प्रकार

की गणित, पृथ्वी, नक्षत्र (धिष्ण्य), और ग्रहों की आकाशीय स्थिति (का ज्ञान) और विविध यन्त्रों (क्रान्ति, चर, अक्षांश आदि के ज्ञान हेतु) का अध्ययन जिस गणित-स्कंध में करते हैं उसे ही विद्वान् लोग 'सिद्धान्त' कहते हैं।

उपरिलिखित श्लोक की टीका में ही नृसिंह दैवज्ञ सिद्धान्त को परिभाषित करते हुए कहते हैं – '**व्यक्ताव्यक्तखगोलवासनामय: सिद्धान्त आदिरिति**'। अर्थात् व्यक्त और अव्यक्त स्वरूप खगोलशास्त्र-सम्बन्धी टीका से युक्त सिद्धान्त नामक स्कन्ध (सभी स्कन्धों में) प्रथम है।

इस सिद्धान्त के ही तीन अवान्तर भेद हैं – १. सिद्धान्त, २. तन्त्र, ३. करण।

सिद्धान्त - जिस भेद में कल्प से लेकर अभीष्ट समय तक के दिनों की गणना के आधार पर ग्रह का स्पष्ट राश्यादि ज्ञान किया जाए वह 'सिद्धान्त' इस नाम से प्रसिद्ध है। प्रसिद्ध सिद्धान्त ग्रंथों में सूर्य-सिद्धान्त, भास्कराचार्य का सिद्धान्त शिरोमणि, कमलाकर का सिद्धान्त तत्त्व विवेक, सामंत चंद्रशेखर का सिद्धान्त दर्पण आदि प्रमुख हैं।

तन्त्र – जिस भेद में अभीष्ट युग से लेकर वर्तमान समय तक के दिनों की गणना के आधार पर ग्रह का स्पष्ट राश्यादि ज्ञान किया जाए वह 'तन्त्र' इस नाम से प्रसिद्ध है। लल्ल का शिष्यधीवृद्धिदम् प्रसिद्ध तन्त्र ग्रन्थ है।

करण – जिस भेद में अभीष्ट शक से लेकर वर्त्तमान समय तक के दिनों की गणना के आधार पर ग्रह का स्पष्ट राश्यादि ज्ञान किया जाए वह 'करण' इस नाम से प्रसिद्ध है। भास्कर का करणकुतूहलम्, शतानन्द का भास्वती, गणेश का ग्रहलाघवम्, केतकर का केतकीग्रहगणितम् इत्यादि प्रसिद्ध करण ग्रन्थ हैं।

यद्यपि सभी स्कन्ध अत्यन्त महत्व के हैं किन्तु बिना सिद्धान्त स्कंध के ज्ञान के व्यक्ति का ज्योतिष ज्ञान अपूर्ण है। भास्कराचार्य ने तो सिद्धांत-ज्ञान से रहित मनुष्य को दीवार पर टंगे राजा के चित्र के समान महत्वहीन कह दिया है –

जानन् जातकसंहिता सगणितस्कन्धैकदेशा अपि,
ज्योति:शास्त्रविचारसारचतुरप्रश्नेष्वकिञ्चित्कर:।
य: सिद्धान्तमनन्तभेदवितथं नो वेत्ति भित्तौ यथा,
राजा चित्रमयोऽथवा सुघटित: काष्ठस्य कण्ठीरव:।।

(सिद्धान्तशिरोमणि, गणिताध्याय, मध्यमाधिकार १/७)

अर्थात् जातक (होरा) और संहिता इन स्कंधों को जानता हुआ भी जो अनेक (भेद के आधार पर मुख्यत: तीन और विषय के आधार पर अनेकों) प्रकार के गणितीय भेदों से युक्त इस सिद्धान्त स्कंध को नहीं जानता है (नो वेत्ति) वह ज्योतिषशास्त्रीय सारपूर्ण गम्भीर प्रश्नों (ज्योति:शास्त्रविचारसारचतुरप्रश्नेषु) के उत्तर में विचारशून्य होता हुआ उसी प्रकार का महत्वहीन या प्रभावहीन (अकिञ्चित्कर) माना जाता है जैसा कि दीवार पर (भित्तौ) चित्र के रूप में टंगा हुआ राजा या बहुत ही सुन्दरता से गढ़ा किन्तु काठ का शेर (कंठीरव) (महत्वहीन अथवा प्रभावहीन होता है)।

इसका कारण यही है की बिना गणित या खगोल के स्पष्ट ज्ञान के ग्रहों की स्पष्ट आकाशीय स्थिति जानना संभव नहीं है, जिसके अभाव में ग्रहों के व्यक्तिगत (होराशास्त्रीय) या समष्टिगत (संहितास्कंधात्मक) प्रभाव का भी सही आंकलन और अध्ययन सम्भव नहीं है। इसी बात को भास्कर अपने सिद्धान्त शिरोमणि में कहते हैं –

ज्योतिषशास्त्रफलं पुराणगणकैरादेश इत्युच्यते,
नूनं लग्नबलाश्रितं पुनरयं तत्स्पष्टखेटाश्रयम्।

(सिद्धान्तशिरोमणि, गोलाध्याय, गोलप्रशंसाध्याय १/७)

अर्थात् ज्योतिष-शास्त्र के फल को पुराने विद्वानों ने 'आदेश' कहा है जो निश्चित ही लग्न के बल पर आधारित है और वो लग्न, स्पष्ट ग्रह (के साधन) पर आधारित है।

तो मित्रों, आप स्वयं सोचिए की जिस काल में सिद्धान्त स्कन्ध को इतना महत्वपूर्ण माना जाता था उस काल में उस स्कन्ध की उन्नति क्यूं नहीं होगी। इस कालखण्ड में सिद्धांत के सभी भेदों में ग्रंथों की अत्यधिक रचना हुई। तो आइए, कुछ बात उस काल-खण्ड की भी हो जाए।

३.४ सिद्धान्त स्कन्ध का उन्नतिकाल -

मित्रों! यद्यपि भारतीय ज्योतिष का प्रत्येक पक्ष अपने आप में बड़ा ही महत्वपूर्ण, प्रशंसनीय और सम्पूर्ण ज्योतिष-वाङ्मय में अपना विशेष स्थान रखने वाला है तथापि इसके सिद्धान्त पक्ष ने पाश्चात्य विद्वानों का ध्यान १७वीं से १९वीं शताब्दी में अपनी ओर सर्वाधिक खींचा। चूंकि औद्योगिक क्रान्ति और उसके बाद के समय ने यूरोप का नज़रिया पूरी तरह से बदल कर रख दिया था और वे अध्ययन के प्रत्येक क्षेत्र में वैज्ञानिक दृष्टिकोण को बहुत ही महत्त्व देने लगे थे। ऐसे में भारत; जिसको वे अनपढ़ों, सपेरों और मदारियों का देश समझते थे, के आचार्यों और ग्रंथों के सम्पर्क में आने से न केवल उनका भ्रम बहुत तीव्रता से टूटने लगा बल्कि उन्होंने भारतीय शास्त्रों विशेषकर वैज्ञानिकता का प्रतिपादन करने वाले ग्रंथों के अध्ययन, शोध और प्रकाशन पर बड़ी ही गंभीरता से ध्यान केन्द्रित

करना आरम्भ कर दिया। कालान्तर में तो भारतीयों के ज्ञान, प्रतिभा और उनके शास्त्रों की गंभीरता और विशदता से डरकर पाश्चात्य लोग भारतीयों के प्रति दुर्भावना-ग्रस्त हो गए। फलस्वरूप उन्होंने भारतीयों को न केवल आर्थिक और सामाजिक दास बनाना आरम्भ किया बल्कि भारत की बौद्धिक सम्पदा का निरादर करने के लिए भारतीय ग्रंथों की मनमाने ढंग से व्याख्याएं करके उन्हें स्तरहीन या 'बेबीलोनिया इत्यादि अन्य सभ्यताओं से प्राप्त किया हुआ' बताना आरम्भ कर दिया। इन विद्वानों में व्हिटनी, बर्जेस, कोलब्रुक, मैक्समूलर इत्यादि मुख्य रहे।.... हालांकि २० वीं शताब्दी आते-आते स्थितियां थोड़ी बदलीं और न केवल भारतीय विद्वानों ने अपितु स्वयं कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने भी भारतीय ज्ञान संपदा को विश्व पटल पर उसका वास्तविक स्थान देने और उसे प्रतिष्ठित करने का प्रयास आरम्भ किया। वर्तमान २१ वीं शताब्दी तो अपने दूसरे दशक में ही भारतीय ज्ञान-विज्ञान की ही शताब्दी मानी जाने लगी है। ....बहरहाल उपर्युक्त अतिसंक्षिप्त ऐतिहासिक परिदृश्य को प्रस्तुत करने का उद्देश्य भारतीय ज्योतिष के सिद्धांत काल की प्रतिष्ठा और लोकप्रियता के मूलभूत कारणों की ज़मीन तलाशना था। और अगर संक्षेप में कहा जाए तो सिद्धान्त स्कन्ध की वैज्ञानिकता और गणितीय प्रकृति ने तत्कालीन विद्वानों का ध्यान अपनी ओर खींचा, जिसके कारण यह काल-खण्ड आज भी अत्यन्त लोकप्रिय है।

प्रिय अध्येता, यहाँ आपके मन में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्या इसी काल-खण्ड में भारतीय-खगोलीय-गणित की प्रगति हुई, उसके पहले या बाद में नहीं? और यदि ऐसा नहीं है तो यह उन्नतिकाल कैसे माना जाए?

इन प्रश्नों का उत्तर ढूँढना तभी सम्भव है जब हमें इस काल-खंड की सीमा ज्ञात हो। इस सम्बन्ध में कहना यह है कि जहां तक प्रश्न सीमा का है, १००० शक से लेकर १६०० शक तक, यह कालखण्ड लगभग ६०० वर्षों का है। विद्वानों की बात करें तो **भास्कराचार्य** से लेकर **नित्यानंद** तक के मुख्य गणितज्ञ और खगोलवेत्ता इस कालखण्ड में समाहित हैं।

यह कहना तो कतई उचित नहीं होगा कि भारतीय-सिद्धान्त (खगोल)-ज्योतिष के क्षेत्र में इस काल-खण्ड से पूर्व या पश्चात् कार्य नहीं हुआ या प्रगति नहीं हुई। हां, लेकिन इतना कहना अवश्य है कि इस काल-खण्ड में सिद्धान्त-ज्योतिष के क्षेत्र में अन्य काल खण्डों की अपेक्षा न केवल अधिक कार्य हुआ अपितु प्रयोगों और गणित के आधार पर विद्वानों में स्व-स्थापित सिद्धान्तों और पक्षों के मण्डन और दूसरे के पक्षों के खण्डन की परम्परा बड़ी ही समृद्ध रही। जिसने खगोलीय ज्योतिष के क्षेत्र में मौलिक भारतीय-चिन्तन-सरणि को अत्यन्त समृद्ध और प्रवाहपूर्ण बनाया। इसमें अनेकों

प्रतिभासम्पन्न खगोलज्ञों की विचार-तरंगें समय-समय पर अपनी उद्दाम गति से खगोल-रसिकों को आप्लावित और आनन्दित करती रहीं। इस अवधि की रचनाओं ने न केवल भारतीय ज्योतिष की प्रतिष्ठा सर्वत्र बढ़ाई अपितु अन्य देशों के ज्योतिष-सिद्धांतों को भी प्रभावित किया। इस कालखण्ड ने भारतीय विद्वानों की रुचि नक्षत्र-दर्शन और पञ्चांग निर्माण में बढ़ाई। परिणामस्वरूप विद्वानों में 'करण-ग्रंथों' के निर्माण की होड़ सी लग गयी। इस तरह देखा जाए तो, एक ही तरीक़े के सिद्धान्त-ग्रंथों की (जिसमें गणित पर अधिक ज़ोर हो, जैसा कि आर्यभट्ट और ब्रह्मगुप्त के ग्रंथों में देखने को मिलता है) रचना से आगे बढ़कर पंचांगों के निर्माण हेतु सबल प्रायोगिक (खगोलीय) पक्षों से युक्त ग्रंथों (यथा – सिद्धांत शिरोमणि) की रचना निश्चय ही भारतीय-ज्योतिष, विशेषकर सिद्धांत-ज्योतिष के उन्नति का ही परिचायक है। इस नवीन दृष्टिकोण ने आगे चलकर ग्रहों के मन्दोच्च-नीच-पातादि सम्बन्धी सारिणी के निर्माण और उसकी शुद्धता के ज्ञान हेतु वेध-शाला-निर्माण, दृग्गणितैक्यता विचार और निरयण-सायन आदि विशुद्ध खगोलीय विषयों को भारतीय-ज्योतिष-जगत् के अध्ययन और शास्त्रार्थ का केन्द्र बनाया। अत: विचार करने पर इस निष्कर्ष पर पहुँचना स्वाभाविक है कि यह काल-खण्ड निश्चय ही सिद्धान्त-ज्योतिष का उन्नति-काल होने के कारण भारतीय ज्योतिष के इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहा है जिसने न केवल भारतीय-ज्योतिष अपितु संपूर्ण भारतीय-वाङ्मय पर अपनी अमिट छाप छोड़ी।

मित्रों, साहित्य-जगत में यदि कोई काल-खण्ड महत्वपूर्ण माना जाए तो उसमें कारण निश्चय ही उस अवधि की कुछ कालजयी रचनाएं और उनके प्रणेता अद्भुत व्यक्तित्व रहते हैं। यह काल-खण्ड भी इस बात का अपवाद नहीं है। इस कालखण्ड में अनेकों विद्वानों ने अपनी विशिष्ट रचनाधर्मिता से ज्योतिषशास्त्र रूपी महासमुद्र को समृद्ध बनाया। इन विद्वानों में **भोजराज**, **शतानंद**, **महेश्वर**, **भास्कराचार्य**, **महादेव**, **पद्मनाभ**, **गंगाधर**, **मकरन्दाचार्य**, **केशव**, **गणेश**, **ज्ञानराज**, **अनन्त**, **रघुनाथ**, **कृपाराम**, **दिनकर**, **रामभट्ट**, **श्रीनाथ**, **विष्णु**, **मल्लारि**, **विश्वनाथ**, **रंगनाथ मुनीश्वर**, **कमलाकर** और **नित्यानन्द** प्रमुख हैं। इसके अलावा कई अन्य भी हैं जिनका उल्लेख आपको भारतीय-ज्योतिषेतिहास के ग्रंथों में मिलेगा। ज्योतिष के इतिहास-सम्बन्धी ग्रंथों में आये नामों के अतिरिक्त अन्य भी विद्वान् निश्चय ही हुए जिनकी कृतियों का उल्लेख या तो मिलता नहीं है या मिलता भी है तो वे ग्रन्थ मूल रूप में प्राप्त नहीं होते हैं। ऐसी स्थिति में जो ज्ञात विद्वान् हैं उन सबका संक्षिप्त सार्थक परिचय भी यहाँ केवल एक खंड में दे पाना संभव नहीं है, तो फिर एक इकाई की तो बात ही क्या। इस स्थिति में इस काला-खण्ड के प्रतिनिधिभूत तीन विद्वानों का ही परिचय इस इकाई में दिया

जा रहा है। तो फिर प्रश्न यह है कि कौन हैं वो तीन विद्वान् जिनकी चर्चा इस इकाई में की जाएगी? उत्तर है - भास्कराचार्य, मकरान्दाचार्य और गणेश दैवज्ञ। तो आइए, क्रमश: इनकी थोड़ी चर्चा कर ली जाए।

बोध प्रश्न

प्र.१ निम्नलिखित वाक्यों में सही के आगे (√) का और गलत के आगे (×) का चिह्न लगाएं –

(ट) ज्योतिष वेद-पुरुष का मुख है। ()

(ठ) त्रुटि से प्रलय तक की गणना सिद्धान्त स्कन्ध में नहीं होती है। ()

(ड) सिद्धान्त स्कन्ध के २ भेद माने गए हैं। ()

(ढ) सूर्य-सिद्धान्त एक करण-ग्रन्थ है। ()

(ण) सिद्धान्त के उन्नति का काल १००० शक से आरम्भ होता है। ()

अभ्यास प्रश्न

प्र.१ सिद्धान्त स्कन्ध के भेदों के विषय में लिखें।

_____

_____

_____

_____

बोध प्रश्न

प्र.२ निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दें –

(ट) ग्रहों की गतियों का अध्ययन _____स्कन्ध में किया जाता है।

(ठ) खगोल का ज्ञान _____स्कंध में किया जाता है।

(ड) अभीष्ट शक से जिसमें गणना हो उसे _____कहते हैं।

(ढ) भास्वती एक _____ग्रन्थ है।

(ण) कमलाकर के ग्रन्थ का नाम _____है।

अभ्यास प्रश्न

प्र.२ सिद्धांत के उन्नति-काल के विद्वानों के नाम लिखिए।

_____

_____

३.५ भास्कराचार्य (भास्कर द्वितीय) -

भास्कराचार्य भारतीय-ज्योतिष-रूपी आकाश के भास्कर-स्वरूप हैं। विलक्षण प्रतिभा के धनी भास्कराचार्य की गणितीय क्षमता, खगोलीय ज्ञानपरक मेधा और साहित्यिक कौशल अपने आप में अप्रतिम है। जहां एक ओर भास्कर के चक्रवाल, कुट्टक, वर्गप्रकृति इत्यादि गणितीय-कौशल ने गणितीय-विद्वानों को आश्चर्यचकित किया वहीं दूसरी ओर उनके उदयान्तर संस्कार, लम्बनसंस्कार, ज्योत्पत्ति, प्रत्यब्दशुद्धि इत्यादि ने खगोलीय पंडितों को अपना प्रशंसक बनाया। उनकी बेजोड़ प्रतिभा का एक तीसरा पहलू भी है जो है उनकी काव्यरचना-धर्मिता, जिसने बड़े-बड़े साहित्यिकों से भी अपना लोहा मनवाया। फिर चाहे भुवनकोश-वर्णन हो, या ऋतुवर्णन या लीलावती के सुललित छंदात्मक पद्य, उनकी काव्य-प्रतिभा सर्वत्र आश्चर्यचकित करती है। ऐसे अद्भुत विद्वान् के वरना के बिना भारतीय-ज्योतिष का इतिहास निश्चय ही अपूर्ण माना जाएगा। तो...आइए, भास्कर की प्रतिभा के इन विभिन्न पहलुओं पर थोड़ी चर्चा करते हैं। किन्तु इसके पहले भास्कराचार्य का परिचय भी जानना आवश्यक है।

३.५.१ भास्कराचार्य का परिचय –

भास्कराचार्य ने अपना परिचय स्वयं दिया है। जिसके अनुसार, भास्कराचार्य का जन्म-काल १०३६ शक (१११४ ई.) है –

रसगुणपूर्णमही समशकनृपसमयेऽभवन्ममोत्पत्तिः।
रसगुणवर्षेण मया सिद्धान्तशिरोमणौ रचितः।।

(सिद्धान्तशिरोमणि, गोलाध्याय)

रस (६) गुण (३) पूर्ण (०) मही (१), (अङ्कानां वामतो गतिः इस नियम के अनुसार) १०३६ शक काल में मेरी उत्पत्ति हुई। रसगुण (३६) वर्षों में मेरे द्वारा सिद्धान्त शिरोमणि की रचना की गई है।

करण-कुतूहल ग्रन्थ का आरम्भ ११०५ शक में हुआ था, इसलिए यही इसका रचनाकाल है, जो ११८३ ई. होता है। इससे प्रकट होता है कि करण-कुतूहल की रचना ६९ वर्ष की अवस्था में की गयी थी।

अपने जन्मस्थान, गोत्र और वर्ण की भी जानकारी उन्होंने दी है –

आसीत् सह्यकुलाचलाश्रितपुरे त्रैविद्यविद्वज्जने,
नानासज्जनधाम्नि विज्जडविडे शाण्डिल्यगोत्रो द्विजः।।

(सिद्धान्तशिरोमणि, गोलाध्याय, प्रश्नाध्याय)

अर्थात् मेरा जन्म-स्थान सह्याद्रि पर्वत (सह्यकुलाचल) के निकट 'विज्जडविड' नामक ग्राम में शाण्डिल्य गोत्र के ब्राह्मण परिवार में हुआ, जो कि त्रिकालवेत्ता सज्जन ब्राह्मणों का गांव है। शंकर बालकृष्ण दीक्षित जी ने अपने ग्रन्थ में महाराष्ट्र के खानदेश के चालिसगांव से १० मील दूर स्थित 'पाटण' में प्राप्त भास्कराचार्य से सम्बन्धित शिलालेखों का ज़िक्र किया है। ये शिलालेख उनके वंशज चांगदेव द्वारा बनवाए गए हैं। दीक्षित जी ने निष्कर्ष रूप में भास्कराचार्य का मूल निवास पाटण या उसके निकट विजलविड़ माना है और उनके कुल को बड़ा ही सम्मानित और राज्याश्रित बताया है।

इनके पिता का नाम महेश्वर था जिनसे इन्होंने ज्योतिष की शिक्षा प्राप्त की, चूंकि वह स्वयं एक विद्वान् ज्योतिषी थे। स्वयं भास्कर ने अपने पिता के लिए 'दैवज्ञचूडामणिः' इस विशेषण का प्रयोग किया है।

३.५.२ भास्कराचार्य का कर्तृत्व –

प्रिय मित्रों! जैसा कि पूर्व में ही मैंने चर्चा की कि भास्कर का कर्तृत्व भारतीय ज्योतिष में अपनी अलग ही पहचान रखता है। सुललित पद्य-रचना व उच्च कोटि की काव्य-शैली भास्कराचार्य की पहचान है, जिसे आजकल की भाषा में 'ट्रेडमार्क' कहते हैं। काव्य की यह सरसता कठिन और दुरूह विषय को समझने में उसी प्रकार से सहायता करती है जैसे धूप में चलने वाले पथिक की आरामदायक छाँव। बड़े-बड़े वृत्तों में रचनाएं अपने में बहुत सारा गंभीर ज्ञान समेटे रहती हैं। और चूंकि पद्य बड़े हैं इसलिए विषय का आवश्यकतानुसार विस्तार भी ग्रन्थों में हुआ है।

इनके बनाये चार ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध हैं : १- सिद्धान्त-शिरोमणि, दो भागों में, जिनके नाम 'गणिताध्याय' और 'गोलाध्याय' हैं, २ - लीलावती, ३- बीजगणित और ४- करण-कुतूहल। सिद्धान्तशिरोमणि पर इन्होंने स्वयं 'वासना भाष्य' नामक टीका भी लिखी है। लीलावती और बीजगणित भी वास्तव में सिद्धान्त-शिरोमणि के ही अंग माने गये हैं। ऐसा स्वयं भास्कर ने इन ग्रंथों के अन्तिम में लिखा है। इसका कारण पर विचार करें तो यह बात स्पष्ट होती है। वस्तुतः सिद्धान्त-ज्योतिष का पूरा ज्ञान तभी हो सकता है जब विद्यार्थियों को पाटीगणित का, जिसमें क्षेत्रफल, घनफल आदि

विषयों का भी समावेश है, तथा बीजगणित का आवश्यक ज्ञान हो। आइए, उनकी कृतियों पर संक्षेप में दृष्टिपात करते हैं।

३.५.२.१ लीलावती -

लीलावती नामक ग्रंथ में लीलावती नामक कन्या को संबोधन करके प्रश्नोत्तर के रूप में पाटीगणित, क्षेत्रमिति, आदि के प्रश्न बहुत रोचक ढंग से बताये गये हैं। इसमें २७८ पद्य हैं। इसमें आरम्भ में विविध मापन इकाइयां और संख्या का वर्णन है। पूर्णांकों और भिन्न संख्याओं के योग, अंतर, गुणा, भाग, वर्ग, वर्गमूल, घन, घनमूल का वर्णन है जिन्हें भास्कर ने 'परिकर्माष्टक' कहा है। इसके अतिरिक्त त्रैराशिक, श्रेढी-व्यवहार क्षेत्र-व्यवहार, छाया-व्यवहार, कुट्टक आदि विषय इस ग्रन्थ में वर्णित हैं। अंत में गणितपाश (क्रमचय) नामक एक अध्याय और है। इसकी भाषा बड़ी ललित है। इसकी संस्कृत और हिंदी टीकाएं भी मिलती हैं। ज्योतिष और विशेषकर सिद्धांत-ज्योतिष एवं गणित के विद्यार्थियों के लिए यह पुस्तक पाठ्यक्रम के रूप में निर्धारित भी है। इसकी कई प्राचीन टीकाएँ भी हैं, जैसे गंगाधर की 'गणितामृतसागरी' (१३४२ श•), ग्रह-लाघवकार गणेश दैवज्ञ की 'बुद्धिविलासिनी' (१४६७ शक), धनेश्वर दैवज्ञ की 'लीलावतीभूषण', मुनीश्वर की 'लीलावतीविवृति' (१५४७ शक), महीधर की 'लीलावतीविवरण', रामकृष्ण की 'गणितामृतलहरी', नारायण की पाटीगणित-कौमुदी, रामकृष्ण देव की 'मनोरंजना', रामचंद्र कृत 'लीलावती-भूषण', विश्व रूप की 'निसृजृ-दूती', सूर्यदास की 'गणितामृतकूपिका' इत्यादि। वर्तमान काल में पं. बापूदेव शास्त्री की टिप्पणी और पं. सुधाकर द्विवेदी की उपपत्ति सहित टीकाएँ भी प्रकाशित हुई हैं।

३.५.२.२ बीजगणित -

इसमें अव्यक्त संख्याओं का धनर्णषड्विध, खषड्विध, करणीषड्विध, एकवर्ण समीकरण, अनेकवर्ण समीकरण एकवर्ण मध्यमाहरण, अनेकवर्ण मध्यमाहरण, चक्रवाल, कुट्टक, वर्गप्रकृति इत्यादि विषय वर्णित हैं। भास्कराचार्य के बीजगणित पर कृष्ण दैवज्ञ की बीजनवांकुर टीका (शक १५२४) और सूर्यदास की टीका प्रसिद्ध है। उपपत्ति के साथ इसकी टीका पं. सुधाकर द्विवेदी ने भी की है। इनके अतिरिक्त और भी कई टीकाएँ हैं।

३.५.२.३ सिद्धांतशिरोमणि –

यह सिद्धांत ज्योतिष का एक उत्तम और प्रसिद्ध ग्रंथ है। इसमें ज्योतिष सिद्धान्त की सभी बातें विस्तार और उपपत्ति के साथ बतायी गयी हैं जिनका वर्णन ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त अथवा महासिद्धांत

में है। इसकी अनेक टीकाएं हैं। ग्रहलाघवकार गणेश दैवज्ञ की भी टीका इस पर है। नृसिंह ने वासनाकल्पलता अथवा वासनावर्तिका नामक टीका १५४३ शक में लिखी थी, मुनीश्वर या विश्वरूप की मरीचि नामक टीका बहुत उत्तम और विस्तार के साथ १५५७ शक में लिखी गयी थी। आर्यभटीय के टीकाकार परमेश्वर ने सिद्धान्त-दीपिका नामक टीका की थी। रंगनाथ की मितभाषिणी नामक टीका शक १५८० के लगभग लिखी गयी थी।

गोलाध्याय

सिद्धान्तशिरोमणि के गोलाध्याय में चौदह (१४) अध्याय हैं, जिनमें से प्रथम 'गोलप्रशंसा' है। इसमें मंगलाचरण के बाद ज्योतिषी हेतु कर्तव्य-अकर्तव्य की बात कही गयी है। विशेष बात यह है की इसमें शास्त्रज्ञ होने के लिए व्याकरणज्ञ होने पर बल दिया गया है। आगे स्पष्ट शुभाशुभ-फल-कथन के लिए भी गणित और गोल के ज्ञान को आवश्यक कहा है। अंतिम श्लोक में भास्कराचार्य ने अपनी पुस्तक की प्रशंसा इन शब्दों में की है :

गोलं श्रोतुं यदि तव मतिर्भास्करीयं शृणु त्वं
नो संक्षिप्तो न च बहुवृथाविस्तर: शास्त्रतत्त्वम्।
लीलागम्य: सुललितपद: प्रश्नारम्य: स यस्माद्
विद्वन! विद्वत्सदसि पठतां पंडितोक्तिं व्यनक्ति॥

(सिद्धान्तशिरोमणि, गोलाध्याय, गोलप्रशंसाध्याय, ९)

अर्थात् हे पंडित! यदि तुम्हारी इच्छा (तव मति:) गोल या खगोल-विज्ञान को सुनने की है तो मेरे इस ग्रन्थ को सुनो। वह न तो संक्षिप्त है और न व्यर्थ बहुत विस्तृत (बहुवृथाविस्तर:) ही है। उसमें शास्त्र का तत्त्व है। उसमें सुन्दर पद (सुललितपद:) हैं और मनोरम प्रश्न भी हैं। वह सुगमता से समझी जा सकती है (लीलागम्य:) और उसे पंडितों की सभा में (विद्वत्सदसि) सुनाने से विद्वत्ता भी प्रकट होती है।

दूसरे 'गोलस्वरूपप्रश्न' नामक अध्याय में दस श्लोक हैं जो प्रश्न रूप में हैं। इनमें कुछ क्लिष्ट प्रश्न भी हैं, जैसे

भवलयस्य किलार्कलवा: समा: किमसमै: समयै: खलु राशय:।
समुपयान्त्युदयं किमु गोलविन्न विषयेष्वखिलेष्वपि ते समा:॥

(सिद्धान्तशिरोमणि, गोलाध्याय,गोलस्वरूपप्रश्नाध्याय, ७)

अर्थात् हे गोलज्ञ! रविमार्ग या राशिचक्र के (भवलयस्य) बराबर-बराबर बारह भाग (अर्कलवा: समा:), जो बारह राशियाँ है, वह समान समय में क्यों (किमु) नहीं उदित (समुपयान्त्युदयं) होते हैं? और वे सब देशों में एक साथ क्यों नहीं उदित होते?

भुवनकोश नामक तीसरे अध्याय में पृथ्वी और विश्व का स्वरूप बताया गया है। जैसे पृथ्वी क्रमश: चंद्र, बुध, शुक्र, रवि, मंगल, बृहस्पति और नक्षत्रों की कक्षाओं से घिरी हुई है। इसका कोई आधार नहीं है, केवल अपनी शक्ति से स्थिर है। इसके पृष्ठ पर सदा असुर, मनुष्य, देव और दैत्य आदि से युक्त विश्व स्थित है। जिस प्रकार कदंब के फूल की गाँठ चारों ओर केसरों से घिरी रहती है वैसे ही पृथ्वी भी चारों ओर पर्वत, उद्यान, ग्राम, यज्ञशाला आदि से घिरी है। पृथ्वी के निराधारत्व से सम्बन्धित मत को उपस्थापित करते हुए यथासम्भव पौराणिक मतों से सामंजस्य बैठाने की कोशिश भास्कर ने की है। इसी अध्याय में पृथ्वी की स्वाभाविक प्रकृति का उल्लेख करते हुए उसके गुरुत्वाकर्षण-शक्ति का भी वर्णन भास्कर करते हैं।

यदि भूमि किसी साकार वस्तु के आधार पर स्थित है तो उस आधार का भी कोई आधार होना चाहिए। यों प्रत्येक वस्तु के लिए किसी दूसरे आधार के कल्पना करते चलें तो अनवस्था हो जायेगी। यदि अंत में निजी शक्ति की कल्पना ही करनी है तो वह पहले ही से क्यों ने की जाय? भास्कर ने इसी अध्याय में पृथिवी की गुरुत्वाकर्षण-शक्ति का उपस्थापन किया।

आकृष्टशक्तिश्च मही तया यत् खस्थं गुरुं स्वाभिमुखम् स्वशक्त्या।
आकृष्यते तत्पततीव भाति समे समन्तात् क्वपतत्वियं खे।।

(सिद्धान्तशिरोमणि, गोलाध्याय, भुवनकोश, ६)

अर्थात् पृथ्वी में आकर्षण-शक्ति है, उससे वह आकाश में फेंकी गयी भारी वस्तुओं को अपनी ओर खींचती है और वह भारी वस्तु गिरती हुई दिखायी पड़ती है, परन्तु पृथ्वी कहीं नहीं गिर सकती, क्योंकि आकाश सब ओर समान है।

भास्कराचार्य ने बौद्धों के कथन 'पृथ्वी गिरती है' और जैनों के कथन 'दो सूर्य हैं, दो चंद्र हैं, जिनका एकान्तर से उदय होता है' का बहुत बलपूर्वक खंडन किया है। आगे भास्कर ने पृथ्वी के मापन की विधि का वर्णन करते हुए कहा है कि भूमध्य रेखा से उज्जयिनी की दूरी नापकर उसे १६ से गुणा करने पर पृथ्वी की परिधि ज्ञात होगी, क्योंकि उज्जयिनी का अक्षांश २२-१/२ अंश, अर्थात् ३६० अंश का १/१६ हिस्सा है। इसके बाद लंका, यमकोटि, रोमकपत्तन, सिद्धपुर, सुमेरु और बडवानल की परिभाषाएँ या स्थितियाँ बतायी गयी हैं। फिर पौराणिक परम्परा के अनुपालन में कुछ भौगोलिक

अवधारणाएं प्रस्तुत की गई हैं। आगे भूमध्य-रेखा पर राशिचक्र की स्थिति और इसके बाद ध्रुव के उन्नतांश और स्थान के अंक्षांश में संबंध बताया गया है। फिर पृथ्वी की परिधि, उसका व्यास और उसके पृष्ठ का क्षेत्रफल बताया गया है। इसमें परिधि और व्यास का अनुपात बहुत शुद्ध (३.१४१६) लिया गया है। भास्कराचार्य ने पृष्ठ के क्षेत्रफल के संबंध में लल्लाचार्य की गणना को अशुद्ध बताया है क्योंकि लल्ल ने अशुद्ध सूत्र के अनुसार परिधि से वृत्त के क्षेत्रफल को गुणा किया था। भास्कराचार्य ने परिधि को व्यास से गुणा किया है, जो पूर्णतया शुद्ध है।

इसके अतिरिक्त गोलाध्याय में मध्यगतिवासना, छेद्यकाधिकार, ज्योत्पत्तिवासना, गोलबन्धाधिकार, त्रिपश्नवासना, ग्रहणवासना, उदयास्तवासनाध्याय, शृङ्गोन्नतिवासनाध्याय, यन्त्राध्याय और ऋतुवर्णनाध्याय हैं।

गणिताध्याय

यह भी सिद्धान्तशिरोमणि का एक भाग है। इसमें ग्रहों के साधन अर्थात् स्पष्ट राश्यादि ज्ञान के लिए आवश्यक गणित पक्ष पर अधिक बल दिया गया है। इसमें मध्यमाधिकार, स्पष्टाधिकार, त्रिप्रश्नाधिकार, पर्वसम्भवाधिकार, चंद्रग्रहणाधिकार, इत्यादि अध्याय वर्णित हैं। मध्यमाधिकार में ९ प्रकार की काला मापन पद्धतियों का विस्तृत वर्णन है –

एवं पृथङ्नवदैवजैव पैत्राक्षसौरैन्दवसावनानि।
ब्राह्मं च कालं नवमं प्रमाणं मानैश्चतुर्भिर्व्यवहारवृत्तेः।

(सिद्धान्तशिरोमणि, गणिताध्याय, कालमानाध्याय)

अर्थात् इस प्रकार (पूर्वकथित वर्णन) से काल के मापन हेतु ९ पद्धतियां प्रचलित हैं, जो इस प्रकार हैं – १. मनुमान से सम्बन्धित (मानव), २. देवताओं के मान से सम्बन्धित (दैव या दिव्य), ३. गुरु की गति से सम्बन्धित (जैव या गौरव), ४. पितरों के दिन इत्यादि के आधार पर (पैत्र), ५. नक्षत्र के दिन इत्यादि के आधार पर (नाक्षत्र या आर्क्ष), ६. सूर्य से सम्बन्धित (सौर), ७. चन्द्रमा से सम्बन्धित (चान्द्र या ऐन्दव), ८. सूर्योदय पर आधारित (सावन), ९. ब्रह्मा के दिन आदि के आधार पर (ब्राह्म)।

इनमें से चार सौर, चान्द्र, नाक्षत्र और सावन ये नित्य मनुष्यों के द्वारा प्रयोग में लाई जाती हैं।

इसके अतिरिक्त अहर्गण-साधन, अक्षांश, देशांतर, स्पष्टपरिधि, अधिमास आदियों की चर्चा मध्यमाधिकार में है। स्पष्टाधिकार में ज्या-कोज्या-क्रान्तिज्या इत्यादि का साधन, स्पष्ट ग्रह हेतु मंदकर्ण, शीघ्रकर्ण, मंदफल, शीघ्रफल इत्यादि का संस्कार, भुजान्तर, उदयान्तर इत्यादि संस्कार,स्पष्ट-ग्रह-गति-साधन का वर्णन है। त्रिप्रश्नाधिकार में पलभा, उदयासव, लग्न-साधन दशमलग्न साधन, अक्षक्षेत्र,

अयनांश इत्यादि का वर्णन है। इसी प्रकार अन्य अध्यायों में खगोलीय विषय बड़ी ही विशदतापूर्वक वर्णित किये हैं भास्कराचार्य ने।

३.५.३ भास्कराचार्य का वैशिष्ट्य –

लेखक का वैशिष्ट्य उसकी रचना में ही निहित होता है अत: भास्कर की रचनाओं से ही उनकी अपनी विशेषता जानी जा सकती है। उनके गोल एवं गणित संबंधी विचार नई उपपत्तियों से युक्त हैं। इसी कारण सिद्धांत शिरोमणि की ख्याति इतनी अधिक है और दुनिया के कई भाषाओं में इसका अनुवाद हुआ है। गोल इन्हें करतलामलकवत था। केवल इस एक मात्र ग्रन्थ के अध्ययन कर लेने से भारतीय ज्योतिष का सर्वस्व ज्ञात हो जाता है। त्रिप्रश्नाधिकार में इन्होंने बहुत सी नवीन रीतियाँ लिखी हैं और उसमें अनेक विषयों में अपनी दक्षता प्रकट की है। उन्होंने शंकु संबंधी इष्टदिक्छायासाधन किया है जो उनके पूर्ववर्तियों ने नहीं किया। उन्होंने पातसाधन की भी नवीन रीति प्रस्तुत की। इसमें उन्होंने प्रतिपादित किया कि सूर्य की गति क्रांतिवृत्त में सदा समान नहीं रहती है। इष्टकालीन मध्यम और स्पष्ट रवि के अंतर अर्थात फल संस्कार के अनुसार स्पष्ट सूर्योदय मध्य से बाद में या पहले होता है। इस संबंधी संस्कार को भुजान्तर संस्कार कहते हैं। उदयान्तर इनका नवीन शोध है। पृथ्वी अपनी धुरी पर विषुवत वृत्त में घूमती है, क्रांतिवृत्त में नहीं। अत: क्षितिज में क्रान्तिवृत्तीय ३० अंश का उदय होने में जितना समय लगता है उतना समय सदा नाडीवृत्त के ३० अंश को उदित होने में नहीं लगता है। इससे सम्बन्धित संस्कार ही उदयान्तर है।

इसके अतिरिक्त 'करणकुतूहल' नामक करण ग्रन्थ की रचना भी भास्कर ने ११०५ शक में की जिसमें 'क्षेपक' शक ११०४ फाल्गुन कृष्ण ३० अमावस्या, गुरुवार के सूर्योदयकालीन लिए गए हैं। क्षेपक कहते हैं किसी अभीष्ट शक के निश्चित तिथि के निश्चित समय में साधित ग्रहों की राश्यादि स्थिति को। क्षेपक और ध्रुवक ये विषय आगे के विवरणों में और स्पष्ट किये जाएंगे।

उन्होंने यत्र-तत्र पुराण के मत का समावेश करने का पूर्ण प्रयास किया है। दुराग्रह के लिए उनके ग्रन्थ में स्थान नहीं है बल्कि पग-पग पर उनकी उदारता ही प्रकट होती है। उनकी काव्य-शैली उच्च कोटि की है और कहीं-कहीं तो ये बड़े-बड़े कवियों को चुनौती सी देती है। ये सही है की उन्होंने वेध पर काम नहीं किया किन्तु युक्तिपूर्ण विशद खगोलीय ग्रन्थ के लिए भारतीय ज्योतिष उनका सदैव ही ऋणी रहेगा।

बोध प्रश्न

प्र.३ निम्नलिखित वाक्यों में सही के आगे(√)का और गलत के आगे(×)का चिह्न लगाएं –

(क) भास्कराचार्य का जन्म बिजनौर में हुआ था। ()

(ख) भास्कर के पिता का नाम महेश्वर था। ()

(ग) गोलाध्याय में १४ अध्याय हैं। ()

(घ) पृथ्वी के आकर्षण-शक्ति का सिद्धान्त भास्कराचार्य ने नहीं दिया था। ()

(ङ) करणकुतूहल में क्षेपक ११०० शक के हैं। ()

अभ्यास प्रश्न

प्र.३ गोलाध्याय के विषयों को संक्षेप में लिखें।

_____

_____

_____

_____

बोध प्रश्न

प्र.४ निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दें –

(क) भास्कर का जन्म-काल_____ शक है।

(ख) भास्कर से सम्बन्धित शिलालेख उनके वंशज _____के द्वारा बनवाए गए।

(ग) लीलावती पर गणेश दैवज्ञ की _____ टीका है।

(घ) गुरु की गति से सम्बन्धित काल मान को _____कहते हैं।

(ङ) भास्कर ने _____संस्कार का मौलिक रूप से प्रतिपादन किया।

अभ्यास प्रश्न

प्र.४ भास्कराचार्य के वैशिष्ट्य को लिखिए।

_____

_____

_____

_____

३.६ मकरन्दाचार्य -

मकरंदाचार्य का नाम भारतीय ज्योतिष के इतिहास में बड़ी ही श्रद्धा के साथ लिया जाता है। इसका कारण यह है कि मकरंद ने शक १४०० (१४७८ ई.) में सूर्य सिद्धांत के अनुसार तिथ्यादि साधन के लिए या यूं कहें की पंचांग बनाने हेतु अपने ही नाम की एक सारिणी का निर्माण काशी में किया था। जैसा की ग्रंथकार स्वयं कहते हैं –

श्रीसूर्यसिद्धान्तमतेन सम्यग्विश्वोपकाराय गुरूपदेशात्।
तिथ्यादिपत्रं वितनोति काश्यामानन्दकन्दो मकरन्दनामा।।

अर्थात् श्रीसूर्य सिद्धान्त के आधार पर, गुरु से ज्ञान प्राप्त करके यह (मैं यानी मकरन्द) विश्व के उपकार के लिए काशी में लोगों की आनन्दित करने वाला, मकरन्द इस नाम से, तिथ्यादि-पत्रक (पंचांग-साधक) प्रसारित कर रहा हूँ (बना रहा हूँ)।

इस सारिणी को ही आधार बनाकर काशी और मिथिला आदि प्रांतों में पूर्व में पंचांग बनाए जाते थे और वर्त्तमान में भी बनाये जा रहे हैं। इस सारिणी पर दिवाकर की 'मकरन्द-विवरण' नामक टीका भी प्राप्त होती है जो कि विश्वनाथ के द्वारा प्रदर्शित उदाहरणों के साथ प्रकाशित हुई है। गोकुलनाथ ने १६८८ शक में इसकी उपपत्ति भी की है। इस सारिणी का अनुवाद अंग्रेज़ी में बेंटली ने किया था जिसका कालान्तर में विस्तार करते हुए पं. रघुवीरदत्त ज्योतिषी ने 'सिद्धखेटिका' नामक एक सारिणी का निर्माण किया जो शक १८०५ (१८८३ ई.) में भारतमित्र यन्त्रालय से प्रकाशित हुई थी। इस सारिणी में तिथि, नक्षत्र, योगों और ग्रहों की दैनिक गतियां दी गयी हैं जिससे इन विषयों की स्पष्ट गणना बहुत ही सुगमतता से की जा सकती है। इसमें पंचांग-निर्माण से सम्बन्धित प्राय: सभी बातें बतायी गयी हैं। इसमें समय-समय पर बीज संस्कार करने हेतु न सिर्फ निर्देश मिलता है बल्कि इससे सम्बन्धित नियम भी बताए गए हैं।

३.७ गणेश दैवज्ञ

गणेश दैवज्ञ ज्योतिष-शास्त्र के पारम्परिक विद्वान् थे। विद्वान् ज्योतिषियों के रूप में उनके कुल की बड़ी ही प्रतिष्ठा थी। अपने पिता केशव जो कि प्रसिद्ध केशवीय जातक पद्धति के रचनाकार थे, से ही उन्होंने ज्योतिष-विद्य का ज्ञान अर्जित किया। वे अपने पिता के समान ही ज्योतिष के सभी स्कन्धों के अच्छे विद्वान् थे। वे ग्रहों के साधन में दृक्पक्षता के बड़े हिमायती थे । इनका मुख्य ग्रंथ 'ग्रहलाघव' है जिसमें ग्रहों की गणना करने के लिए ज्या, कोटज्या आदि का उपयोग नहीं किया गया है। यह बड़े पांडित्य की बात है। सम्पूर्ण भारत में इनका यह ग्रन्थ जितना प्रचलित हुआ और इसके आधार पर जितने पंचांगों का निर्माण हुआ उतना और किसी भी ज्योतिषी के ग्रंथ का नहीं हुआ।

आइए, गणेश दैवज्ञ की कुछ चर्चा की जाए।

३.७.१ गणेश दैवज्ञ का काल -

ग्रहलाघव में क्षेपक १४४२ शक के लिए गए हैं इससे ग्रन्थारम्भ-काल कम से कम १४४२ शक माना जा सकता है इस ग्रन्थ के कम से कम १६-२० वर्ष पहले गणेश का जन्म माना जाए तो इनका जन्म काल १४२५ शक के आस-पास माना जा सकता है क्यूंकि अपनी टीका में केदारदत्त जोशी इन्हें १३ वर्ष की अल्पायु में ही ग्रह-लाघव का रचयिता माना है।

३.७.२ गणेश दैवज्ञ का परिचय –

जैसा कि पूर्व में मैंने कहा कि गणेश का सम्पूर्ण वंश ही प्रसिद्ध ज्योतिषियों का वंश रहा है जिनके ज्योतिषीय गुण स्वत: ही गणेश को मिले। यही कारण है की गणेश बचपन से ही अत्यन्त मेधावी और प्रतिभाशाली रहे, जिसका प्रमाण है उनका ग्रह-लाघव जैसा प्रौढ किन्तु सरल ग्रन्थ। जनश्रुति यह है कि इनके पिता केशव, जो कि स्वयं प्रकाण्ड ज्योतिषी थे, को एक दिन स्वयं स्वप्न में भगवान गणेश ने आशीर्वाद दिया जिसके बाद इन्हें पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई और उसका नाम इन्होंने गणेश रखा। अपने पिता केशव से गणेश ने ज्योतिष की शिक्षा ग्रहण। अपने पिता के ग्रन्थ मुहूर्त्ततत्व की टीका में गणेश पिता का परिचय देते हुए लिखते हैं जिससे यह ज्ञात होता है कि वे कौशिक-गोत्रीय ब्राह्मण थे और गणेश की माता का नाम लक्ष्मी था। महाराष्ट्र में आधुनिक नंदगांव के पास उनका निवास स्थान था।

३.७.३ गणेश दैवज्ञ का कर्तृत्व

ग्रहलाघव के टीकाकार विश्वनाथ ने अपनी टीका में गणेश के भतीजे नृसिंह दैवज्ञ के दो श्लोकों को उद्धृत किया है जिनमें नृसिंह ने अपने चाचा गणेश दैवज्ञ के कर्तृत्व को परिगणित किया है –

कृत्वादौ ग्रहलाघवं लघुबृहत्तिथ्यादिचिन्तामणी,
सत्सिद्धान्तशिरोमणौ च विवृतिं लीलावतीव्याकृतिम्।
श्रीवृन्दावनटीकिकां च विवृतिं मौहूर्त्ततत्वस्य वै,
सत्श्राद्धादिविनिर्णयं सुविवृतिं छन्दोर्णवाख्यस्य वै।।
सुधीरञ्जनं तर्जनीयन्त्रकञ्च सुकृष्णाष्टमीनिर्णयं होलिकाया:।
लघूपायपातस्तथान्या:..... ।।

अर्थात् ग्रहलाघव, लघुतिथिचिन्तामणि, बृहत्तिथिचिन्तामणि, सिद्धान्तशिरोमणि की विवृति टीका, लीलावती की टीका, अपने पिता केशव के ग्रन्थ विवाहवृन्दावन और मुहूर्ततत्त्व की टीका, श्राद्धविनिर्णय, छन्दोर्णवटीका, तर्जनीयन्त्र, कृष्णाष्टमीनिर्णय, होलिकानिर्णय, लघुपायपात (पातसारिणी) इत्यादि ग्रंथों की रचना की।

३.७.३.१ ग्रहलाघव

ग्रहलाघव को गणेश का प्रथम ग्रन्थ माना जाता है चूंकि इसमें एक अभीष्ट शक से ग्रह-साधन किया गया है अत: यह एक करण ग्रन्थ है इसमें क्षेपक शक १४४२ के आरम्भ या यूं कहें कि १४४१ फाल्गुन अमान्त के हैं। इसके अतिरिक्त गणित की सुगमता के लिए गणेश ने प्रत्येक ११ वर्षों में सूर्यादि सभी ग्रह कितनी गति चलते हैं इसकी गणना करके प्रत्येक ग्रह के ११ वर्षात्मक राश्यादि की 'ध्रुवक' संज्ञा की है। गणेश ने इस ग्रन्थ में ग्रह-साधन में तत्कालीन सिद्धान्तों से साधित ग्रह दृक्तुल्यता के कितने निकट हैं और उनमें कितना संस्कार करने से वे दृगुपलब्ध होते हैं इसका भी उल्लेख किया है।

सौरोर्कोऽपि विधूच्चमङ्ककलिकोनाब्जो गुरुस्त्वार्यजो
ऽसृग्राहू च कजं ज्ञकेन्द्रकमथार्य: सेषुभाग: शनि:।
शौक्रं केन्द्रमजार्यमध्यगमितीमे यान्ति दृक्तुल्यताम्,

(ग्रहलाघव, मध्यमाधिकार)

अर्थात् वर्तमान सूर्यसिद्धान्तानुसार सूर्य और चन्द्रोच्च (विधूच्चम्) दृक्तुल्य मिलते हैं। सूर्यसिद्धान्त से साधित चन्द्रमा (अब्ज) में से ९ कला घटाने पर (अङ्ककलिकोन:) वह भी दृक्सिद्ध होता है। आर्यपक्षीय ग्रन्थ करणप्रकाश द्वारा लाए हुए गुरु, मङ्गल (असृग्) और राहु दृक्सिद्ध होता हैं। आर्यपक्षीय मत से ही साधित शनि में ५ अंश जोड़ने पर वह भी दृक्सिद्ध होता है। ब्राह्मपक्षीय (कजं) ग्रन्थ करणकुतूहल से लाया हुआ बुधकेन्द्र (ज्ञकेन्द्रकम्) दृक्तुल्य होता है। आर्य और ब्राह्म-पक्षीय मत से लाए हुए शुक्र-केन्द्रों को आपस में जोड़कर आधा करने से वह दृक्सिद्ध होता है।

इस ग्रंथ में मध्यमाधिकार, रविचन्द्रस्पष्टाधिकार, पंचतारास्पष्टाधिकार, त्रिप्रश्नाधिकार, चन्द्रग्रहणाधिकार, सूर्यग्रहणाधिकार, मासगणाधिकार, ग्रहणद्वयसाधनाधिकार, उदयास्ताधिकार, छायाधिकार, नक्षत्रछायाधिकार, शृंगोन्नत्यधिकार, ग्रहयुत्याधिकार, महापाताधिकार, पञ्चांगचंद्रग्रहणाधिकार, उपसंहाराधिकार इस नाम से १६ अध्याय हैं। ग्रहलाघव की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें ज्या-चाप की गणित के बिना ही ग्रहों के साधन बताए गए हैं। इसके बावजूद इसकी गणित बहुत सारे सिद्धान्त ग्रंथों की अपेक्षा बहुत शुद्ध है।

शक १५०८ में गंगाधर ने, शक १५२४ में मल्लारि ने और लगभग शक १५३४ में विश्वनाथ ने, इसकी टीकाएँ लिखी थी। सुधाकर द्विवेदी ने इस पर उपपत्ति के साथ एक सुन्दर टीका लिखी है, जिसमें मल्लारि और विश्वनाथ की टीकाओं का भी समावेश है। इस ग्रंथ का प्रचार महाराष्ट्र, गुजरात, कर्नाटक, ग्वालियर आदि प्रान्तों में अब भी है।

बोध प्रश्न

प्र.५ निम्नलिखित वाक्यों में सही के आगे (√) का और गलत के आगे (×) का चिह्न लगाएं –

(क) मकरन्द सारिणी का निर्माण दिल्ली में हुआ था। ()

(ख) 'मकरन्द-विवरण' विश्वनाथ की टीका है। ()

(ग) गणेश दैवज्ञ के पिता का नाम केशव था । ()

(घ) बृहत्तिथिचिन्तामणि के रचयिता गणेश हैं। ()

(ङ) गणेश के अनुसार शनि आर्यपक्षीय मत से दृक्-आसन्न होता था। ()

अभ्यास प्रश्न

प्र.५ गोलाध्याय् के विषयों को संक्षेप में लिखें ।

_____

_____

_____

_____

बोध प्रश्न

प्र.६ निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दें –

(क) मकरन्द सारिणी का समय_____ शक है।

(ख) मकरन्द-सारिणी पर रघुनाथ की _____टीका है।

(ग) ग्रहलाघव में क्षेपक_____ शक के हैं।

(घ) ग्रहलाघव में ध्रुवक _____वर्षों का है।

(ङ) मल्लारि की ग्रहलाघव पर टीकाकाल _____ शक का है।

अभ्यास प्रश्न

प्र.६ ग्रहलाघव के वैशिष्ट्य को लिखिए।

३.८ सारांश

ग्रहों की गति, स्थिति, ग्रहण-काल आदि की गणना ज्योतिष के जिस स्कन्ध में की जाए वह 'सिद्धान्त' कहलाता है। इस सिद्धान्त के ही तीन अवान्तर भेद हैं – १. सिद्धान्त, २. तन्त्र, ३. करण। जिस भेद में कल्प से लेकर अभीष्ट समय तक के दिनों की गणना के आधार पर ग्रह का स्पष्ट राश्यादि ज्ञान किया जाए वह 'सिद्धान्त' इस नाम से प्रसिद्ध है। जिस भेद में अभीष्ट युग से लेकर वर्तमान समय तक के दिनों की गणना के आधार पर ग्रह का स्पष्ट राश्यादि ज्ञान किया जाए वह 'तन्त्र' इस नाम से प्रसिद्ध है। जिस भेद में अभीष्ट शक से लेकर वर्त्तमान समय तक के दिनों की गणना के आधार पर ग्रह का स्पष्ट राश्यादि ज्ञान किया जाए वह 'करण' इस नाम से प्रसिद्ध है। १००० शक से लेकर १६०० शक तक का लगभग ६०० वर्षों का कालखण्ड सिद्धान्त का उन्नतिकाल है। इस काल के विद्वानों में भोजराज, शतानंद, महेश्वर, भास्कराचार्य, महादेव, पद्मनाभ, गंगाधर, मकरन्दाचार्य, केशव, गणेश, ज्ञानराज, अनन्त, रघुनाथ, कृपाराम, दिनकर, रामभट्ट, श्रीनाथ, विष्णु, मल्लारि, विश्ववनाथ, रंगनाथ मुनीश्वर, कमलाकर और नित्यानन्द प्रमुख हैं।

भास्कराचार्य का जन्म-काल १०३६ शक (१११४ ई.) है। इनके पिता का नाम महेश्वर था

जिनसे इन्होंने ज्योतिष की शिक्षा प्राप्त की, चूंकि वह स्वयं एक विद्वान् ज्योतिषी थे। इनके बनाये चार ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध हैं : १- सिद्धान्त-शिरोमणि, दो भागों में, जिनके नाम 'गणिताध्याय' और 'गोलाध्याय' हैं, २ - लीलावती, ३- बीजगणित और ४- करण-कुतूहल। सिद्धान्तशिरोमणि पर इन्होंने स्वयं 'वासना भाष्य' नामक टीका भी लिखी है।

मकरंद ने शक १४०० (१४७८ ई.) में सूर्य सिद्धांत के अनुसार पंचांग बनाने हेतु अपने ही नाम की एक सारिणी का निर्माण काशी में किया था। इस सारिणी को ही आधार बनाकर काशी और मिथिला आदि प्रांतों में पूर्व में पंचांग बनाए जाते थे और वर्त्तमान में भी बनाये जा रहे हैं।

गणेश दैवज्ञ का जन्म काल १४२५ शक के आस-पास का है। गणेश ने अपने पिता केशव से ज्योतिष की शिक्षा ग्रहण की। ग्रहलाघव, लघुतिथिचिन्तामणि, बृहत्तिथिचिन्तामणि, सिद्धान्तशिरोमणि की विवृति टीका, लीलावती की टीका, विवाहवृन्दावन और मुहूर्ततत्त्व की टीका, श्राद्धविनिर्णय, छन्दोर्णवटीका, तर्जनीयन्त्र, कृष्णाष्टमी निर्णय, होलिकानिर्णय, लघुपायपात (पातसारिणी) इत्यादि ग्रंथों की रचना गणेश ने की। इनका सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ ग्रहलाघव है। इस ग्रंथ में १६ अध्याय हैं। ग्रहलाघव की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें ज्या-चाप की गणित के बिना ही ग्रहों के साधन बताए गए हैं।

३.९ शब्दावली

कलना - गणना।

द्युसदाम् - ग्रहों के।

चार: - संचरण।

धिष्ण्यम् - नक्षत्र।

वेत्ति - जानता है।

ज्योति:शास्त्रविचारसारचतुरप्रश्नेषु - ज्योतिषशास्त्रीय सारपूर्ण गम्भीर प्रश्नों में।

अकिञ्चित्कर - महत्वहीन या प्रभावहीन।

भित्तौ - दीवार पर।

कंठीरव - शेर।

रसगुणपूर्णमही - १०३६।

वृथा - व्यर्थ।

भवलयस्य – राशिचक्र का।

अर्कलवा: समा: - बराबर बारह भाग।

किमु - क्यों ।

विधूच्चम् - चन्द्रोच्च।

अब्ज: - चन्द्रमा।

अङ्ककलिकोन: - ९ कला घटा हुआ।

असृग् – मङ्गल।

कजम् – ब्राह्मपक्षीय।

ज्ञकेन्द्रकम् - बुधकेन्द्र।

३.१० बोध प्रश्नों के उत्तर

प्र.१ (क) (×) (ख) (×) (ग) (×) (घ) (×) (ङ) (√)

प्र.२ (क) सिद्धान्त स्कन्ध।

(ख) सिद्धान्त स्कन्ध।

(ग) करण।

(घ) करण।

(ङ) सिद्धान्त-तत्त्व-विवेक।

प्र.३ (क) (×) (ख) (√) (ग) (√) (घ) (×) (ङ) (×)

प्र.४ (क) १०३६।

(ख) चांगदेव।

(ग) बुधविलासिनी।

(घ) जैव।

(ङ) उदयान्तर।

प्र.५ (क) (×) (ख) (×) (ग) (√) (घ) (√) (ङ) (√)

प्र.६ (क) १४००।

(ख) सिद्धखेटिका।

(ग) १४४२ ।

(घ) ११ ।

(ङ) १५२४ ।

३.११ सन्दर्भ ग्रन्थ सूची –

१. झारखंडी शिवनाथ (१९९०) भारतीय ज्योतिष (मूल – शंकर बालकृष्ण दीक्षित), उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ (द्वितीय संस्करण) ।

२. प्रसाद गोरख (१९९०), भारतीय ज्योतिष का इतिहास, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ ।

३. जोशी केदारदत्त (१९८१), सिद्धान्त शिरोमणि, मोतीलाल बनारसी प्रकाशन, वाराणसी।

४. जोशी केदारदत्त (१९८१), ग्रहलाघव, मोतीलाल बनारसीदास प्रकाशन, वाराणसी।

३.१२ सहायक ग्रन्थ सूची –

१. शास्त्री नेमीचन्द्र (२०१४), भारतीय ज्योतिष, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली।

२. शास्त्री गिरिजा शंकर (२००१), आचार्य वराहमिहिर, ज्योतिष कर्मकांड एवं अध्यात्म शोध संस्थान, इलाहाबाद।

३. द्विवेदी सुधाकर (१८९२), गणक तरंगिणी।

३.१३ निबन्धात्मक प्रश्न –

१. सिद्धांत ज्योतिष के उन्नति-काल का विस्तार से वर्णन कीजिए।

२. भास्कराचार्य के कर्तृत्व पर प्रकाश डालिए।

३. भारतीय ज्योतिष के इतिहास में गणेश दैवज्ञ की भूमिका को स्पष्ट कीजिए।

इकाई - ४ कमलाकर भट्ट, बापूदेव शास्त्री एवं सुधाकर द्विवेदी

इकाई का निरूपण

४.१ प्रस्तावना
४.२ उद्देश्य
४.३ सिद्धान्त स्कन्ध का उन्नति-काल
४.४ कमलाकरभट्ट
४.४.१ कमलाकरभट्ट का परिचय और काल
४.४.२ कमलाकरभट्ट का कर्तृत्व
४.४.२.१ सिद्धान्ततत्त्वविवेक
४.४.३ कमलाकर का वैशिष्ट्य
४.५. बापूदेव शास्त्री
४.५.१ बापूदेव शास्त्री का परिचय
४.५.२ बापूदेव शास्त्री का कर्तृत्व
४.५.३ बापूदेव शास्त्री का वैशिष्ट्य
४.६ सुधाकर द्विवेदी
४.६.१ पण्डित सुधाकर द्विवेदी का जीवन-परिचय
४.६.२. पण्डित सुधाकर द्विवेदी का कर्तृत्व
४.७ सारांश
४.८ शब्दावली
४.९ बोध प्रश्नों के उत्तर
४.१० सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
४.११ सहायक ग्रन्थ सूची
४.१२ निबन्धात्मक प्रश्न

४.१ प्रस्तावना –

प्रिय अध्येताओं! ज्योतिष-शास्त्र के एम.ए. द्वितीय वर्ष के तृतीय पत्र के द्वितीय खण्ड की चतुर्थ इकाई में आपका स्वागत है। पिछली इकाई में हमने भारतीय ज्योतिष विशेषकर इसके सिद्धांत स्कंध के प्रगति-काल की चर्चा की। इसमें हमने लल्ल, ब्रह्मगुप्त, वटेश्वर और श्रीपति के भारतीय ज्योतिष में अवदान की विस्तार से चर्चा की। पूर्व इकाई के अध्ययन से एक बात तो स्पष्ट है कि सिद्धांत-ज्योतिष में भारतीय विद्वानों की रुचि विशेष रूप से बढ़ी। इस रुचि ने भारतीय सिद्धांत ज्योतिष को अच्छी गति प्रदान की। यही कारण है कि उक्त कालखंड को सिद्धान्त ज्योतिष का प्रगति-काल कहना समीचीन होगा। वर्तमान इकाई में हम इस कालखंड के आगे की बात करेंगे। इस इकाई में भारतीय ज्योतिष के इतिहास के तीन प्रमुख विद्वानों और उनके कृत्यों की चर्चा करेंगे जिन्होंने अपनी अतुल्य मेधा और प्रतिभा से भारतीय ज्योतिष को समृद्ध बनाया। काल-क्रमानुसार ये क्रमश: कमलाकर भट्ट, बापूदेव शास्त्री और सुधाकर द्विवेदी हैं। ये तीनों ही प्रकांड गणितज्ञ और ज्योतिषी थे। कमलाकर चूंकि इनमें अधिक प्राचीन थे अत: इनकी लेखनी और विषयोपस्थापन में प्राच्यपद्धति की झलक मिलती है। किन्तु इन्होंने भी अपनी प्रतिभा का पूर्ण सदुपयोग न करके उसका दुरुपयोग भास्कराचार्य के खण्डन में अधिक किया। इसकी बजाए यदि यह अपना ध्यान वेध पर अधिक केन्द्रित करते तो निश्चयेन कुछ अभूतपूर्व मणि ज्योतिष-रूपी समुद्र से निकाल पाते। बापूदेव शास्त्री और सुधाकर द्विवेदी चूंकि आधुनिक-गणितज्ञ थे अत: इन दोनों ने आंग्ल भाषा के ज्ञान के साथ-साथ पाश्चात्य-सिद्धान्त-ज्योतिष के मतों की भी व्याख्या और भारतीय-ज्योतिष में इनके समन्वयन का कार्य किया। आइए इन महाविभूतियों की विस्तार से चर्चा इस इकाई में करते हैं।

४.२ उद्देश्य –

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आप –

- सिद्धान्त ज्योतिष के उन्नति-काल का निरूपण करने में कुशल हो सकेंगे।
- ज्योतिष में कमलाकर के योगदान को विस्तारपूर्वक निरूपित कर सकने में समर्थ हो सकेंगे।
- बापूदेव शास्त्री और उनके कर्तृत्व का प्रतिपादन कर सकने में कुशल हो सकेंगे।
- सुधाकर द्विवेदी के व्यक्तित्व का वर्णन करने में निपुण हो सकेंगे।
- सुधाकर द्विवेदी के कर्तृत्व और भारतीय ज्योतिष में उनके महत्व को व्याख्यायित करने में निपुण हो सकेंगे।

४.३ सिद्धान्त स्कन्ध का उन्नति-काल –

मित्रों! जैसा कि पूर्व में मैंने कहा कि श्रीपति तक भारतीय सिद्धान्त ज्योतिष अपनी गति पकड़ चुका था यहाँ से तो अब विकास ही इसकी नियति थी और जिसकी परिणति चरमोत्कर्ष थी। वटेश्वर और श्रीपति के समय से ही भारतीय ज्योतिषियों ने सौर सिद्धांत, आर्य सिद्धान्त या ब्राह्म सिद्धान्त के आधार पर अपने-अपने करण-ग्रन्थ बनाना आरम्भ कर दिया था जो क्रम श्रीपति के बाद बहुत तेज़ी से बढ़ा। इनमें प्राय: ९६४ शक में राजा **भोज** द्वारा रचित ब्राह्मसिद्धान्त पर आधारित करण-ग्रन्थ **राजमृगाङ्क**, प्राय: ९८० शक में वल्ल्भवंशीय राजा **दशबल** द्वारा ब्रह्मसिद्धान्त पर आधारित करण-ग्रन्थ **करणकमलमार्तण्ड**, १०१४ शक में ब्राह्मसिद्धान्त पर आधारित **करणप्रकाश**, १०२१ शक में प्राय: सौरसिद्धान्त पर आधारित **शतानन्द** विरचित **भास्वती**, ११०५ शक में ब्राह्मसिद्धान्त पर आधारित **भास्कराचार्य** द्वारा रचित **करणकुतूहल**, १२८९ शक में आर्य और ब्राह्म सिद्धान्त के आधार पर **महादेव** द्वारा विरचित करण-ग्रन्थ **कामधेनु**, शक १४०० में सौर सिद्धान्त पर आधारित **मकरन्द** विरचित **मकरन्द-सारिणी**, शक १४१८ में **केशव** द्वारा निर्मित **ग्रहकौतुक**, शक १४४२ में **गणेश** द्वारा विरचित **ग्रहलाघव**, शक १४४७ में **अनन्त** कृत **अनन्तसुधारस**, शक १५०० के लगभग **दिनकर** द्वारा रचित ब्राह्मसिद्धान्त पर आधारित दो करण-ग्रन्थ क्रमश: **खेटकसिद्धि** और **चन्द्रार्की**, शक १५१२ में **रामभट** का सूर्य सिद्धान्त पर आधारित करण **रामविनोद**, १५४१ शक में **नागेश** की **ग्रहप्रबोध** १५७५ शक में **कृष्ण** कृत ग्रहलाघवाधारित **करणकौस्तुभ**, १६२६ शक में **जटाधर** द्वारा निर्मित **फत्तेशाहप्रकाश**, १६८८ शक में शंकर कृत **वैष्णवकरण**, १६८९ शक में **मणिराम** कृत **ग्रहगणितचिन्तामणि** इत्यादि प्रसिद्ध हैं। ये सभी करण-ग्रन्थ हैं, जिनका मैंने नामोल्लेख किया है। इनके अतिरिक्त सिद्धान्त-ग्रंथों की भी रचना हुई जिनमें १४२५ शक में **ज्ञानराज** द्वारा प्रणीत **सिद्धान्तसुन्दर**, १५६१ शक में **नित्यानंद** द्वारा रचित **सिद्धान्तराज**, प्राय: १५६८ शक में **मुनीश्वर** कृत **सिद्धान्तसार्वभौम**, शक १५८० में **कमलाकर** कृत **सिद्धान्ततत्त्वविवेक** आदि प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त प्रसिद्ध करण-ग्रन्थों और सिद्धान्त-ग्रन्थों के कुछ प्रसिद्ध टीकाकार भी हुए जिनमें **मल्लारि**, **विश्वनाथ** और **नृसिंह** जैसे प्रसिद्ध टीकाकार अग्रगण्य हैं। यहाँ एक बात स्पष्ट करना आवश्यक है कि मैं कमलाकर तक के कालखण्ड की ही चर्चा यहाँ कर रहा हूँ। इस प्रकार देखा जाए तो यह काल-खण्ड निश्चय ही भारतीय ज्योतिष का विशेषकर सिद्धान्त-ज्योतिष का अत्युन्नत काल कहा जाना चाहिए। इस कालखंड के बाद से भारतीय ज्योतिष में प्राय: २०० वर्षों तक का ठहराव सा दिखता है। शायद तत्कालीन शासकों और उस समय भारत पर शासन कर रहे मुगल शासकों की

प्राथमिकता बदल गयी रही होगी। क्यूंकि राज्याश्रय के बिना जीविकोपार्जन कठिन होता है ऐसी स्थित में तारों और नक्षत्रों का सतत वेध जो कि शोध को दिशा और गति दोनों प्रदान करता है वह गृहस्थी चलाने के लिए अपर्याप्त होता है। ऐसे में गणितज्ञों का फलित-ज्योतिष की ओर झुकाव सहज ही है। इसका प्रत्यक्ष तो हम आज-कल समाज में ही कर सकते हैं जहाँ जीविकोपार्जन के एक मात्र उद्देश्य से ज्योतिष की उपाधियाँ और प्रमाण-पत्र लेकर 'वाचमर्थोऽनुधावति' का दावा करने वाले ज्योतिषी प्रत्येक चौराहे पर मिल जाएंगे। ख़ैर..... कारण जो भी हो भारतीय-ज्योतिष की गति इसके बाद से मंथर पडी और इक्के-दुक्के प्रयास ही किये गए जहां राजा स्वयं ज्योतिषी हो जैसे जयपुर नरेश जयसिंह या फिर राज्याश्रित ज्योतिषी हो जैसे व्यंकटेश बापू केतकर या सामन्त चन्द्रशेखर। कालांतर में आंग्लों का प्रभाव भी भारतीय-ज्योतिष पर पड़ा और यद्यपि वेध की परम्परा कुछ आगे बढ़ी किन्तु भारतीय-सिद्धान्त-ज्योतिष, पाश्चात्य-सिद्धांतों से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका। फिर चाहे सुधाकर द्विवेदी हों या बालगंगाधर तिलक या शंकर बालकृष्ण दीक्षित वेदांग-ज्योतिष के सूत्रात्मक श्लोकों की व्याख्या और भारतीय-ज्योतिष की नाक्षत्रीय-परम्परा दोनों ही अपने मूल-स्वरुप से भटके। फिर भी परवर्ती विद्वान् भारतीय ज्योतिषवेत्ताओं और गणितज्ञों के योगदान को कम करके नहीं आंका जा सकता है। फलत: इस इकाई में हम कमलाकर और उनके परवर्ती विद्वानों जिनमें बापूदेव शास्त्री और महामहोपाध्याय सुधाकर द्विवेदी का नाम प्रमुख है की चर्चा इस आगे इस पाठ में करेंगे।

४.४ कमलाकरभट्ट -

उपरिलिखित पाठ्यांश में कमलाकर का नाम सबसे पहले है चूंकि काल-क्रम में ये अन्य तीनों से पूर्व में आते हैं। अत: आइए, सर्वप्रथम चर्चा इन्हीं की करते हैं।

४.४.१ कमलाकर का परिचय और काल –

कमलाकर का वंश प्रसिद्ध विद्वानों और ज्योतिषियों का वंश था। ये तैत्तिरीयशाखाध्यायी भारद्वाज-गोत्रीय महाराष्ट्रियन ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न हुए थे। यह वंश विदर्भ देश में पाथरी (पार्थ पुर) नामक ग्राम में इनके पूर्वज ज्योतिषी राम रहते थे। कमलाकर की जो वंशावली मिलती है उस वंशवृक्ष में मूल में राम ज्योतिषी थे, जिनके पुत्र भट्टाचार्य अच्छे नैयायिक थे उनके पुत्र दिवाकर अपने पितामह के सामान अच्छे प्रतिष्ठित ज्योतिषी थे। ये दिवाकर ही कमलाकर के प्रपितामह थे। दिवाकर के पांच पुत्र १. कृष्ण, २. विष्णु, ३. मल्लारि, ४. केशव और विश्वनाथ थे। ये सभी ज्योतिष-शास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित और ज्योतिष-मर्मज्ञ थे। ग्रह-लाघव पर मल्लारि-कृत और ताजिक नीलकंठी पर विश्वनाथ-कृत टीकाएं तो ज्योतिष-जगत में अत्यन्त ही समादरणीय हैं। कालान्तर में पूर्वोक्त पाथरी ग्राम से ढाई योजन

पश्चिम में गोदावरी नदी के उत्तर-तट पर गोला नामक ग्राम में कमलाकर के पितामह कृष्ण आकर बस गए थे। इन्होंने एक सौर पक्षीय करण-ग्रन्थ बनाया था। कृष्ण के पुत्र और कमलाकर के पिता नृसिंह का जन्म शक १५०८ में हुआ। नृसिंह के ४ पुत्रों में कमलाकर दूसरे थे। इनके बड़े भाई दिवाकर का जन्म शक १५२८ में तथा इनका जन्म शक १५३० में हुआ। शंकर बालकृष्ण दीक्षित ने इनके पूर्वजों का जो वंशवृक्ष बनाया है वह इस प्रकार है –

राम (तैत्तिरीय शाखाध्यायी भारद्वाजगोत्रीय महाराष्ट्रियन ब्राह्मण)

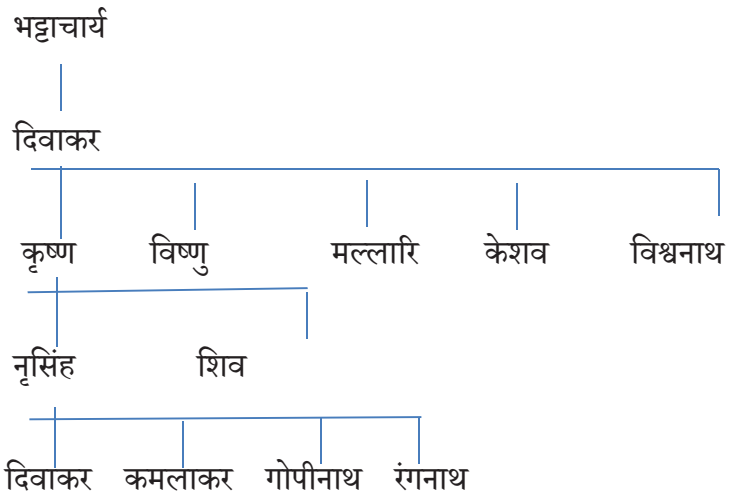

कमलाकर ने अपने ग्रन्थ सिद्धान्ततत्त्वविवेक में अपने वंश का विस्तार से वर्णन किया है। जो इस प्रकार है -

अथात्र सार्धाम्बरदस्र (२०/३०) संख्यपलांशकैरस्ति च दक्षिणस्याम्।
गोदावरीसौम्यविभागसंस्थं दुर्गञ्च यद्देवगिरीतिनाम्ना ।।
प्रसिद्धमस्मान्नृप १६ योजनैः प्राक् याम्यान्तराशास्थितपाथरी च।
विदर्भदेशान्तरगास्ति रम्या राज्ञां पुरी तद्गतदेशमध्ये।।
तस्यास्तु किञ्चिद् परभाग एव सार्धद्वितुल्यैः २-१/२ किल योजनैश्च ।
गोदावरीवर्ति सदैव गङ्गा या गौतमप्रार्थनया प्रसिद्धा।।
अस्याः सतां सौम्यतटोपकण्ठे ग्रामोस्ति गोलाभिधया प्रसिद्धः।

(सिद्धान्ततत्त्वविवेक)

अर्थात् दक्षिण-भारत में २०/३० दक्षिण अक्षांश पर गोदावरी नदी के उत्तर भाग पर दुर्ग नामक नगर है जो कि 'देवगिरि' इस नाम से प्रसिद्ध है। इससे १६ योजना पूर्व में उत्तर-दक्षिण दिशा में 'पाथरी' नामक स्थल है जो की विदर्भ राज्य के अंतर्गत आता है। इस पाथरी से ढाई योजन पश्चिम में गोदावरी का तटवर्ती स्थल है जो गौतम ऋषि की तपस्थली के रूप में प्रसिद्ध है। गोदावरी के इस उत्तरी तट पर सज्जनों का एक 'गोला' नामक प्रसिद्ध ग्राम है।

विप्रो महाराष्ट्र इति प्रसिद्धो रामो भारद्वाजकुलावतंसः ।।
बभूव तज्जोऽखिलमान्यभट्टाचार्योऽतिशास्त्रे निपुणः पवित्रः ।
सदा मुदा सेवितभर्गसूनुर्दिवाकरास्तत्तनयो बभूव ।
अस्यार्यवर्यस्य दिवाकरस्य श्रीकृष्णदैवज्ञ इति प्रसिद्धः।।
तज्जस्तु सद्गोलविदां वरिष्ठो नृसिंहनामा गणकार्यवन्द्यः।
तज्जस्तु तस्यैव कृपालवेन स्वज्येष्ठसद्बन्धुदिवाकराख्यात्।
सांवत्सरार्यात् गुरुतः प्रलब्धशास्त्रावबोधो गणकार्यतुष्ट्यै।।
दृग्गोलजक्षेत्रनवीनयुक्त्या पूर्वोक्तितः श्रीकमलाकराख्यः ।
समस्तसिद्धान्तसुगोलतत्त्वविवेकसंज्ञं किल सौरतत्त्वम्।।

अर्थात् भारद्वाज गोत्र में उत्पन्न **(भारद्वाजकुलावतंसः)** महाराष्ट्रियन ब्राहमण राम उत्पन्न हुए। उनका पुत्र **(तज्जः)** भट्टाचार्य मीमांसाशास्त्र में अत्यन्त निपुण था। उनके पुत्र वरिष्ठ आचार्य दिवाकर के श्रीकृष्ण नामक प्रसिद्ध दैवज्ञ थे। और उनके पुत्र **(तज्जः)** गोलविदों में वरिष्ठ, ज्योतिषियों में पूज्य **(गणकार्यवन्द्यः)** नृसिंह नामक दैवज्ञ हैं। उनके (नृसिंहदैवज्ञ के) पुत्र और उनकी (नृसिंहदैवज्ञ की) कृपा के अंश से अपने बड़े भाई दिवाकर जो कि बड़े ज्योतिषी **(साम्वत्सरार्य)** और गुरु थे उनसे मैं श्री कमलाकर ज्योतिषशास्त्र का ज्ञान प्राप्त करके **(प्रलब्धशास्त्रावबोधो)** बड़े ज्योतिषियों की सन्तुष्टि के लिए वेध और गोल से उत्पन्न नवीन युक्ति के द्वारा सिद्धान्त और गोल के समस्त विषयों को सूर्य-सिद्धान्त के मतानुसार तत्वविवेक नामक ग्रन्थ में प्रस्तुत कर रहा हूँ।

४.४.२. कमलाकर का कर्तृत्व –

कमलाकर ने शक १५८० **(खनागपञ्चेन्दु)** में सिद्धान्ततत्त्वविवेक ग्रन्थ का निर्माण गंगा के तट पर काशी में किया। इस ग्रन्थ में गोल और सिद्धान्त दोनों के विषयों का निरूपण किया है। जैसा कि कहा है –

समस्तसिद्धान्तसुगोलतत्त्वविवेकसंज्ञं किल सौरतत्त्वम्।।
खनागपञ्चेन्दुशकेष्वतीते सिद्धान्तमार्याभिमतं समग्रम्।
भागीरथीसौम्यतटोपकण्ठवाराणसीस्थो रचयाम्बभूव।।

४.४.२.१ सिद्धान्ततत्त्वविवेक –

कमलाकर ने सिद्धान्ततत्त्वविवेक का निर्माण सूर्यसिद्धान्त के आधार पर किया जिसका उन्हें इतना अत्यधिक अभिमान था कि उनके अनुसार जो बातें सूर्यसिद्धान्त में नहीं है वे सब बातें झूठी हैं, यहाँ तक कि सूर्य-सिद्धान्त की गणना से यदि वेध-सिद्ध गणना में अंतर दिखाई पड़े तो भी उसमें बीज-संस्कार करके गणना न करनी चाहिए। यद्यपि इस ग्रन्थ में बहुत से नए विचारों का समावेश किया गया है। कमलाकर ने ग्रहों के भगणादि मान सूर्यसिद्धान्त से लिए हैं। इस ग्रन्थ में कुल १३ अधिकार – १. मध्यमाधिकार, २. स्पष्टाधिकार, ३. त्रिप्रश्नाधिकार, ४. बिम्बाधिकार, ५. छायाधिकार, ६. श्रृंगोन्नत्यधिकार, ७. उदयास्ताधिकार, ८. पर्वसम्भवाधिकार, ९. चंद्रग्रहणाधिकार, १०. सूर्यग्रहणाधिकार, ११. भग्रहयुत्यधिकार, १२. पाताधिकार और १३. महाप्रश्नाधिकार हैं। इन १३ अधिकारों में भिन्न-भिन्न छन्दों में ३०२४ पद्य हैं। यह ग्रन्थ गद्य-पद्यात्मक है। पूर्वोक्त अधिकारों के अतिरिक्त ग्रन्थकार ने ग्रन्थ के अंत में 'शेषवासना' नामक उपपत्तिविषयक प्रकरण भी दिया है।

ग्रन्थ में तुरीय-यन्त्र से सविस्तार वेध करने की प्रक्रिया वर्णित की गयी है। ग्रन्थ में त्रिप्रश्नाधिकार और ग्रहणाधिकार में नवीन विचारों का समावेश किया गया है। ग्रहणाधिकार में कमलाकर कहते हैं कि सूर्यग्रहण के समय चन्द्रपृष्ठ-निवासियों को पृथ्वी-ग्रहण दिखाई देता है। उनके अनुसार शुक्रकृत सूर्यबिम्ब-भेद मेघ, ओला, भूकम्प और उल्कापात का कारण है। ग्रन्थ में अंकगणित, रेखागणित, क्षेत्रविचार और ज्यासाधन-सम्बन्धी बहुत से नवीन प्रकारों का वर्णन किया गया है।

४.४.३ कमलाकर का वैशिष्ट्य –

सम्पात में गति होने के कारण ध्रुव नक्षत्र अस्थिर है और सम्प्रति जो ध्रुव-तारा दिखाई देता है वह ठीक ध्रुव-स्थान में नहीं है। कमलाकर के अनुसार पूर्वरात्रि और उत्तररात्रि के उसके स्थान भिन्न-भिन्न होते हैं। किसी भी याम्योत्तर वृत्त से पूर्वापर अंशात्मक अंतर को सम्प्रति रेखांश कहते हैं। कमलाकर इन्हें तूलांश कहते हैं। कमलाकर ने विषुवत् वृत्त पर स्थित 'खालदात्त' नामक नगर को

मुख्य याम्योत्तर-वृत्त में मानकर २० नगरों के अक्षांश और रेखांश दिए हैं। किन्तु खालदात्त नामक नगर जिसका ज़िक्र कमलाकर करते हैं का कमलाकर-प्रोक्त रीति से जो देशांतर आता है उसके अनुसार इसे वर्त्तमान ग्रीनविच से ३४°/५२" देशांतर पर होना चाहिए लेकिन नक़्शे में उक्त रेखांश के तुल्य इस नाम का कोई स्थान नहीं दिखाई पड़ता है। हां... ३४°/५०" देशांतर पर काबेडेल्लो नामक नगर है जिसको कमलाकर खालदात्त कहते हैं। किन्तु इसमें काशी का ही अक्षांश (जहां कमलाकर ने इस ग्रन्थ की रचना की) प्राय: डेढ़ अंश अशुद्ध आता है। इनके तूलांशों में भी प्राय: २ अंश तक की अशुद्धता है। अन्य सिद्धान्तों में ३४३८ त्रिज्या मानकर ज्या-सारिणी बनाई गयी है, परन्तु कमलाकर के ग्रन्थ में त्रिज्या ६० मान कर प्रत्येक अंश की ज्या दी गयी है जो गणना के लिए बड़ी सुगम है। ग्रह के भोगांश से विषुवांश निकालने की सारिणी भी है अन्य सिद्धान्तों में ३४३८ त्रिज्या मानकर ज्या-सारिणी बनाई गयी है, परन्तु कमलाकर के ग्रन्थ में त्रिज्या ६० मान कर प्रत्येक अंश की ज्या दी गयी है जो गणना के लिए बड़ी सुगम है।

इसके साथ उनका भास्कराचार्य के प्रति कुछ दुराग्रह भी है। उदाहरण के तौर पर भास्कर ने उदयान्तर संस्कार का मौलिक रूप से प्रतिपादन किया जो कि ग्रह-साधन की शुद्ध रीति का एक उपक्रम है किन्तु इसका वर्णन सूर्यसिद्धांत में नहीं होने के कारण कमलाकर ने इसका अनावश्यक विरोध किया। भूपरिध्यादि के भास्करोक्त सूक्ष्म-साधन-प्रकार का भी कमलाकर ने दुराग्रहपूर्ण खंडन करने का प्रयास किया है। इन्होंने मुनीश्वर के भी कुछ मतों का अनावश्यक खण्डन किया है।

बोध प्रश्न

प्र.१ निम्नलिखित वाक्यों में सही के आगे (√) का और गलत के आगे (×) का चिह्न लगाएं –

(त) राजमृगाङ्क ब्राह्मसिद्धान्त पर आधारित करण-ग्रन्थ है। ()

(थ) राजा कमल द्वारा रचित करण-ग्रन्थ करणकमलमार्तण्ड । ()

(द) करणकुतूहल की रचना ११०५ शक में हुई। ()

(ध) मकरन्द-सारिणी सौर सिद्धान्त पर आधारित नहीं है । ()

(न) केशव द्वारा निर्मित करण-ग्रन्थ ग्रहकौतुक है। ()

अभ्यास प्रश्न

प्र.१ कमलाकर भट्ट का वंश-परिचय दीजिए ।

_____

_____

_____

बोध प्रश्न

प्र.२ निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दें –

(त) करणप्रकाश _____ पर आधारित है।

(थ) शतानन्द विरचित _____ करण-ग्रन्थ है।

(द) भास्कराचार्य द्वारा रचित करण-ग्रन्थ_____ है।

(ध) _____ द्वारा विरचित करण-ग्रन्थ कामधेनु है।

(न) ग्रहलाघव _____ की रचना है।

अभ्यास प्रश्न

प्र.२ श्रीपति के बाद के करण-ग्रंथों के नाम और कर्ता बताइए।

_____

_____

_____

_____

४.५ नृसिंह (बापूदेव) शास्त्री –

नृसिंह शास्त्री, जिनका उपनाम बापूदेव था, क्वीन्स कालेज (वर्तमान सम्पूर्ण संस्कृत विश्वविद्यालय), वाराणसी में गणित और ज्योतिष के प्राध्यापक पद पर नियुक्त थे। ये अत्यन्त अत्यन्त मेधावी और प्रतिभा-सम्पन्न थे। ये भारतीय और पाश्चात्य ज्योतिष और गणित के प्रकाण्ड पण्डित थे। भारतीय गणितज्ञों के द्वारा पाश्चात्य गणित के अध्ययन की परम्परा में ये अग्रगण्य रहे। आइए, इनके जीवनी और कर्तृत्व पर दृष्टिपात किया जाए।

४.५.१ बापूदेव शास्त्री का परिचय –

बापूदेव शास्त्री का जन्म महाराष्ट्र प्रांत के अहमदनगर जिले के गोदा नदी के किनारे टोके नामक गांव में शक १७४३ (१ नवम्बर १८२१ ई.) में कार्तिक शुक्ल षष्ठी तिथि को ऋग्वेदी

चित्पावन ब्राह्मण सीताराम जी के घर हुआ। इन्होंने नागपुर में मराठी पाठशाला में ढुण्ढिराज मिश्र जी से बीजगणित, लीलावती और सिद्धान्तशिरोमणि का अध्ययन किया। बापूदेव शास्त्री की गणितीय प्रतिभा देखकर शक १७६० में सीहोर के एजेंट एल. विलकिंसन बापूदेव उन्हें सीहोर लेकर आए और वहां की संस्कृत पाठशाला में श्री सेवाराम जी से रेखागणित इत्यादि की शिक्षा दिलाई। अध्ययन के पश्चात् यह काशी में संस्कृत कालेज में गणित विषय के प्रधान अध्यापक के रूप में नियुक्त हुए। शक १७८६ (१८६४ ई.) में बापूदेव शास्त्री जी ग्रेट ब्रिटेन और आयरलैंड की रायल एशियाटिक सोसायटी के और शक १७९० (१८६८ ई.) में बंगाल एशियाटिक सोसायटी के सम्मानित सदस्य बने। शक १७९१ (१८६९ ई.) में कलकत्ता विश्वविद्यालय और बाद में इलाहाबाद विश्वविद्यालय के भी समितियों में सदस्य रहे। शक १८०९ (१८८७ ई.) में महारानी विक्टोरिया के शतार्धोत्सव के अवसर पर तत्कालीन अंग्रेज़ी शासन ने बापूदेव शास्त्री जी को महामहोपाध्याय की पदवी से सम्मानित किया। जम्मू प्रांत के नरेश ने एक बार शास्त्री जी को शुद्ध चन्द्र-ग्रहण की गणना के लिए एक सहस्र रूपए पुरस्कार-स्वरूप दिए थे।

४.५.२ बापूदेव शास्त्री का कर्तृत्व –

जैसा कि मैंने कहा आप सिद्धांत ज्योतिष के पंडित थे इन्होंने ज्योतिष के इसी स्कन्ध पर अपनी लेखनी भी चलाई। इनमें कुछ तो विशुद्ध गणित के ग्रन्थ हैं तथा कुछ सिद्धान्त के हैं। इन्होंने संस्कृत, हिन्दी और अंग्रेज़ी तीनों ही भाषाओं में ग्रन्थ रचे हैं, जिनमें कुछ प्रकाशित हो पाए तो कुछ अप्रकाशित ही रह गए। इनके द्वारा संस्कृत भाषा में रचित प्रकाशित कृतियां इस प्रकार हैं –

१. रेखागणित प्रथामाध्याय
२. त्रिकोणमिति
३. सायनवाद
४. प्राचीन ज्योतिशाचार्याशय-वर्णन
५. अष्टादश-विचित्र-प्रश्नसंग्रह-सोत्तर
६. तत्त्वविवेकपरीक्षा
७. मानमंदिरस्थ-यन्त्र-वर्णन

संस्कृत भाषा में रचित अप्रकाशित कृतियां इस प्रकार हैं –

८. चलन-कलन – इसमें चलन-कलन-गणितीय-विधि से सम्बंधित २० श्लोक वर्णित हैं।
९. चापीय-त्रिकोणमिति-संबंधी कुछ सूत्र

१०.सिद्धान्तग्रन्थोपयोगी टिप्पणी

११.यन्त्रराजोपयोगी छेद्यक

१२.लघुशंकुच्छिन्नक्षेत्रगुण

हिन्दी भाषा में इनके द्वारा प्रणीत ग्रन्थ इस प्रकार हैं -

१३.अंकगणित

१४.बीजगणित

१५.फलित-विचार

१६.सायनवादानुवाद

१७.सिद्धान्त शिरोमणि के गणिताध्याय और गोलाध्याय का प्रकाशन अपनी शोधपूर्वक टिप्पणी के साथ शक १७८८ (१८६६ ई.) में किया।

१८. लीलावती का संपादन शक १८०५ (१८८३ ई.) में किया।

अङ्ग्रेज़ी भाषा में भी इन्होंने २ ग्रंथों की रचनाएँ की जो मूल ग्रंथों का टिप्पणी सहित अंग्रेज़ी अनुवाद हैं।

१९.विल्किन्सन के साथ मिलकर सिद्धान्त शिरोमणि का अंग्रेज़ी अनुवाद जिसका प्रकाशन शक १७८३ (१८६१ ई.) हुआ।

२०.इनके द्वारा कृत सूर्यसिद्धान्त का अङ्ग्रेज़ी अनुवाद भी इस शक में प्रकाशित हुआ।

४.५.३ बापूदेव शास्त्री का वैशिष्ट्य –

बापूदेव शास्त्री भारतीय ज्योतिष में काला-क्रमानुसार परिवर्तन और संशोधन के बड़े हिमायती थे। वह पंचांगों के निर्माण में भी दृक्-सिद्ध ग्रह के साधन के पक्ष में थे। उनके अनुसार पंचांगों की गणना शुद्ध वेध-सिद्ध मूलांकों से करनी चाहिए। एतदर्थ उन्होंने पुरज़ोर कोशिश भी की। इस क्रम में उन्होंने न केवल ग्रन्थ ही लिखे अपितु अपने मत के समर्थन और प्रदर्शन हेतु दृक्-सिद्ध पंचांगों का नाटिकल अल्मनाक (नाविक पंचांग) के आधार पर निर्माण भी शक १७८८ में आरम्भ किया जो कि अपने जीवन के अंतिम वर्ष (शक १८१२) तक बनाते रहे।

इस-प्रकार बापूदेव शास्त्री आधुनिक-भारतीय-ज्योतिष-परम्परा के महत्त्वपूर्ण घटकभूत हैं जिनका योगदान भारतीय ज्योतिष के इतिहास में अवश्य ही महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इनके महत्त्वपूर्ण योगदान को तत्कालीन आंग्ल-प्रशासन ने भी सादर नमन करते हुए इन्हें महामहोपाध्याय की उपाधि देकर से सम्मानित किया।

प्र.३ निम्नलिखित वाक्यों में सही के आगे ($\surd$) का और गलत के आगे ($\times$) का चिह्न लगाएं –

(च) नृसिंह शास्त्री का उपनाम बापूदेव है। ()

(छ) बापूदेव शास्त्री क्वीन्स कालेज में गणित और ज्योतिष के प्राध्यापक थे। ()

(ज) शक १७०० में बंगाल एशियाटिक सोसायटी के सम्मानित सदस्य बने। ()

(झ) रेखागणित के चतुर्थ अध्याय की रचना बापूदेव शास्त्री ने की। ()

(ञ) दृक्-सिद्ध पंचांगों का निर्माण बापूदेव शास्त्री ने किया। ()

अभ्यास प्रश्न

प्र.३ बापूदेव शास्त्री की रचनाओं के नाम लिखें।

_____

_____

_____

_____

४.६. पण्डित सुधाकर द्विवेदी –

पण्डित सुधाकर द्विवेदी आधुनिक भारतीय इतिहास के प्रमुख मनीषियों में अन्यतम हैं। इन्होंने न केवल भारतीय ज्योतिष और गणित विधा पर अपनी लेखनी चलाई अपितु नवीन पाश्चात्य गणित पर भी साधिकार दखल दिया। सुधाकर जी का कर्तृत्व भी उनके व्यक्तित्व के सामान ही अत्यन्त व्यापक है। प्राच्य-ज्योतिष-ग्रंथों पर टीका के साथ-साथ नवीन-गणितीय-ग्रंथों के अनुवाद तथा मौलिक ग्रंथों के सर्जना का कार्य भी पण्डित जी ने बड़ी ही प्रामाणिकता से किया। इनकी अद्वितीय प्रतिभा का लोहा तत्कालीन अंग्रेज-शासन ने भी माना और इन्हें महामहोपाध्याय की उपाधि से विभूषित किया। तो आइए मित्रों द्विवेदी जी की जीवन-यात्रा को एक सरसरी निगाह से देखने का प्रयास करें।

४.६.१ पण्डित सुधाकर द्विवेदी का जीवन-परिचय -

पण्डित सुधाकर द्विवेदी का जन्म काशी के खजूरी क्षेत्र में वेद, कर्मकाण्ड और ज्योतिष-शास्त्र के विद्वान् पण्डित कृपालुदत्त द्विवेदी के घर शक १७८२ में चैत्र शुक्ल चतुर्थी सोमवार को हुआ था सुधाकर जी के पूर्वज गोरखपुर जिले के मूल-निवासी थे। तो फिर सुधाकर जी का वाराणसी-निवास कैसे बना? वस्तुत: सुधाकर जी के पिता कृपालुदत्त जी के प्रपितामह को उनके नाना जी (मातामह) ने

जो कि वाराणसी जिले में रहते थे ने स्वयं का पुत्र न होने के कारण गोद लिया था। इस प्रकार सुधाकर जी के पूर्वज गोरखपुर से काशी आकर बस गए। आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि सुधाकर जी का नाम भी उनके पिता ने नहीं अपितु उनके चाचा ने रखा वह भी काशी में उन-दिनों प्रचलित पत्रिका सुधाकर के नाम पर। बालक सुधाकर जब एक वर्ष के थे तभी दुर्योग से उनके माता जी का स्वर्गवास हो गया। माता के अभाव में उन्हें नाना और नानी का कुछ अधिक ही दुलार मिला जिसके कारण उनके शैक्षणिक जीवन का आरम्भ भी अन्य बालकों की अपेक्षा कुछ देर से ८ वर्ष की उम्र में हुआ। सुधाकर जी ने पण्डित देवकृष्ण मिश्र से ज्योतिष-शास्त्र की और पण्डित दुर्गादत्त शास्त्री जी से व्याकरण-शास्त्र के शिक्षा ग्रहण की। अल्प-काल में ही उन्होंने इन शास्त्रों पर अधिकार कर लिया। तीक्ष्ण बुद्धि के साथ ही वे कवित्व-प्रतिभा के भी धनी थे। प्राचीन और आधुनिक गणित पर उनका सामान अधिकार था। वे संस्कृत और आंग्ल भाषा दोनों में ही अत्यन्त दक्ष थे। किशोरावस्था में ही बीजगणित में उनकी गति से प्रभावित होकर तत्कालीन क्वींस कालेज (वर्त्तमान सम्पूर्णानन्द संस्कृत वि.वि.) के गणित और ज्योतिष विभाग के प्रमुख श्री बापूदेव शास्त्री ने उन्हें प्राचार्य ग्रिफिथ के द्वारा पुरस्कृत भी कराया। अध्ययन के उपरान्त उनकी नियुक्ति ज्योतिष-अध्यापक के रूप में दरभंगा स्थित संस्कृत विद्यालय में हुई। किन्तु ३ वर्ष के भीतर ही उनके विद्वत्ता और प्रतिभा की ख्याति से प्रभावित होकर क्वींस कालेज, वाराणसी के प्राचार्य डा. थीबो ने उन्हें सरस्वती भवन पुस्तकालय के अध्यक्ष के पद पर नियुक्त किया। इस पद पर इन्होंने ६ वर्षों तक कार्य किया। शक १८११ में प. बापूदेव शास्त्री के सेवानिवृत्त होने पर डा. थीबो ने पंडित सुधाकर द्विवेदी को गणित और ज्योतिष के प्राध्यापक के रूप में नियुक्ति किया। कालांतर में उनकी प्रतिभा और कर्तृत्व से प्रभावित होकर तत्कालीन आंग्ल-प्रशासन ने इन्हें महामहोपाध्याय की उपाधि से भी विभूषित किया।

४.६.२. पण्डित सुधाकर द्विवेदी का कर्तृत्व –

मित्रों! जैसा कि मैंने पूर्व में ही कहा, पण्डित जी का व्यक्तित्व और कर्तृत्व दोनों ही अत्यन्त व्यापक और प्रभावशाली रहा है। गणित और ज्योतिष के प्राचीन और अर्वाचीन दोनों ही परम्पराओं पर आपकी समीक्षापरक सशक्त लेखनी समान रूप से चली है। आइए इनके कर्तृत्व पर एक दृष्टिपात करें।

१. दीर्घवृत्तलक्षण (शक १८००)

२. विचित्र प्रश्न (शक १८०१) – इसमें २० कठिन प्रश्न और इनके उत्तर हैं।

३. वास्तवचन्द्रश्रृंगोंन्नतिसाधन (शक १८०२) – इस ग्रन्थ में ९२ पद्य हैं जिनमें लल्ल, भास्कर, ज्ञानराज, गणेश, कमलाकर और बापूदेव आदि की लिखी रीतियों में दोष के प्रकट करते हुए वास्तवचन्द्रशृङ्गोन्नति के साधन की विधि वर्णित है।

४. द्युचारचार (शक १८०४) – इस ग्रन्थ में गृह-कक्षा का विवेचन पाश्चात्य ज्योतिष क अनुसार किया गया है।

५. प्रतिभाबोधकम् (शक १८०४) – यह ग्रन्थ रेखागणित और ज्यामिती के विविध सिद्धांतों के आधार पर खगोलीय-क्षेत्रों का निरूपण करता है जिनका उपयोग खगोल-गणित में विशेषकर यंत्रों के द्वारा ग्रह-वेध में होता है। यद्यपि सुधाकर जी इस ग्रन्थ का प्रणयन १७९५ शक में ही किया था किन्तु इसका प्रकाशन शक १८०४ में ही हुआ।

६. पिण्डप्रभाकर (शक १८०७) – इस ग्रन्थ में वास्तु-संबंधी आधारभूत तत्त्वों की विवेचना की गयी है।

७. भाभ्रभ्रेखानिरूपण – इसमें शंकु, सूची आदि विविध निर्देशांक ज्यामितीय-क्षेत्रों के आधार पर छाया के भ्रमण-मार्ग का निरूपण प्रस्तुत किया गया है।

८. धराभ्रमविचार – इसमें पृथ्वी की दैनिक गति से संबधित विषयों का विवेचन किया गया है।

९. ग्रहकरण – इसमें ग्रहण का विवेचन निरूपित है।

१०. गोलीयरेखागणित – इसमें रेखागणितीय और ज्यामितीय-गणित के सिद्धांतों के आधार पर विविध-खगोलीय-क्षेत्रों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

११. यूक्लिड नामक पाश्चात्य गणितज्ञ के रेखागणित-संबंधी ग्रन्थ के छठे, ग्यारहवें और बारहवें अध्याय का संस्कृत के पद्यों में भाषान्तर भी पण्डित द्विवेदी ने किया।

१२. गणकतरङ्गिणी (शक १८१२) – यह भारतीय ज्योतिषियों के व्यक्तित्व और कर्तृत्व पर संक्षिप्त रूप से प्रकाश डालने वाला भारतीय-ज्योतिष का इतिहासपरक ग्रन्थ है।

इसके अतिरिक्त सुधाकर जी ने अनेक प्राचीन शास्त्रीय ग्रंथों की टीकाएँ भी कीं जो इस प्रकार हैं -

१३. लीलावती की टीका (शक १८००) – भास्कराचार्य के लीलावती ग्रन्थ की उपपत्ति के साथ संस्कृत-टीका का प्रणयन किया जिसमें अनेक गणितीय विशेषताओं का प्रदर्शन अपनी प्रतिभा के आधार पर सुधाकर जी ने प्रस्तुत किया।

१४.करणकुतूहल की टीका (शक १८०३) – भास्कराचार्य के करणकुतूहल ग्रन्थ की भी 'वासनाविभूषण' नामक टीका सुधाकर द्विवेदी जी ने की।

१५.यन्त्रराज की टीका (शक १८०४) – यन्त्रराज के साथ-साथ उस पर मलयेंदुसूरि-कृत टीका पर भी भाष्य स्वयं के द्वारा कृत कुछ संशोधनों के साथ द्विवेदी जी लिखा।

१६.इसके अतिरिक्त कृष्ण-कृत छादक-निर्णय का भी संशोधन करके आपने शक १८०६ में उसे प्रकाशित किया।

१७.कमलाकर भट्ट के सिद्धान्त-तत्त्व-विवेक का संशोधन करके इसका प्रकाशन सुधाकर द्विवेदी जी ने शक १८०७ में किया।

१८.शिष्यधीवृद्धिद की टीका (शक १८०८) – जैसा कि आपको ज्ञात है 'शिष्धीवृद्धिद' लल्ल का तन्त्र-ग्रन्थ है। इसका सम्पादन भी सुधाकर द्विवेदी ने किया।

१९.बीजगणित की टीका (शक १८१०) – भास्कराचार्य के बीजगणित की भी सुधाकर जी ने उपपत्ति के साथ टीका लिखी।

२०.बृहत्संहिता का सम्पादन (शक १८१०) – उत्पल टीका सहित बृहत्संहिता का सम्पादन इन्होंने शक १८१० में करके प्रकाशित किया।

२१.ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त की टीका शक १८२४ में किया।

२२.सूर्यसिद्धान्त की सुधावर्षिणी टीका शक १८२८ में पूर्ण हुई जिसके प्रथम संस्करण का प्रकाशन शक १८२९ में बिब्लियोथिका इण्डिका में दो भागों में हुआ। पुन: द्वितीय संस्करण का प्रकाशन शक १८४७ में बंगाल के एशियाटिक सोसायटी द्वारा किया गया।

२३.सुधाकर जी ने सोमाकर भाष्य के साथ याजुष-ज्योतिष और आर्च-ज्योतिष (ऋक् ज्योतिष) का अपने सुधाकर भाष्य के साथ प्रकाशन शक १८३० में किया।

२४.पंचसिद्धान्तिका की टीका (शक १८८९) – पंचसिद्धान्तिका का सम्पादन करने के साथ ही साथ उस पर प्रकाश नामक स्वयं की टीका भी सुधाकर जी ने की जो क्वींस कालेज, वाराणसी के तत्कालीन प्राचार्य डा. थीबो के आंग्ल-अनुवाद के साथ प्रकाशित हुई।

२५.सिद्धान्तशिरोमणि की टीका।

२६.करणप्रकाश की टीका।

२७.ग्रह-लाघव की सोपपत्तिक टीका।

२८.त्रिशतिका की टीका।

इसके अतिरिक्त २९. चलनकलनम्, ३०. चलराशिकलनम्, ३१. अङ्कगणित का इतिहास, ३२. समीकरणमीमांसा इन ग्रन्थों की भी रचना की।

ज्योतिष के अतिरिक्त उन्होंने व्याकरण-संबंधी दो ग्रन्थों का भी प्रणयन किया। इनमें एक संस्कृत भाषा से सम्बद्ध 'भाषा-बोधक' नामक ग्रन्थ है तथा दूसरा हिन्दी भाषा के व्याकरण से सम्बन्धित ग्रन्थ है। आधुनिक-भारतीय-ज्योतिषियों की परम्परा के अति महत्त्वपूर्ण कड़ी के रूप में महामहोपाध्याय सुधाकर द्विवेदी जी का नाम सदैव अग्रणी रहेगा।

बोध प्रश्न

प्र.४ निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दें –

(च) सुधाकर द्विवेदी के पिता का नाम _____है।

(छ) सुधाकर जी ने _____ से ज्योतिष-शास्त्र की शिक्षा ग्रहण की है।

(ज) _____ ने सुधाकर जी को सरस्वती भवन पुस्तकालय के अध्यक्ष-पद पर नियुक्त किया।

(झ) पिण्डप्रभाकर की रचना _____ में है।

(ञ) सुधाकर द्विवेदी की सूर्य-सिद्धान्त पर _____ टीका है।

अभ्यास प्रश्न

प्र.४ सिद्धांत के उन्नति-काल के विद्वानों के नाम लिखिए।

_____

_____

_____

_____

४.७ सारांश

वटेश्वर और श्रीपति के समय से ही भारतीय ज्योतिषियों ने सौर सिद्धांत, आर्य सिद्धान्त या ब्राह्म सिद्धान्त के आधार पर अपने-अपने करण और सिद्धान्त ग्रन्थ बनाना आरम्भ कर दिया था। यह सिलसिला श्रीपति के बाद से लेकर कमलाकर तक बहुत तेज़ी से बढ़ा। इनमें मुख्य राजा भोज द्वारा रचित करण-ग्रन्थ राजमृगाङ्क, शतानन्द विरचित भास्वती, भास्कराचार्य द्वारा रचित करणकुतूहल, मकरन्द विरचित मकरन्द-सारिणी, गणेश द्वारा विरचित ग्रहलाघव, अनन्त कृत अनन्तसुधारस, मणिराम कृत ग्रहगणितचिन्तामणि इत्यादि प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त सिद्धान्त-ग्रंथों में ज्ञानराज द्वारा प्रणीत सिद्धान्तसुन्दर, मुनीश्वर कृत सिद्धान्तसार्वभौम, कमलाकर कृत सिद्धान्ततत्त्वविवेक आदि प्रमुख

हैं। इसके अतिरिक्त इस कालखण्ड में मल्लारि, विश्वनाथ और नृसिंह जैसे प्रसिद्ध टीकाकार भी हुए हैं। इस प्रकार यह काल-खण्ड निश्चय ही भारतीय ज्योतिष का विशेषकर सिद्धान्त-ज्योतिष का अत्युन्नत काल कहा जाना चाहिए।

कमलाकर तैत्तिरीयशाखाध्यायी भारद्वाज-गोत्रीय महाराष्ट्रियन ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न हुए थे। कमलाकर के पिता का नाम नृसिंह और पितामह का नाम कृष्ण था। कमलाकर ने शक १५८० (खनागपञ्चेन्दु) में सिद्धान्ततत्त्वविवेक ग्रन्थ का निर्माण सूर्यसिद्धान्त के आधार पर किया। इस ग्रन्थ में कमलाकर ने ग्रहों के भगणादि मान सूर्यसिद्धान्त से लिए हैं। इस ग्रन्थ में कुल १३ अधिकार हैं। इन १३ अधिकारों में भिन्न-भिन्न छन्दों में ३०२४ पद्य हैं। ग्रन्थ में तुरीय-यन्त्र से सविस्तार वेध करने की प्रक्रिया वर्णित की गयी है। ग्रन्थ में त्रिप्रश्नाधिकार और ग्रहणाधिकार में नवीन विचारों का समावेश किया गया है।

बापूदेव शास्त्री का जन्म महाराष्ट्र प्रांत के अहमदनगर जिले के गोदा नदी के किनारे टोके नामक गांव में शक १७४३ (१ नवम्बर १८२१ ई.) में हुआ। इन्होंने ढुण्ढिराज मिश्र जी से बीजगणित, लीलावती और सिद्धान्तशिरोमणि का अध्ययन किया। अध्ययन के पश्चात् यह काशी में संस्कृत कालेज में गणित विषय के प्रधान अध्यापक के रूप में नियुक्त हुए। शक १८०९ (१८८७ ई.) में तत्कालीन अंग्रेज़ी शासन ने बापूदेव शास्त्री जी को महामहोपाध्याय की पदवी से सम्मानित किया। इन्होंने ज्योतिष के सिद्धान्त स्कन्ध पर अपनी लेखनी भी चलाई। इन्होंने संस्कृत, हिन्दी और अंग्रेज़ी तीनों ही भाषाओं में २१ ग्रन्थ रचे हैं, जिनमें कुछ प्रकाशित हो पाए तो कुछ अप्रकाशित ही रह गए। बापूदेव शास्त्री भारतीय ज्योतिष में काल-क्रमानुसार परिवर्तन और संशोधन के बड़े हिमायती थे। वह पंचांगों के निर्माण में भी दृक्-सिद्ध ग्रह के साधन के पक्ष में थे। उन्होंने दृक्-सिद्ध पंचांगों का नाटिकल अल्मनाक (नाविक पंचांग) के आधार पर निर्माण भी किया।

पण्डित सुधाकर द्विवेदी का जन्म काशी के खजूरी में शक १७८२ में चैत्र शुक्ल चतुर्थी को हुआ था। सुधाकर जी ने पण्डित देवकृष्ण मिश्र से ज्योतिष-शास्त्र की और पण्डित दुर्गादत्त शास्त्री जी से व्याकरण-शास्त्र के शिक्षा ग्रहण की। अध्ययन के उपरान्त उनकी नियुक्ति ज्योतिष-अध्यापक के रूप में दरभंगा स्थित संस्कृत विद्यालय में हुई। ३ वर्ष बाद क्वींस कालेज, वाराणसी में सरस्वती भवन पुस्तकालय के अध्यक्ष के पद पर तथा ६ वर्ष बाद शक १८११ में गणित और ज्योतिष के प्राध्यापक के रूप में नियुक्त हुए। कालांतर में उनकी प्रतिभा और कर्तृत्व से प्रभावित होकर तत्कालीन आंग्ल-प्रशासन ने इन्हें महामहोपाध्याय की उपाधि से भी विभूषित किया। गणित और ज्योतिष

के प्राचीन और अर्वाचीन दोनों ही परम्पराओं पर आपकी समीक्षापरक सशक्त लेखनी समान रूप से चली है। इन्होंने ३४ ग्रंथों की रचना की है।

४.८ शब्दावली

१. सार्धाम्बरदस्र – अर्धेन सहित: अम्बरदस्र: = आधे अंश (३० कला) के साथ अम्बरदस्र (२०/३०)।

२. अम्बरदस्र – अम्बर (०) दस्र (२)।

३. पलांशकै: - अक्षांशों के द्वारा।

४. गोदावरीसौम्यविभागसंस्थं - गोदावरी नदी के उत्तर भाग पर।

५. नृप - १६।

६. याम्यान्तराशा - दक्षिण दिशा।

७. सार्धद्वितुल्यै: - ढाई २-१/२ (अंशों) के द्वारा।

८. भारद्वाजकुलावतंस: - भारद्वाज गोत्र में उत्पन्न।

९. तज्ज: - उनका पुत्र।

१०. सद्गोलविदां वरिष्ठ: - सज्जन गोलशास्त्रियों में वरिष्ठ।

११. गणकार्यवन्द्य: - ज्योतिषियों में पूज्य।

१२. सांवत्सरार्यात् - बड़े ज्योतिषी से।

१३. प्रलब्धशास्त्रावबोध: - शास्त्र का ज्ञान प्राप्त करके।

१४. खनागपञ्चेन्दु - १५८०।

१५. सिद्धान्तमार्याभिमतं – आर्यभट्ट के सिद्धान्त के अनुसार।

१६. भागीरथीसौम्यतटोपकण्ठवाराणसीस्थ: - गंगा के उत्तर तट पर वाराणसी पर स्थित।

१७. रचयाम्बभूव – रचना हुई।

४.९ बोध प्रश्नों के उत्तर –

प्र.१ (क) (√) (ख) (×) (ग) (√) (घ) (×) (ङ) (√)

प्र.२ (क) ब्राह्मसिद्धान्त।

(ख) भास्वती।

(ग) करणकुतूहल।

(घ) महादेव।

(ङ) गणेश दैवज्ञ।

प्र.३ (क) (√) (ख) (√) (ग) (×) (घ) (×) (ङ) (√)

प्र.४ (क) पण्डित कृपालुदत्त द्विवेदी।

(ख) पण्डित देवकृष्ण मिश्र।

(ग) डा. थीबो।

(घ) शक १८०७।

(ङ) सुधावार्षिणी।

४.९ सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१. झारखंडी शिवनाथ (१९९०) भारतीय ज्योतिष (मूल – शंकर बालकृष्ण दीक्षित), उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ (द्वितीय संस्करण)।

२. प्रसाद गोरख (१९९०), भारतीय ज्योतिष का इतिहास, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ।

३. शर्मा पण्डित रामस्वरूप (१९६२), वटेश्वरसिद्धान्त, इन्डियन इन्स्टीट्यूट आफ अस्ट्रोनोमिकल एंड संस्कृत रिसर्च, नई दिल्ली।

४.१० सहायक ग्रन्थ सूची –

१. शास्त्री नेमीचन्द्र (२०१४), भारतीय ज्योतिष, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली।

२. द्विवेदी सुधाकर (१८९२), गणक तरंगिणी।

४.११ निबन्धात्मक प्रश्न –

१. श्रीपति के बाद का काल सिद्धान्त-ज्योतिष का उन्नति-काल क्यूं है?

२. सिद्धान्त-तत्व-विवेक पर प्रकाश डालिए।

३. भारतीय ज्योतिष के इतिहास में बापूदेव शास्त्री की भूमिका को स्पष्ट कीजिए।

४. पण्डित सुधाकर द्विवेदी के कर्तृत्व का निरूपण कीजिए।

इकाई - ५ नीलाम्बर झा, सामन्तचन्द्रशेखर, मुरलीधर ठाकुर, गंगाधर मिश्र

इकाई का निरूपण

५.१ प्रस्तावना
५.२ उद्देश्य
५.३ आधुनिक काल
५.४ नीलाम्बर झा
५.४.१ नीलाम्बर झा का परिचय और काल
५.४.२ नीलाम्बर झा का कर्तृत्व
५.४.२.१ गोलीय रेखागणित
५.४.३ नीलाम्बर झा का वैशिष्ट्य
५.५. सामन्त चन्द्रशेखर
५.५.१ सामन्त चन्द्रशेखर का परिचय
५.५.२ सामन्त चन्द्रशेखर का कर्तृत्व
५.५.३ सामन्त चन्द्रशेखर का वैशिष्ट्य
५.६ गंगाधर मिश्र
५.६.१ गंगाधर मिश्र का जीवन-परिचय
५.६.२. गंगाधर मिश्र का कर्तृत्व
५.७ सारांश
५.८ शब्दावली
५.९ बोध प्रश्नों के उत्तर
५.१० सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
५.११ सहायक ग्रन्थ सूची
५.१२ निबन्धात्मक प्रश्न

५.१ प्रस्तावना –

प्रिय अध्येताओं! ज्योतिष-शास्त्र के एम.ए. द्वितीय वर्ष के तृतीय पत्र के द्वितीय खण्ड की पञ्चम इकाई में आपका स्वागत है। पिछली इकाई में हमने भारतीय ज्योतिष विशेषकर इसके सिद्धांत स्कंध के उन्नति-काल की चर्चा की। इसमें हमने कमलाकर भट्ट, बापूदेव (नृसिंह) शास्त्री और सुधाकर द्विवेदी के भारतीय ज्योतिष में अवदान की विस्तार से चर्चा की। पूर्व इकाई के अध्ययन से यह बात निकल कर आई कि पाश्चात्यों (अंग्रज़ों) के काल में अंग्रेज़ी भाषा के साथ-साथ पाश्चात्य-सिद्धांत-ज्योतिष और पाश्चात्य-गणित का स्वभावत: अधिक प्रचार भारत में हुआ। और इस प्रचार को निश्चय ही तत्कालीन अंग्रेज़-शासन ने भी बहुत सहायता की।

प्रस्तुत इकाई में हम इस बदले हुए तत्कालीन भारतीय-परिवेश में भारतीय-ज्योतिष-वांमय को नई दिशा देने वाले ज्योतिषियों की चर्चा करेंगे जिनमें नीलाम्बर झा, सामंत चंद्रशेखर एवं गंगाधर मिश्र प्रमुख हैं। तो आइए, इस इकाई की शुरुआत करते हैं।

५.२ उद्देश्य –

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आप –

- भारतीय ज्योतिष के आधुनिक-काल का निरूपण करने में कुशल हो सकेंगे।
- ज्योतिष में नीलाम्बर झा के योगदान को विस्तारपूर्वक निरूपित कर सकने में समर्थ हो सकेंगे।
- सामन्त चंद्रशेखर और उनके कर्तृत्व का प्रतिपादन कर सकने में कुशल हो सकेंगे।
- गंगाधर मिश्र के कर्तृत्व और भारतीय ज्योतिष में उनके महत्व को व्याख्यायित करने में निपुण हो सकेंगे।

५.३ आधुनिक काल

शालिवाहन शक के सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से भारतीय ज्योतिष का आधुनिक काल माना जा सकता है। इस काल में नीलाम्बर झा, सामन्तचन्द्रशेखर, बापूदेव शास्त्री, सुधाकर द्विवेदी, वेंकटेश बापू केतकर बाल गंगाधर तिलक, दीनानाथ शास्त्री चुलेट, शंकर बालकृष्ण दीक्षित जैसे

अनेकों विद्वान् हुए। इनमें से अधिकतर विद्वान् अंग्रेज़ी भाषा और पाश्चात्य गणित इन दोनों से भली-भांति परिचित थे। ऐसे विद्वानों को अंग्रेज़ी भाषा और पाश्चात्य गणित के अध्ययन हेतु शासन ने पुरस्कार, उपाधि और आजीविका देकर अत्यधिक प्रोत्साहित भी किया। पिछली इकाई में हमने पढ़ा कि बापूदेव शास्त्री और सुधाकर द्विवेदी को महामहोपाध्याय की उपाधि भी मिली।

इस राजनैतिक-शैक्षिक परिवर्तन ने कुछ अच्छा और कुछ बुरा दोनों ही प्रकार का प्रभाव भारतीय-ज्योतिष-साहित्य पर डाला। विदेशी भाषा और साहित्य ने भारतीय विचारकों और विद्वानों को भी प्रभावित किया। फलत: भारतीय ज्योतिष में बड़ी-बड़ी पद्य-रचनाएं बनना कम हो गईं। सिद्धान्त-ज्योतिष में वेध-प्रक्रिया को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा। ग्रह-नक्षत्रादि के वेध में भारतीय विद्वानों की रुचि विशेष रूप से बढ़ी। पाश्चात्य-खगोलीय-सिद्धान्तों और आधुनिक गणित के समावेश ने इस रुचि को और बढ़ाया। भारतीय-ज्योतिष का खगोलीय पक्ष और अधिक प्रायोगिक हो गया । नक्षत्रों की स्थिति, विविध-अयनांश-वाद, सायन-निरयणवाद, विविध खगोलीय यन्त्रों की संरचना विधि के साथ-साथ ग्रह-स्पष्टीकरणार्थ च्युति—किरणवक्रीभवन प्रभृति नए संस्कार, नए-नए गणितीय नियम, अयन-संपात, ध्रुव-चलन और नक्षत्रों की स्थिति के आधार पर वेदों, वैदिक साहित्य आदि के काल-निर्धारण इत्यादि इस काल में भारतीय-ज्योतिषीय-विद्वानों के अध्ययन के विषय बन गए। धारणाओं और विचारों के आधार पर इस काल में विद्वानों के दो स्पष्ट वर्ग बन गए थे। एक वर्ग ज्योतिष के ज्ञान और प्राचीनता में भारतीय-प्रधानता को स्वीकार करता था, जिनमें बाल गंगाधर तिलक, शंकर बालकृष्ण दीक्षित, दीनानाथ शास्त्री चुलेट मुख्य थे। तो दूसरा वर्ग ज्योतिष के ज्ञान और प्राचीनता में पाश्चात्य विद्वानों के मतों का पक्षधर था, जिनमें भारतीय ज्योतिष के ज्ञान और प्राचीनता को कम करके आंका गया या यूं कहें की पूर्व वर्ग की अपेक्षा अर्वाचीन माना गया। ये मत कोलब्रुक, विन्टरनित्ज, बेंटली, बर्जेस जैसे पाश्चात्य विद्वानों के द्वारा स्थापित और बापूदेव शास्त्री, सुधाकर द्विवेदी जैसे विद्वानों द्वारा समर्थित हुआ।

इस प्रकार देखा जाए तो यह काल-खण्ड निश्चय ही भारतीय ज्योतिष का आधुनिक-काल कहा जाना चाहिए। इस कालखंड में भारतीय-ज्योतिष, विशेषकर सिद्धान्त-ज्योतिष में एक ठहराव सा दिखता है। जो भी नए संस्कार ग्रह-स्पष्टीकरण में प्रयोग में आए या फिर नई विधा गणित में आई वह पश्चिम (केपलर आदि) से पूर्णतया प्रभावित थी। दूसरे शब्दों में कहें तो शुद्ध (या मौलिक) भारतीय-चिंतन का शनै:-शनै: अभाव होने लगा। जो प्राचीन-भारतीय-परम्परा के संवाहक थे वो या तो प्रकाश

में नहीं आए या तत्कालीन शासन से समर्थित या प्रोत्साहित नहीं हुए। एक दूसरी बात जो निकल के आई इस काल में वह थी फलित-ज्योतिष के प्रति कम-श्रद्धा का भाव ('आधुनिकास्तु फलमात्रैकवेदिन:' - सुधाकर द्विवेदी), जो शायद समय का प्रभाव था। जहां तक प्रश्न समय के बदलाव का है उसके कई कारक थे - १. अंग्रेजों का राज, २. पाश्चात्य-सभ्यता के प्रभाव से आध्यात्मिकता और सनातन-पूजा-पद्धति के प्रति शनै:-शनै: उदासीनता का भाव, ३. छोटे-छोटे रजवाड़ों का घटता राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक प्रभाव, ४. छोटी रियासतों के घटते प्रभाव के कारण ज्योतिषियों के राज्याश्रित होने में कमी, ५. राज्याश्रयाभाव में धनार्जन हेतु पाखण्ड की अतिशयिता ५. अध्ययन और निज-परम्परा के संरक्षण की अपेक्षा स्वतन्त्रता हेतु संघर्ष में युवा-वैचारिक-शक्ति की प्रवृत्ति इत्यादि। इन सब कारणों ने प्राय: सभी भारतीय-शास्त्रों में शोध की प्रवृत्ति को धीरे-धीरे करके समाप्त करना प्रारम्भ कर दिया। फ़िर फलित ज्योतिष की तो बात ही क्या ! इस शास्त्र में शोध के लिए अध्ययन, अभ्यास और साधना की त्रिपुटी परमावश्यक है जो समयापेक्ष्य और अर्थापेक्ष्य है जिसका इस काल में अभाव रहा। विपरीत परिस्थितियों को भांपकर योग्य ज्योतिषियों ने इसे अनधिकारियों को देना उचित नहीं समझा। यही कारण है की फलित-ज्योतिष में कुछ संकलनात्मक ग्रंथों को छोड़कर मौलिक कार्य नहीं के बराबर हुआ।

जब फलित पर कार्य नहीं हुआ तो संहिता पर शोधपरक-कार्य तो दूर की ही कौड़ी थी। केवल काल के सन्दर्भ में ही नहीं अपितु विचारों और पाश्चात्य-गणितीय-खगोलीय-सिद्धांतों के परिप्रेक्ष्य में भी यह काल 'आधुनिक काल' कहा जा सकता है। इस आधुनिक काल में चार प्रकार के कार्य मुख्य-रूप से हुए – १. पाश्चात्य खगोलीय सिद्धांतों का भारतीयकरण, २. पाश्चात्य-गणित का भाषांतरण ३. मूल ग्रंथों का भाष्यकरण ४. वैदिकसाहित्य के काल-निर्धारण-से सम्बन्धित मौलिक-निबन्धात्मक ग्रंथों का प्रणयन।

इन कार्यों को आधार बनाकर, इस इकाई में भारतीय ज्योतिष के आधुनिक-काल के तीन प्रमुख विद्वानों और उनके कृत्यों की चर्चा करेंगे जिन्होंने अपनी अतुल्य मेधा और प्रतिभा से भारतीय ज्योतिष को समृद्ध बनाया। काल-क्रमानुसार ये क्रमश: नीलाम्बर झा, सामन्तचन्द्रशेखर और गंगाधर मिश्र हैं। ये तीनों ही प्रकांड गणितज्ञ और ज्योतिषी थे। आइए इन महान विभूतियों की विस्तार से चर्चा इस इकाई में करें।

५.४ नीलाम्बर झा -

प्रिय अध्येता, सर्वप्रथम चर्चा नीलाम्बर झा की करते हैं। यद्यपि भारतीय-ज्योतिष में समय-समय पर विद्वानों ने गणितीय-प्रक्रिया में परिष्कार करते हुए इसको विकसित किया। आर्यभट्ट से लेकर कमलाकर और सुधाकर तक गणितज्ञ ज्योतिषियों ने भारतीय-ज्योतिष की परम्परा को बहुत ही सुदृढ़ता प्रदान की। इस प्रकार परम्परागत ज्योतिष-गणित के विषयों का आधुनिक-गणित से समन्वयन करके व्याख्यायित करने वाले विद्वानों की जो नई परम्परा बापूदेव शास्त्री और सुधाकर द्विवेदी जी ने डाली उस परम्परा के महत्वपूर्ण कड़ियों में पण्डित नीलाम्बर झा का नाम सदैव स्मरणीय रहेगा।

५.४.१ नीलाम्बर झा का परिचय और काल –

नीलाम्बर झा का कुल प्रसिद्ध ज्योतिषियों का वंश था। इनका जन्म गङ्गा और गण्डकी के सङ्गम से २ कोस पर पाटलिपुत्र (पटना) नगर में शक १७४५ (१८२३ ई.) में हुआ। ये मैथिल ब्राहमण थे। स्वयं नीलाम्बर कहते हैं –

नीलाम्बरो मैथिलभूसुरोऽहं.....।

(गोलीयरेखागणित, श्लोक २)

अर्थात् मैं नीलाम्बर मैथिल ब्राह्मण (भूसुर) हूं।

इनके पिता का नाम श्री शम्भुनाथ झा था। इनके पिता का उनके जीवन पर बहुत प्रभाव था। इनके अग्रज भाई पण्डित जीवनाथ झा थे, जिन्होंने फलित ज्योतिष के ग्रन्थ 'भावकुतूहल' की रचना की। नीलाम्बर झा ने सर्वप्रथम अपने भाई जीवनाथ जी से ज्योतिष की प्रारम्भिक शिक्षा ग्रहण की। कालान्तर में वह काशी आए और यहाँ पर काशी-संस्कृत-पाठशाला में अध्ययन करते हुए उन्होंने अनेक विद्वानों के सान्निध्य में ज्योतिष का अध्ययन किया। काशी में ये महामहोपाध्याय पं. सुधाकर द्विवेदी से बहुत प्रभावित हुए और उनकी ही प्रेरणा से आधुनिक गणित का अध्ययन किया। आधुनिक गणित के अध्ययन के बाद इन्होंने सिद्धान्तज्योतिष के खगोलीय विषयों को इस नई गणितीय पद्धति से निरूपित करने का निर्णय लिया। अपनी विशिष्ट मेधा और प्रतिभा के द्वारा नीलाम्बर जी ने आधुनिक-खगोल-विज्ञान का भारतीय-सिद्धांत-ज्योतिषीय सूत्रों से समन्वयन स्थापित किया। इस प्रकार वह पारंपरिक ज्योतिषीय परिवार में उत्पन्न ऐसे पारम्परिक पण्डित थे जिन्होंने पाश्चात्य गणित की सहायता से भारतीय खगोलीय सिद्धांत के विषयों को स्पष्ट किया। ऐसा प्रतीत होता है कि नीलाम्बर

झा श्रीकृष्ण के परम भक्त थे। क्योंकि इनके ग्रंथों गोलीय-रेखागणित और चापीय-त्रिकोणमिति में भगवान् श्रीकृष्ण की ही आराधना की गई है। ये अलवर के राजा शिव के प्रधान ज्योतिषी थे। काशी में शक १८०५ (१८८३ ई.) में इनका देहावसान हुआ।

५.४.२. नीलाम्बर झा का कर्तृत्व –

इनका एक ग्रन्थ गोलप्रकाश है। इसके पांच भाग या अध्याय हैं। ये हैं – १. ज्योत्पत्ति, २. त्रिकोणमिति, ३. गोलीय रेखागणित, ४. चापीय त्रिकोणमिति और ५. प्रश्न-सिद्धान्त। इनमें गोलीय रेखागणित और चापीय त्रिकोणमिति तो पारम्परिक-अध्ययन-शाखा में शास्त्री (बी.ए. समकक्ष) तृतीय वर्ष के पाठ्यक्रम में सिद्धान्त-ज्योतिष विषय में पढ़ाई भी जाती हैं। इसके अतिरिक्त शंकर बालकृष्ण दीक्षित जी के अनुसार इन्होंने भास्करीय ग्रंथों के कुछ भागों की भी रचना की है। तो आइए, इनके ग्रन्थ गोलीय रेखागणित की कुछ चर्चा करते हैं।

५.४.२.१ गोलीय रेखागणित -

अंग्रेज़ी का ज्ञान न होने के कारण या आंग्ल माध्यम से अध्ययन न करने वाले उच्च-गणित या खगोलीय-गणित का अध्ययन करने वाले छात्रों के लिए पाश्चात्य-गणित के नियमों से संवलित इस ग्रन्थ की रचना नीलाम्बर जी ने की है -

.....सिद्धान्तसम्भ्रान्तनिरस्तशङ्कम्।

गोलस्वरूपावगमप्रकारं गोलीयरेखागणितं प्रवक्ष्ये।।

(गोलीयरेखागणित, श्लोक २)

अर्थात् सिद्धान्त-ज्योतिष की क्लिष्टता के कारण निरन्तर भ्रम में पड़े (सम्भ्रान्त) लोगों की शंका को निरस्त कर देने वाले, गोल (खगोल) के स्वरूप का बोध कराने वाले प्रकार को (गोलस्वरूपावगमप्रकारं) 'गोलीयरेखागणित' को कहता हूं।

इसमें पांच अध्याय हैं जो क्रमश: इस प्रकार हैं – १. ज्योत्पत्ति, २. त्रिकोणमितिसिद्धान्त, ३. चापीयरेखागणितसिद्धान्त, ४. चापीयत्रिकोणमितिसिद्धान्त, ५. प्रश्न-विषय। इस ग्रन्थ में १८ क्षेत्र हैं। इन क्षेत्रों में विविध अनुमानों की भी विशद चर्चा है। ग्रन्थ के आरम्भ में ११ परिभाषाएं दी गयी हैं। शक

१७९३ में काशी में महामहोपाध्याय बापूदेव शास्त्री ने इसे प्रकाशित कराया। तत्पश्चात् श्री चन्द्रशेखर झा ने उपपत्ति एवं व्याख्या के साथ इस ग्रन्थ को प्रकाशित किया। इसके अनन्तर गोलीयरेखागणित की 'विकाशिका' टीका के साथ श्री अनूप मिश्रा ने प्रकाशित कराया। १९५४ ई. में काशी राजकीय संस्कृत महाविद्यालय (वर्तमान सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय) से पं. मीठालाल ओझा जी ने 'रूषा' व्याख्या सहित नवीन क्षेत्रों के साथ प्रकाशित किया था।

नीलाम्बराचार्यविनिर्मितेऽस्मिन् गोलीयरेखागणितेऽत्र काश्याम्।

आचार्यपादानभिवन्द्य सम्यग्व्याख्यां रुषाख्यामहमातनोमि।।

आचार्य नीलाम्बर द्वारा काशी में विरचित गोलीय रेखागणित की रूषा नामक व्याख्या को आचार्य जनों का अभिवादन कर मैं विस्तारित कर रहा हूं।

५.४.३ गोलीय रेखागणित का वैशिष्ट्य –

नीलाम्बर ने तत्कालीन भारतीय-खगोलीय-ज्योतिषीय-समाज में गोलीय रेखागणित जैसे क्लिष्ट पाश्चात्य-गणितीय-सूत्रों से युक्त ग्रन्थ की रचना की जो अपने आप में नीलाम्बर की अद्भुत गणितीय प्रतिभा का परिचायक है। इसमें गोलीय रेखागणित के विविध क्षेत्रों की परिभाषा, रचना और उपपत्ति का प्रदर्शन बड़े ही सरल शब्दों में उन्होंने किया है। इस ग्रन्थ के अध्ययन से न केवल गोलीय रेखागणित के सूत्रों और सिद्धांतों का ज्ञान होता है अपितु भारतीय-खगोलीय-ज्योतिष के विषय भी रचना की दृष्टि से स्पष्ट होते हैं। गोलीय रेखागणित में निरूपित सभी क्षेत्र खगोलीय वृत्तों से निर्मित होते हैं। उदाहरण के रूप में ध्रुव से लगाकर ग्रह से होकर जाने वाला एक गोलीय वृत्त है जिसे 'ग्रहगत-ध्रुवप्रोतवृत्त' कहते हैं। एक दूसरा वृत्त है क्रांतिवृत्त जिसमें सूर्य (या नवीन मतानुसार पृथ्वी) भ्रमण करती है। इसका ही दूसरा नाम राशिवृत्त भी है। एक तीसरा वृत्त है उत्तरी या दक्षिणी ध्रुव से ९० अंश की दूरी पर बनाता है। इसे नाडीवृत्त, कालवृत्त या विषुववृत्त भी कहते हैं। चूंकि इन तीनों वृत्तों में से क्रान्तिवृत्त और नाडीवृत्त इनका परस्पर खगोल पर दो बिन्दुओं पर सम्पात या कटान होने के कारण इन बिन्दुओं पर जो कोण बनता है उसे गोल-संधि-कोण (या क्रान्ति कोण) कहते हैं। इसके अतिरिक्त ग्रहगत-ध्रुवप्रोतवृत्त, क्रान्तिवृत्त और नाडीवृत्त इन दोनों से होकर गुज़रता है अत: इस वृत्त के द्वारा क्रमश: क्रान्ति और नाडी इन दोनों के साथ सम्पात होने के कारण दो और कोण उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार चूंकि इन तीनों वृत्तों से तीन कोण उत्पन्न होते हैं अत: इन तीनों वृत्तों के द्वारा एक गोलीय

त्रिभुजगत क्षेत्र निर्मित होता है। इस प्रकार तीन वृत्त-चापों से निर्मित गोलीय-त्रिभुज, रैखिक त्रिभुज से गणितीय-गुणों में भी भिन्न होता है। जैसे रैखिक त्रिभुज में कोणों का योग १८० अंश के तुल्य होता है किन्तु गोलीय-त्रिभुज में अकेले एक चाप-भुजा का मान ही १८० अंश के लगभग हो सकता है। ऐसे अनेकों खगोलीय क्षेत्रों की चर्चा इस ग्रन्थ में की गयी है। चूंकि इन क्षेत्रों का निरूपण खगोलीय वृत्तों के कोणों, चापों और ज्यादिकों के द्वारा होता है अत: इस ग्रन्थ के अध्ययन से गोल (खगोल) के साथ-साथ रेखागणित, त्रिकोणमिति, चापीय-त्रिकोणमिति और गोलीय रेखागणित के भी सूक्ष्म विषयों का ज्ञान हो जाता है।

जैसा कि पूर्व में मैंने कहा कि इसके अतिरिक्त गोलप्रकाशान्तर्गत चापीय त्रिकोणमिति ग्रन्थ भी वर्तमान में उपलब्ध है।

बोध प्रश्न

प्र.१ निम्नलिखित वाक्यों में सही के आगे (√) का और गलत के आगे (×) का चिह्न लगाएं –

(न) नीलाम्बर झा के भाई का नाम जीवनाथ था। ()
(प) नीलाम्बर झा का जन्म १८२६ ई. में हुआ। ()
(फ) नीलाम्बर के पिता का नाम श्री शम्भुनाथ झा था। ()
(ब) नीलाम्बर काशी के राजा के प्रधान ज्योतिषी थे ()
(भ) गोलप्रकाश की 'विकाशिका' टीका का प्रकाशन अनूप मिश्रा ने कराया। ()

अभ्यास प्रश्न

प्र.१ नीलाम्बर झा जी के ग्रन्थ गोलीय रेखागणित का परिचय दीजिए।

_____

_____

_____

_____

५.५ सामन्त चन्द्रशेखर –

५.५.१ सामन्त चन्द्रशेखर का परिचय –

श्री सामन्त चन्द्रशेखर का जन्म ओडिशा प्रदेश के कटक से ५०-६० मील दूर, पुरी जिला के खण्डपारा गाँव में श्यामबन्धु सिंह के घर पर शक १७५७ (११.१.१९३६ ई.) में पौष कृष्ण सप्तमी, मंगलवार को हुआ। इनका परिवार बघेलवंशीय-राजपरिवार से सम्बंधित था। ये भरद्वाज-गोत्रीय थे। इनके वृद्ध-प्रपितामह (अर्थात् पितामह के पितामह) श्री वैरागी सिंह को पुरी के राजा ने मर्द्दराज तथा भ्रमरवर की उपाधि दी थी। वैरागी सिंह के पुत्र तथा चन्द्रशेखर के प्रपितामह का नाम नीलाद्रि सिंह था। उनके पुत्र तथा चन्द्रशेखर के पितामह का नाम नृसिंह तथा नृसिंह के पुत्र श्यामबन्धु सिंह थे। यद्यपि उनका जन्म सामन्त-परिवार में हुआ था लेकिन अपने अति-स्वाभिमानी प्रकृति के कारण उन्होंने जीवन भर संघर्ष किया और साधारण जीवन-यापन किया। २२ वर्ष की अवस्था में उनका विवाह अंगुल-राजकन्या सीता जी से हुआ। उनके ५ पुत्र और ६ कन्याएं थीं। ज्योतिषीय-गणना के आधार पर उनके द्वारा पूर्व में साधित समयानुसार ही उनका देहावसान १९०४ ई. में हुआ।

श्री चन्द्रशेखर ने आधुनिक विश्वविद्यालयीय शिक्षा-पद्धति से नहीं पढ़े थे। उन्होंने पण्डित मधुसूदन महापात्र से संस्कृत शिक्षा ग्रहण की तथा राज-ज्योतिषी पण्डित आनन्द मिश्र खड्गराय (जिन्हें राज दरबार से 'खड़ंगा' यह उपाधि प्राप्त थी) से गणित ज्योतिष की शिक्षा ग्रहण की। ज्योतिष के प्रति इनकी विशेष रुचि थी। अपनी प्रखर मेधा के बल पर युवावस्था से ही उन्होंने ज्योतिष की पुस्तकों का संकलन, अध्ययन तथा वेध करना आरम्भ कर दिया था। स्वयं के द्वारा सतत वेध करके उन्होंने ग्रहों के साधन-पद्धति में कुछ नए संस्कार जोड़े जिसका उन्होंने अपने ग्रन्थ सिद्धान्त-दर्पण में निरूपण किया। उनका संपूर्ण ग्रन्थ उनके सतत वेध का ही प्रतिफल है। यही कारण है की उन्हें इस ग्रन्थ की रचना में ३४ वर्ष लग गए। इस ग्रन्थ के आधार पर कालान्तर में कटक के अंग्रेज कमिश्नर की अनुशंसा से उन्हें 'महामहोपाध्याय' की उपाधि प्रदान की गई।

५.५.२ सामन्त चन्द्रशेखरसिंह का कर्तृत्व –

सामंत चन्द्रशेखर की कृति के रूप में सिद्धान्त दर्पण का नाम उल्लेखनीय है। चंद्रशेखर ने १८५८

ईस्वी में इस ग्रन्थ का लेखन आरम्भ किया। ३४ वर्ष के परिश्रम के बाद यह शक १८१४ (१८९२ ई.) मार्गशीर्ष कृष्ण नवमी को शनिवार के दिन पूर्ण हुआ। इस ग्रन्थ का प्रकाशन लेखन के ५ वर्ष बाद १८९७ ई. में कलकत्ता के ६४, कॉलेज स्ट्रीट के इण्डिअन डिपॉजिटरी से हुआ था। कटक के सरकारी महाविद्यालय (रेवेनशा कॉलेज) में गणित के प्राध्यापक श्री योगेश (जोगेश) चन्द्र राय ने इसकी विस्तृत अंग्रेजी भूमिका लिख कर इसका सम्पादन किया। ओडिशा के आठमल्लिक के तत्कालीन राजा श्री महेन्द्र देव ने इसकी प्रशंसा तथा सहायता की थी जिसके लिये ग्रन्थकर्त्ता श्री चन्द्रशेखर सिंह सामन्त ने उन्हें यह पुस्तक समर्पित की थी। लेखक को इस कार्य के लिये कटक के अंग्रेज कमिश्नर की अनुशंसा से महामहोपाध्याय की उपाधि मिली। इसमें वैदिक युग से आरम्भ कर कमलाकर भट्ट पर्यन्त सभी ज्योतिष ग्रन्थों के सारांश रूप में २५०० संस्कृत श्लोक हैं। कालांतर में उत्कल विश्वविद्यालय ने इस ग्रन्थ की भाष्य हेतु पण्डित वीर हनुमान शास्त्री को ६००० रूपए प्रतिमास पर नियुक्त किया। किन्तु, उत्कल विश्वविद्यालय से पूर्व ही इसका प्रकाशन कटक के 'धर्मग्रन्थ-स्टोर' से हो गया। बाद में उत्कल विश्वविद्यालय से तथा श्री कान्हूचरण मिश्र की 'उत्कल-साहित्य-संस्था' द्वारा इसकी प्रतियां प्रकाशित हुई। कालान्तर में १९६६ ई. में इण्डियन इंस्टीट्यूट ऑफ ऐस्ट्रोनोमिकल ऐण्ड संस्कृत रिसर्च, नई दिल्ली ने पण्डित रामस्वरूप शर्मा द्वारा सम्पादित तथा वासना, विज्ञान, हिन्दी भाष्यों से समन्वित इस ग्रन्थ का ४ खण्डों में प्रकाशन किया।

इस ग्रन्थ में कुल २४ प्रकाश (अध्याय) हैं जो कि ५ अधिकारों में बंटा है। इसमें प्रथम 'मध्यमाधिकार' में ४ प्रकाश हैं, जो इस प्रकार हैं – १. कालवर्णन २. भगणादिवर्णन, ३. मध्यमग्रह तथा ४. ग्रहों के संस्कार तथा पदक। द्वितीय स्फुटाधिकार में २ प्रकाश क्रमश: ५. स्फुट ग्रह और ६. सूक्ष्म पंचांग हैं। तृतीय त्रिप्रश्नाधिकार में ९ प्रकाश क्रमश: ७. शंकुछाया-वर्णन ८. चन्द्रग्रहण-वर्णन, ९. सूर्यग्रहण-वर्णन, १०. परिलेख-वर्णन, ११. ग्रहयुति-वर्णन, १२. ग्रह-नक्षत्र-योग, १३. ग्रह-नक्षत्र-उदयास्त, १४. चन्द्रश्रृंगोन्नति-वर्णन और १५. महापात-वर्णन हैं। चतुर्थ गोलाधिकार में १६. प्रश्न-वर्णन, १७. भूगोलस्थिति-वर्णन, १८. भूगोल-वर्णन, १९. भगोल तथा खगोल वर्णन, २०. यन्त्र-वर्णन और २१. बाकी रहस्य हैं। पंचम कालाधिकार में ३ वर्णन क्रमश: २२. संवत्सर, २३. पुरुषोत्तम-स्तव और २४. उपसंहार हैं।

पूर्वार्द्धे कालमहर्गणभगणखग-ज्यादिविस्पष्टतेषु,
त्रिप्रश्नप्रग्रहोपग्रहास्तमिदुदयास्तेन्दु शृङ्गातिपातान्।
अन्त्ये भागेऽनुयोगोत्तरविविधमतव्यक्तिसृष्ट्यन्तगोल,

क्ष्मा-कक्षायन्त्रवर्षाऽच्युतनुतिकुतुकान्यत्र पश्यन्त सन्तः॥

(सिद्धान्त दर्पण, १/२०)

अर्थात् इस ग्रन्थ के पूर्वार्द्ध में कालपरिमाण, अहर्गण, भगण, ग्रह आनयन, ज्या, कोटिज्या आदि, स्पष्ट ग्रह, शर, त्रिप्रश्न, ग्रहण, ग्रहयुति, नक्षत्र युति, उदय और अस्त, चन्द्रशृङ्गोन्नति, और व्यतीपात हैं। उत्तरार्द्ध में प्रश्न, उत्तर, विविध मत चर्चा, सृष्टि और उसका लय, गोल, पृथ्वी, कक्षा, यन्त्र, देश-विदेश (वर्ष), जगन्नाथ-स्तुति, और कौतुक-पञ्जिका की आलोचना है।

५.५.३ सिद्धान्त-दर्पण का वैशिष्ट्य –

यह ग्रन्थ उनके आजीवन परिश्रम, वेध और प्रतिभा का परिणाम-स्वरूप है। इस ग्रन्थ का उद्देश्य न केवल खगोलीय-सिद्धांतों का श्लोक-बद्ध निरूपण है अपितु सतत-वेध-प्रक्रिया के द्वारा तत्कालीन स्पष्ट-ग्रह आदि के साधना द्वारा उक्त सिद्धांतों की पुष्टि करना भी है। इस उद्देश्य-पूर्ण-प्रतिज्ञा को संपूर्ण ग्रन्थ में प्रत्येक अध्याय के अंत में ग्रंथकार १. बालबोध २. गणिताक्षिसिद्धि ऐसा कहते हुए दुहराता भी है।

इस ग्रन्थ का महत्व या यूं कहें कि इसका वैशिष्ट्य यह है कि यह न केवल दृकसिद्ध ग्रह के साधन के लिए गणितीय पद्धति को निरूपित करता है अपितु सही गणना हेतु खगोलीय-भौतिकी के सिद्धान्तों पर भी विचार करता है। इन सिद्धांतों के आधार पर आवश्यक गणितीय संस्कारों का निरूपण भी चंद्रशेखर ने इस ग्रन्थ में किया है। इसके अतिरिक्त समय-समय पर विविध-गतियों यथा अक्ष-विचलन इत्यादि के कारण वर्त्तमान गणित से साधित और दृक्सिद्ध ग्रहों में भविष्य में पड़ने वाले अन्तर की भी गणना चंद्रशेखर ने की जिसे 'बीज' नाम से जाना जाता है। इन बीजों का संस्कार गणितानीत ग्रह में करने पर वह प्रत्यक्षसिद्ध होता है। यद्यपि भास्कर आदि ने भी बीज-संस्कारों का वर्णन किया है किन्तु इसके सहेतुक-साधन के साथ-साथ इन संस्कारों से संस्कृत वेधोपलब्ध ग्रह-साधन सामन्त चन्द्रशेखर ने ही किया है।

इस ग्रन्थ में चन्द्रशेखर ने चन्द्रमा के स्पष्ट साधन हेतु 'तुंगान्तर संस्कार', 'पाक्षिक संस्कार', 'दिगंश संस्कार' का मौलिक निरूपण किया। सूर्य सिद्धांत के अयन-चलन के सिद्धान्त में थोड़ा सुधार करते हुए उन्होंने १ कल्प में अयन-भगण की संख्या भी ६ लाख की जगह ६,४०,१७० स्वीकार की। इन्होंने मंगल और शनि के परोच्च की भी कल्पना की जो कि मन्दोच्च के चारों ओर नियत गति से भ्रमण करता है। जगह-जगह पर सामन्त ने प्राच्य-ग्रंथों और वैदिक साहित्य को अपना आधार बनाया

है और उनकी प्रतिष्ठा में पूर्णतया सन्नद्ध रहे। इनके महत्त्वपूर्ण योगदान को तत्कालीन आंग्ल-प्रशासन ने भी सादर नमन करते हुए इन्हें महामहोपाध्याय की उपाधि देकर से सम्मानित किया।

प्र.२ निम्नलिखित वाक्यों में सही के आगे (√) का और गलत के आगे (×) का चिह्न लगाएं –

(ट) सामन्त चन्द्रशेखर का जन्म ओडिशा के खण्डपारा में हुआ। ()
(ठ) चन्द्रशेखर के प्रपितामह का नाम नीलाद्रि सिंह था। ()
(ड) सिद्धान्त दर्पण ग्रन्थ के पूर्वार्द्ध में जगन्नाथ-स्तुति वर्णित है। ()
(ढ) चन्द्रशृङ्गोन्नति चर्चा सिद्धान्त दर्पण के उत्तरार्द्ध में । ()
(ण) चन्द्रशेखर ने चन्द्रमा के स्पष्ट साधन हेतु तुंगान्तर संस्कार का निरूपण किया ।()

अभ्यास प्रश्न

प्र.२ सामंत चंद्रशेखर की रचना का निरूपण करें ।

_____

_____

_____

_____

४.६. गंगाधर मिश्र –

इनके विषय में परिचय स्वयं इन्हीं के द्वारा प्राप्त होता है। आपने सिद्धान्ततत्वविवेक की टीका में प्रत्येक अध्याय के अंत में अपने गांव और पिता से सम्बंधित गद्यात्मक पुष्पिका दे रखी है। इसके साथ ही मध्यमाधिकार, स्पष्टाधिकार और ग्रन्थ के पूर्वार्ध की समाप्ति पर भी अपना श्लोकबद्ध परिचय विस्तृत

रूप में दिया है। इस परिचय के अनुसार, गंगाधर मिश्र मैथिल ब्राहमण थे। ये उच्च कोटि के गणितज्ञ और ज्योतिषी थे। इन्होंने सिद्धान्ततत्वविवेक की प्रसिद्ध टीका की। यद्यपि इनकी अन्य भी रचनाएं थीं किन्तु सिद्धान्ततत्वविवेक की टीका ने इसकी विद्वत्ता को सर्वत्र प्रतिष्ठित किया। तो आये मित्रों, पंडित गंगाधर मिश्र के व्यक्तित्व और कर्तृत्व पर कुछ चर्चा की जाए।

४.६.१ पण्डित गंगाधर मिश्र का जीवन-परिचय –

जैसा कि पूर्व में मैंने कहा कि गंगाधर मिश्र जी के बारे में ज्ञान प्राथमिक स्रोत से ही होता है। क्यूंकि उन्होंने स्वयं ही सिद्धान्ततत्वविवेक की स्वरचित टीका में बहुत्र अपना परिचय दिया है। उदाहरण के तौर पर त्रिप्रश्नाधिकार के अंत में वह लिखते हैं –

इति मिथिलादेशाङ्गभागलपुरमण्डलान्तर्गतचयनपुरग्रामनिवासिना विद्वद्वृन्दवन्द्यपदारविन्द-पण्डितप्रवरहंसराजशर्मणस्तनयेन मिश्रोपनामकेन श्रीगङ्गाधरशर्मणा कृते सिद्धान्ततत्वविवेकभाष्ये त्रिप्रश्नाधिकार: पूर्णत्वङ्गत:।

इसके अनुसार, गंगाधर मिश्र बिहार प्रान्त (मिथिलादेश) के अंतर्गत भागलपुर जिले के चयनपुर गाँव के रहने वाले थे। उनके पिता पंडित हंसराज मिश्र तत्कालीन विद्वानों में अत्यंत सम्मानित थे। त्रिप्रश्नाधिकार के अंत में अपना सविस्तार श्लोकबद्ध परिचय भी गंगाधर जी ने दिया है। इसमें ६ श्लोक हैं जिनमें उन्होंने अपनी शिक्षा, आजीविका और कर्तृत्व का बड़े ही सुन्दर पद्यों में वर्णन किया है।

संसारेऽस्मिन् विशाले सुविदितमिथिलादेशमध्ये प्रसिद्धम्,
गण्यैर्मान्यै: सुविज्ञै: 'चयनपुर'-मतिख्यातिमद्भिश्च युक्तम्।
तत्राम्बावंशवित्ताश्रयभृतिरमलज्ञानवान् विज्ञमान्यो,
दत्तान्त: शेखरादि: प्रचुरगुणयुत: संबभूव द्विजेन्द्र: ॥

अर्थात् इस संसार में विशाल और सर्वविदित मिथिला नामक नगरी में गणमान्य विद्वानों से सुशोभित चयनपुर नामक एक गाँव है। इस गांव में अम्बावंशीय राजाओं के द्वारा पोषित विद्वानों में मान्य 'शेखरदत्त' नामक विप्रवर रहते थे। ये (शेखरदत्त जी) गंगाधर के पितामह थे।

तत्पुत्रा: सच्चरित्रास्त्रय इह सुधयो धैर्यगाम्भीर्ययुक्ता:,
ज्येष्ठस्तत्रानवद्य-स्मृति-गणित-लसत्काव्यतर्कादिविज्ञ: ।

स्वग्रामेऽध्यापयन् योऽनवरतममलादेशत: शिष्यसंघान्,
यावज्जीवं प्रसन्नो विमलपरयशा हंसराजोऽतिधन्य: ।।

अर्थात् इन शेखरदत्त के तीन बड़े ही चरित्रवान पुत्र थे। वे सभी विद्वान् और धैर्यशाली व गंभीर थे। उनमें हंसराज नामक सबसे बड़े पुत्र स्मृतियों, गणितशास्त्र, काव्यशास्त्र और तर्कविद्या के बड़े पंडित थे। ये अपने गांव में सतत शिष्यों को पढ़ाते रहते थे और यावज्जीवन संतोष-धन से परिपूर्ण, परम-प्रसन्न और बेदाग़ कीर्ति वाले रहे।

तत्सूनु: शैशवेऽहं हतनियतिरतो मातृशिक्षाप्रभावात्,
भ्रामं भ्रामं बहुत्राध्ययनविधिरतश्चान्ततो दैवयोगात्।
हाबीभौआड़ संज्ञ: स्वपुरनिवसताम् विज्ञशिष्यान्वितानां,
श्रीगेनालाल नाम्नां चरणकमलयोरन्तिकं प्राप्य तेभ्य: ।।

अर्थात् मैं गंगाधर उनका पुत्र, बचपन में ही अत्यन्त दुर्भाग्यवशात पिता के देहावसान के कारण माता से ही आरंभिक शिक्षा प्राप्त किया। मैंने कई घूम-घूम कर आरंभिक शिक्षा ग्रहण की। आखिरकार सौभाग्यवशात मुझे हाबीभौआड़ गांव में विद्वान् शिष्यों से युक्त गुरुदेव गेनालाल जी की शरण में ज्ञान प्राप्त करने का अवसर मिला।

सर्वान् ग्रन्थानधीत्याधिगतमतिरथोत्तीर्णतीर्थ: परस्तात्,
काशीं मित्रानुरोधाच्छ्रुतिगुणवसुभूसंख्यशाके समेत्य।
भ्रातुस्साहाय्ययोगाज्जगति सुविदिते क्वीन्सकालेज नाम्न,
आचार्ये प्राप्य हैमं पदकमपि, तथोत्तीर्य काव्यस्य तीर्थम् ।।

अर्थात् वहां गुरु जी के श्री चरणों में मैंने सभी शास्त्रों में शिक्षा प्राप्त की और कालांतर में उच्च-शिक्षा प्राप्त करने के लिए शक १८३४ में मित्रों के अनुरोध पर तथा भाई के सहयोग से काशी में जगत विख्यात क्वींस कालेज में प्रवेश लिया। यहां पर मैंने न केवल आचार्य परीक्षा में सर्वोच्च अंक लेकर स्वर्ण-पदक प्राप्त किया अपितु मैंने काव्यतीर्थ की परीक्षा भी उत्तीर्ण की।

तस्मात् 'प्रतापगढ'-मण्डलशासकानां,
श्रीगूर्जरद्विजविनायकमेहतानां।
विद्यालये सकलशास्त्रविभागयुक्ते,
त्वध्यापनाय गणितस्य नियोजितस्तै: ।।

अर्थात्, इसके बाद प्रतापगढ़ जिले के शासक गुजराती ब्राह्मण श्री विनायक मेहता के महाविद्यालय में जिसमें सभी शास्त्र पढ़ाए जाते थे में गणित के अध्यापक के रूप में नियुक्त हुआ।

४.६.२. गंगाधर मिश्र का कर्तृत्व –

परिचयात्मक पद्य-रचना के अन्तिम श्लोक में इन्होंने अपने कर्तृत्व का भी परिचय दिया है। इसमें इन्होने अपनी तीन कृतियों का उल्लेख किया है। ये तीनों ही भाष्य हैं, जिनमें २ तो सुधाकर जी के गणितीय ग्रंथों पर हैं तथा १ कमलाकर भट्ट के प्रसिद्ध ग्रन्थ सिद्धान्त-तत्व-विवेक की टीका है। इससे इनके पूर्णतया गणितज्ञ और खगोलवेत्ता होने की पुष्टि होती है।

तत्रादौ रुचिरां सुधाकरवपु: श्रिङ्गोन्नतेर्व्याकृतिं,
तत्पश्चात् प्रतिभावबोधतिलकं गोलज्ञमोदप्रदम्।
एतत् 'तत्त्वविवेक'-भाष्यमधुना निर्माय विद्वत्पुर:,
सेवार्थं समुपस्थितोऽस्मि लघुधीर्गङ्गाधरो मैथिल: ॥

अर्थात् अपने अध्यापन काल के दौरान ही मैंने सबसे पहले महामहोपाध्याय पण्डित सुधाकर द्विवेदी जी के ग्रंथों पर टीकाएं लिखीं। इनमें सर्वप्रथम उनके ग्रन्थ 'वास्तवचन्द्रश्रृंगोन्नति' पर मैंने 'रुचिरा' भाष्य लिखी। इसके बाद उनके दूसरे ग्रन्थ 'प्रतिभाबोधक' पर 'तिलक' नामक टीका लिखी। इसके बाद गोलविदों की प्रसन्नता हेतु मैं अल्पमति गंगाधर मिश्र यह तत्वविवेक-भाष्य लिख कर विद्वज्जनों की सेवा में उपस्थित हूं।

इस तत्वविवेक-भाष्य का महत्त्व इसी बात से समझ लेना चाहिए कि यह एक मात्र विस्तृत, व्यवस्थित और संस्कृत भाषा में निबद्ध टीका है। इसमें आचार्य की गणितीय प्रतिभा के पग-पग पर दर्शन होते हैं। सिद्धान्ततत्त्वविवेक में श्लोक बड़े-बड़े छंदों में विरचित हैं जिनकी स्पष्ट व्याख्या बिना गंगाधर जी के भाष्य संभव ही नहीं है।

बोध प्रश्न

प्र.३ निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दें –

(ट) गंगाधर मिश्र ने _____की प्रसिद्ध टीका की।
(ठ) गंगाधर मिश्र ने _____ से ज्योतिष-शास्त्र की शिक्षा ग्रहण की है।
(ड) _____ ने गंगाधर मिश्र को अध्यापक नियुक्त किया।

(ढ) गंगाधर मिश्र ने प्रतिभाबोधक पर _____ नामक टीका लिखी है।

(ण) गंगाधर मिश्र के पिता का नाम _____ था।

अभ्यास प्रश्न

प्र.४ गंगाधर मिश्र के कर्तृत्व पर प्रकाश डालिए।

_____

_____

_____

_____

५.७ सारांश

भारतीय ज्योतिष का आधुनिक काल शालिवाहन शक के सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से माना जा सकता है। इस काल में नीलाम्बर झा, सामन्तचन्द्रशेखर, बापूदेव शास्त्री, सुधाकर द्विवेदी, वेंकटेश बापू केतकर बाल गंगाधर तिलक, दीनानाथ शास्त्री चुलेट, शंकर बालकृष्ण दीक्षित जैसे अनेकों विद्वान् हुए। इनमें से अधिकतर विद्वान् अंग्रेज़ी भाषा और पाश्चात्य गणित इन दोनों से भली-भांति परिचित थे। इस काल में नीलाम्बर झा, सामन्तचन्द्रशेखर, बापूदेव शास्त्री, सुधाकर द्विवेदी, वेंकटेश बापू केतकर बाल गंगाधर सिद्धान्त-ज्योतिष में वेध-प्रक्रिया को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा। जिससे भारतीय-ज्योतिष का खगोलीय पक्ष और अधिक प्रायोगिक हो गया। नक्षत्रों की स्थिति, सायन-निरयणवाद, विविध खगोलीय यन्त्रों की संरचना विधि के साथ-साथ ग्रह-स्पष्टीकरणार्थ च्युति—किरणवक्रीभवन प्रभृति नए संस्कार, और नक्षत्रों की स्थिति के आधार पर वेदों, वैदिक साहित्य आदि के काल-निर्धारण इत्यादि इस काल में भारतीय-ज्योतिषीय-विद्वानों के अध्ययन के विषय बन गए।

नीलाम्बर झा का पटना में शक १७४५ में हुआ। इनके पिता का नाम श्री शम्भुनाथ झा और अग्रज भाई का नाम पण्डित जीवनाथ झा था। नीलाम्बर झा ने सर्वप्रथम अपने भाई जीवनाथ जी से ज्योतिष की प्रारम्भिक शिक्षा ग्रहण की। पं. सुधाकर द्विवेदी से प्रभावित होकर इन्होंने सिद्धान्तज्योतिष के खगोलीय विषयों को इस नई गणितीय पद्धति से निरूपित करने का निर्णय लिया। वह पारंपरिक ज्योतिषीय परिवार में उत्पन्न ऐसे पारम्परिक पण्डित थे जिन्होंने पाश्चात्य गणित की सहायता से भारतीय खगोलीय सिद्धांत के विषयों को स्पष्ट किया।

श्री सामन्त चन्द्रशेखर का जन्म ओडिशा के खण्डपारा गाँव में श्यामबन्धु सिंह के घर पर शक १७५७ में पौष कृष्ण सप्तमी, मंगलवार को हुआ। यद्यपि उनका जन्म सामन्त-परिवार में हुआ था लेकिन अपने अति-स्वाभिमानी प्रकृति के कारण उन्होंने जीवन भर संघर्ष किया और साधारण जीवन-यापन किया। चन्द्रशेखर ने आधुनिक विश्वविद्यालयीय शिक्षा-पद्धति से अध्ययन नहीं किया था । स्वयं के द्वारा सतत वेध करके उन्होंने ग्रहों के साधन-पद्धति में कुछ नए संस्कार जोड़े जिसका उन्होंने अपने ग्रन्थ सिद्धान्त-दर्पण में निरूपण किया। चंद्रशेखर ने १८५८ ईस्वी में इस ग्रन्थ का लेखन आरम्भ किया। ३४ वर्ष के परिश्रम के बाद यह शक १८१४ में इसे पूर्ण किया। इसमें वैदिक युग से आरम्भ कर कमलाकर भट्ट पर्यन्त सभी ज्योतिष ग्रन्थों के सारांश रूप में २५०० संस्कृत श्लोक हैं। इस ग्रन्थ के आधार पर कालान्तर में कटक के अंग्रेज कमिश्नर की अनुशंसा से उन्हें 'महामहोपाध्याय' की उपाधि प्रदान की गई। यह ग्रन्थ उनके आजीवन परिश्रम, वेध और प्रतिभा का परिणाम-स्वरूप है। इसका वैशिष्ट्य यह है कि यह न केवल दृकसिद्ध ग्रह के साधन के लिए गणितीय पद्धति को निरूपित करता है अपितु सही गणना हेतु खगोलीय-भौतिकी के सिद्धान्तों पर भी विचार करता है। इन सिद्धांतों के आधार पर आवश्यक गणितीय संस्कारों का निरूपण भी चंद्रशेखर ने इस ग्रन्थ में किया है।

गंगाधर मिश्र बिहार के भागलपुर जिले के चयनपुर गाँव के रहने वाले थे । शेखरदत्त जी गंगाधर के पितामह थे। गंगाधर के पिता हंसराज, शेखरदत्त जी के सबसे बड़े पुत्र थे जो स्मृतियों, गणितशास्त्र, काव्यशास्त्र और तर्कविद्या के बड़े पंडित थे । गंगाधर ने बचपन में ही पिता के देहांत के कारण गुरुदेव गेनालाल जी से ज्योतिष सहित सभी शास्त्रों की शिक्षा प्राप्त की । काशी में क्वींस कालेज से आचार्य और काव्यतीर्थ की परीक्षा भी उत्तीर्ण की। इसके बाद प्रतापगढ़ जिले के शासक गुजराती ब्राह्मण श्री विनायक मेहता के महाविद्यालय में गणित के अध्यापक के रूप में ये नियुक्त हुए। इन्होने तीन ग्रन्थ

लिखे जिनमें २ तो सुधाकर जी के गणितीय ग्रंथों पर हैं तथा १ कमलाकर भट्ट के प्रसिद्ध ग्रन्थ सिद्धान्त-तत्व-विवेक की टीका है।

५.८ शब्दावली

१. भूसुर = ब्राह्मण।

२. सिद्धान्तसम्भ्रान्तनिरस्तशङ्कम् = सिद्धान्त-ज्योतिष की क्लिष्टता के कारण निरन्तर भ्रम में पड़े लोगों की शंका को निरस्त कर देने वाले (को)।

३. त्रिप्रश्नप्रग्रहोपग्रहास्तमिदुदयास्तेन्दुशृङ्गातिपातान् = त्रिप्रश्न, ग्रहण, ग्रहयुति, नक्षत्र युति, उदय और अस्त, चन्द्रशृङ्गोन्नति, और व्यतीपात (को)।

४. क्ष्मा-कक्षायन्त्रवर्षाऽच्युतनुतिकुतुकानि = पृथ्वी, कक्षा, यन्त्र, देश-विदेश (वर्ष) , जगन्नाथ स्तुति, और कौतुक पञ्जिका।

५. विद्वद्वृन्दवन्द्य = विद्वानों के समूह में पूज्य।

६. अम्बावंशवित्ताश्रयभृतिः = अम्बावंशीय राजाओं के द्वारा पोषित।

७. विज्ञमान्यः = विद्वानों द्वारा सम्मानित।

८. प्रचुरगुणयुतः - अनेक गुणों से युक्त।

९. संबभूव – हुए।

१०. स्मृति-गणित-लसत्काव्यतर्कादिविज्ञः = स्मृतियों, गणितशास्त्र, काव्यशास्त्र और तर्कविद्या के बड़े पंडित।

११. तत्सूनुः = उनका पुत्र

१२. शैशवेऽहं = मैं गंगाधर, बचपन में।

१३. हतनियतिः = दुर्भाग्यशाली।

१४. भ्रामं भ्रामं = घूम-घूम कर।

१५. चरणकमलयोरन्तिकं प्राप्य = गुरु के चरण-कमलों का सान्निध्य पाकर।

१६. श्रुतिगुणवसुभूसंख्यशाके = श्रुति (४) गुण (३) वसु (८) भू (१) १८३४ शक में।

१७. व्याकृतिं – व्याख्या (टीका) को।

५.९ बोध प्रश्नों के उत्तर –

प्र.१ (क) (√) (ख) (×) (ग) (√) (घ) (×) (ङ) (√)

प्र.२ (क) (√) (ख) (√) (ग) (×) (घ) (×) (ङ) (√)

प्र.३ (क) सिद्धान्ततत्वविवेक।

(ख) पण्डित गेनालाल।

(ग) विनायक मेहता।

(घ) तिलक।

(ङ) हंसराज मिश्र।

५.९ सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१. झारखंडी शिवनाथ (१९९०) भारतीय ज्योतिष (मूल – शंकर बालकृष्ण दीक्षित), उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ (द्वितीय संस्करण)।

२. प्रसाद गोरख (१९९०), भारतीय ज्योतिष का इतिहास, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ।

३. मिश्र गंगाधर (), सिद्धान्ततत्वविवेक,

४. उपाध्याय अरुण कुमार (१९६२), सिद्धान्त दर्पण, इन्डियन इन्स्टीट्यूट आफ अस्ट्रोनोमिकल एंड संस्कृत रिसर्च, नई दिल्ली।

५.१० सहायक ग्रन्थ सूची –

१. शास्त्री नेमीचन्द्र (२०१४), भारतीय ज्योतिष, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली।

२. द्विवेदी सुधाकर (१८९२), प्रतिभाबोधकम।

५.११ निबन्धात्मक प्रश्न –

१. आधुनिक-काल पर प्रकाश डालिए।

२. सिद्धान्त-दर्पण पर प्रकाश डालिए।

३. भारतीय ज्योतिष के इतिहास में नीलाम्बर झा की भूमिका को स्पष्ट कीजिए।

४. पण्डित गंगाधर मिश्र के कर्तृत्व का निरूपण कीजिए।

खण्ड - ३
ज्योतिष शास्त्र के प्रमुख सिद्धान्त

इकाई - १ भू-भ्रमण सिद्धान्त

इकाई की संरचना

१.१ प्रस्तावना

१.२ उद्देश्य

१.३ भू-भ्रमण परिचय

- १.३.१ भू (पृथ्वी) की उत्पत्ति
- १.३.२ पृथ्वी का भौतिक स्वरूप
- १.३.३ पृथ्वी का अर्न्तभाग

१.४ प्राच्य-पाश्चात्य मतानुसार भू –भ्रमण सिद्धान्त

- १.४.१ प्राच्य ज्योतिष के अनुसार भू-भ्रमण सिद्धान्त
- १.४.२ पाश्चात्य आधुनिक मतानुसार भू-परिक्रमण सिद्धान्त

१.५ सारांश

१.६ पारिभाषिक शब्दावली

१.७ बोध प्रश्नों के उत्तर

१.८ सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१.९ सहायक पाठ्यसामग्री

१.१० निबन्धात्मक प्रश्न

१.१ प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई एमएजेवाई- 203 के तृतीय खण्ड की प्रथम इकाई से सम्बन्धित है। इस इकाई का शीर्षक है – भू-भ्रमण सिद्धान्त। इसके पूर्व में आपने आचार्यों के जीवन परिचय से जुड़े इकाईयों का अध्ययन कर लिया है। अब आप ज्योतिष के प्रमुख सैद्धान्तिक पक्षों से अवगत होने जा रहे है।

सिद्धान्त ज्योतिष का मुख्य विषय है – भू-भ्रमण सिद्धान्त। भू-भ्रमण का अर्थ है- पृथ्वी का भ्रमण। इसके सन्दर्भ में प्राचीन एवं अर्वाचीन मत में मतान्तर भी हमें दिखलाई पड़ते है। सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से यह यह विषय बड़ा ही रोचक एवं महत्वपूर्ण है।

अत: आइए इस इकाई में हम सभी भू-भ्रमण के गणितीय एवं उसका सैद्धान्तिक पक्ष का विस्तार से अध्ययन करते हैं।

१.२ उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप जान लेंगे कि –

- भू-भ्रमण की परिभाषा क्या है।
- सिद्धान्त ज्योतिष में भू-भ्रमण का सिद्धान्त क्या है।
- अर्वाचीन मत में भू-भ्रमण का सिद्धान्त क्या है।
- सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से भ्र-भ्रमण क्या है।
- भू-भ्रमण का महत्व क्या है।

१.३ भू-भ्रमण सिद्धान्त परिचय

भू-भ्रमण सिद्धान्त ज्योतिष का एक महत्वपूर्ण एवं रोचक विषय है। भू-भ्रमण का शाब्दिक अर्थ है- भू अर्थात् पृथ्वी तथा उसका भ्रमण मतलब घूमना। इस प्रकार भूभ्रमण का अर्थ है- पृथ्वी का घूमना। पृथ्वी के घूमने के सम्बन्ध में हम यदि अध्ययन करते हैं तो यह मालूम होता है कि प्राच्य-पाश्चात्य दृष्टिकोण से इसमें मत-मतान्तर रहा है। प्राच्य जगत् (ज्योतिष जगत्) पृथ्वी को स्वशक्ति से निराधार आकाश में स्थिर मानता है। जबकि आधुनिक विज्ञान पृथ्वी को चलायमान मानता है। उनके

अनुसार पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा करती है। उसकी घूर्णन गति होती है, और वह अपने अक्ष पर निरन्तर भ्रमण करते रहती है।

भू-भ्रमण की जानकारी से पूर्व हमें भू अर्थात् पृथ्वी से भी परिचति होना चाहिए। पृथ्वी किसे कहते है? उसका प्राच्य-पाश्चात्य दृष्टिकोण से स्वरूप कैसा है? इसका संक्षिप्त उल्लेख करते हुए पुन: भूभ्रमण के बारे में जानेंगे।

१.३.१ भू (पृथ्वी) की उत्पत्ति –

पृथ्वी अथवा पृथिवी एक संस्कृत शब्द हैं जिसका अर्थ " एक विशाल धरा" निकलता हैं। एक अलग पौराणिक कथा के अनुसार, महाराज पृथु के नाम पर इसका नाम पृथ्वी रखा गया। इसके अन्य नामो में- धरा, भूमि, धरित्री, रसा, रत्नगर्भा इत्यादि सम्मलित हैं। अन्य भाषाओं में इसे जैसे- अंग्रेजी में अर्थ(Earth) और लैटिन भाषा में टेरा (Terra) कहा जाता हैं। यद्यपि सभी नामो में इसका अर्थ लगभग सामान ही हैं।

पृथ्वी के उत्पत्ति के सन्दर्भ में ऐसी मान्यता है कि एक समय आकाश में सर्वत्र वाष्प कण (गैस) व्यापक रूप से व्याप्त थे। वाष्प कणों के आकर्षण एवं विकर्षण से अणु-परमाणुओं की उत्पत्ति हुई। ये ही अणु-परमाणु पृथ्वी की उत्पत्ति के कारणस्वरूप हैं। जैन दर्शन इसकी व्यापक चर्चा करता है, यथा-

अण्वादीनां संघाताद द्वयणुकादय उत्पद्यन्ते।

तत्र स्वावस्थिताकृष्टशक्ति रेवाघसंयोगे कारणभावामापद्यते।।

इस सन्दर्भ में श्रुति कहती है- ''आकाशाद्वायुर्वायोरग्नि- रग्नेरापः अद्भ्यः पृथ्वी चोत्पद्यते'' अर्थात् आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी उत्पन्न हुई। स्पष्ट होता है कि वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी उत्पन्न हुई है। आरम्भ में मात्र आकाश व वाष्प कण ही समस्त जगत्-मण्डल में व्यापक रूप से व्याप्त थे। इन्हीं के आकर्षण-विकर्षण से सृष्टि हुई है।

हमारी पृथ्वी का भूमध्यरेखीय व्यास मान 12756 किलोमीटर है तथा ध्रुवीय व्यास 12714 कि.मी. है। इसके चारों तरफ वायुमण्डल का एक मोटा आवरण है जो अन्तरिक्ष से आने वाली घातक विकिरणों एवं उल्कापातों से हमारी रक्षा करता है। पृथ्वी के धरातल का 71 प्रतिशत भाग जल से ढका है तथा शेष भाग ही भूतल के रूप में जाना जाता है जिस पर दुनिया के सभी महाद्वीप हैं। पृथ्वी का एक चुम्बकीय क्षेत्र भी है और इसके चारों ओर आवेशित कणों की दो विकिरण पट्टियाँ हैं जिन्हें वान एलेन विकिरण पट्टियाँ कहते हैं। पृथ्वी अपनी धुरी पर झकोरा खाते हुए लट्टू के समान

घूमती है। इस प्रकार अक्ष 26000 वर्षों में लट्टू के आकार में घूमते हुए एक चक्कर पूरा करती है। इसी के आधार पर तारों के सापेक्ष ध्रुव की स्थिति बदलती रहती है। वर्तमान में 'पोलारिस' तारा हमारा ध्रुव तारा है। परन्तु लगभग सन् 14000 तक 'लीरा' नक्षत्र मण्डल में स्थित 'वेगा' तारा ध्रुव तारा हो जाएगा। भारतीय ज्योतिष में कमलाकर भट्ट ने सर्वप्रथम ध्रुव तारे को चल-तारा कहा और यह स्पष्ट रूप में कहा कि ध्रुव स्थिर नहीं है, वह स्थान बदलता है। हमारी पृथ्वी सौरमण्डल का सबसे बड़ा ग्रह नहीं है। बुध, शुक्र, मंगल से हमारी पृथ्वी बड़ी है परन्तु शनि, बृहस्पति, यूरेनस तथा नेप्च्यून से छोटी है। सौर-परिवार का सबसे बड़ा ग्रह बृहस्पति है। यह हमारी पृथ्वी से 1300 गुणा बड़ा तथा 318 गुणा भारी है। कह सकते हैं कि बृहस्पति के अन्दर यदि हम पृथ्वी को डालें तो कम-से-कम 1300 पृथ्वियाँ बृहस्पति में समा सकती हैं। हमारी पृथ्वी का एक उपग्रह है जिसे हम चन्द्र कहते हैं। इसी के कारण पृथ्वी में ज्वारभाटा आता है तथा इसी के कारण सूर्य एवं चन्द्रग्रहण मुख्य रूप से होते हैं। पूरे सौर-परिवार में मात्र हमारी पृथ्वी ही ऐसी है जिस पर जीवन है।

१.३.२ पृथ्वी का भौतिक स्वरूप

1.	पृथ्वी का व्यासमान–	
	भूमध्यरेखीय	12756 कि.मी.
	ध्रुवीय	12714 कि.मी.
2.	अक्ष परिभ्रमण काल	23 धण्टा, 56 मिनट, 04 सेकेण्ड
3.	कक्षीय परिभ्रमण काल	365.5 दिन
4.	सूर्य से दूरी	149600000 कि.मी.
5.	कक्षीय गति	29.8 कि.मी/सेकेण्ड
6.	अक्षीय झुकाव	23.5 अंश
7.	पलायन गति	11.2 कि.मी/सेकेण्ड
8.	घनत्व	05.52 (जल की अपेक्षा)
9.	पृष्ठीय तापमान	22^0 सेंटीग्रेड
10.	वायुमण्डल के मुख्य अंग–	
	नाइट्रोजन	78.5 प्रतिशत
	ऑक्सीजन	21.0 प्रतिशत
11.	भूपटल के मुख्य अंग–	
	ऑक्सीजन	47 प्रतिशत
	सिलिकन	28 प्रतिशत
	एल्यूमिनियम	08 प्रतिशत
	लोहक पदार्थ	05 प्रतिशत
12.	भूतर का क्षेत्रफल	148326000 वर्ग कि.मी.
13.	भूतल क्षेत्र	29 प्रतिशत
14.	जलीय क्षेत्रफल	361740000 वर्ग कि.मी.

15. जलीय क्षेत्रफल	71 प्रतिशत
16. आयतन	1083208850000 घन कि.मी.
17. सर्वोच्च पर्वत (एवरेस्ट)	8848 मीटर
18. गहनतम गर्त (प्र. म. मैरीयन)	11033 मीटर
19. परिक्रमण मार्ग से दूरी	96 करोड़ कि.मी.
20. उपग्रह संख्या	01 (चन्द्र)

भू-पटल

पृथ्वी की जिस ऊपरी सतह पर हम अपना व्यवहार करते हैं अर्थात् जिस पर हम मकान बना कर रहते हैं, खाद्य पदार्थ उपजाते हैं, वह भूपटल का ऊपरी भाग है। संक्षेप में कहें तो हम कह सकते हैं कि मिट्टी व शिलाओं से बने पृथ्वी के बाहरी आवरण को ही भूपटल कहते हैं। इसे ही पृथ्वी की पपड़ी भी कहते हैं। सन् 1928 में एफ. डब्ल्यू. क्लार्क और एच. एस. वाशिंगटन ने पृथ्वी के विभिन्न भागों से बहुत प्रतिदर्श (SAMPLES) एकत्रित किए और उनका रासायनिक विश्लेषण किया। लगभग 5159 विश्लेषणों के आधार पर पृथ्वी की पपड़ी की जो रासायनिक संरचना बताई गई वह निम्नलिखित सारिणी में दिया गया है।

भू-पटल में रासायनिक योग

	तत्व	तत्वों के प्रतीक	मात्रा प्रतिशत में
1.	ऑक्सीजन	O	46.71
2.	सिलिकॉन	Si	27.69
3.	एल्युम्यूनियम	Al	08.07
4.	लोहा	Fe	05.05
5.	कैलसियम	Ca	03.65
6.	सोडियम	Na	02.75
7.	पोटिशयम	K	02.58
8.	मैग्नीशियम	Mg	02.08
9.	टाइटेनियम	Ti	00.62
10.	हाइड्रोजन	H	00.14
11.	फास्फोरस	P	00.13
12.	कार्बन	C	00.094
13.	मैगनीज	Mn	00.090
14.	गन्धक	s	00.052
15.	बेरियम	Ba	00.050
16.	विरल तत्व		00.244
		योग	**100.00**

भू-पटल के अणुओं का योग

	अणु	अणु सूत्र	मात्रा प्रतिशत में
1.	सिलिका	SiO_2	59.07
2.	ऐल्यूमिना	Al_2O_3	15.22
3.	लोहिक आक्साइड	FeO_3	03.10
4.	लोहस आक्साइड	FeO_2	03.71
5.	मैगनीशिया	MgO	03.45
6.	कैलसियम आक्साइड	CaO	05.10
7.	सोडियम आक्साइड	Na_2O	03.71
8.	पोटेशियम आक्साइड	K_2O	03.11
9.	हाईड्रोजन आक्साइड	H_2O	01.30
10.	कार्बन–डाईआक्साइड	CO_2	00.35
11.	टाइटेनियम आक्साइड	TiO_2	01.03
12.	फासफोरस आक्साइड	$P2O_2$	00.30
13.	मैगनीज डाईआक्साइड	MnO_2	00.11
14.	जिरकॉन आक्साइड	ZrO_2	00.04
15.	बोरियम आक्साइड	BaO	0.05
16.	स्ट्राशियम आक्साइड	SrO	0.02
17.	शेष		0.33
		योग	**100.00**

१.३.२ पृथ्वी का अन्तर्भाग : -

पृथ्वी के गर्भ में क्या है? वहाँ कैसी स्थिति है? इस विषय में बहुत मतमतान्तर हैं। प्रायः पृथ्वी के गर्भ में गर्म पिघला हुआ लावा अधिकतर लोग मानते हैं। वेदों में भी पृथ्वी को अग्निगर्भा कहकर उद्धृत किया गया है। यथा-'आग्नेयी पृथिवी:[1]', 'आग्नेयोऽयं लोकः'[2], 'अग्निगर्भा पृथिवी'[3]। इससे स्पष्ट होता है कि वैदिक काल में भी यह धारणा थी कि पृथ्वी का गर्भ अग्निवत् है।

(1. ताण्डय ब्राह्मण 15।4।8 2. जैमिनीयोपनिषद् 9।37।2 3. शतपथ ब्राह्मण 14।94।21)

पृथ्वी की लगभग 70 कि.मी. गहरी एक नरम परत है जिसको हम भूपृष्ठ कहते हैं। महाद्वीप एवं महासागर इसी पृष्ठभाग में स्थित है। भूकम्प जैसी घटनाएँ भी इसी क्षेत्र में होती हैं। इसके नीचे लगभग 700 कि.मी. तक गहरी कठोर चट्टानी परत है यही ज्वालामुखी चट्टानें भी विद्यमान रहती हैं। इसके अन्दर 2000 कि.मी. मोटी परत प्रायः अंगारे के समान गर्म परत है यह अधिक कठोर नहीं है। इसे भीतर का भाग खौलते हुए लोह आदि धातुओं से भरा है। इसके मध्य में एक ठोस गोलाकार पिण्ड

भूकेन्द्र में धातुओं से भरा है। इसके मध्य में एक ठोस गोलाकार पिण्ड भूकेन्द्र में विद्यमान है जिसे हम सौलिड कोर भी कह सकते हैं।

भूकम्प की लहरों, ज्वालामुखियों, खदानों तथा संछिद्रों के अध्ययनोपरान्त पृथ्वी के अन्तर्भाग के सन्दर्भ में दो मुख्य बातें स्पष्ट होती है। पहली यह कि पृथ्वी के अन्दर गहराई की वृद्धि के साथ ही तापमान की वृद्धि भी होती है तथा दूसरी यह कि गहराई के साथ-साथ घनत्व की बढ़ोतरी भी होती है। पृथ्वी के गर्भ की दशा कैसी है? अन्तर्भाग ठोस है, द्रव है या वायत्व (गैसीय) है-जिसमें से एक उबला हुआ तथा दूसरा बिना उबला हुआ था-यह दिखाया कि उबला हुआ अंडा ही घूम सकता है। क्योंकि इसका भीतरी भाग ठोस है। पृथ्वी भी अपनी धुरी पर घूमती है। इसके विपरीत दूसरे वैज्ञानिकों ने यह माना कि पृथ्वी का तरल पदार्थ (लावा) इसका प्रमाण है। कुछ का कहना है कि गहराई में अत्यधिक दबाव विद्यमान है जिसके कारण स्थलीय पदार्थ उच्च तापमान पर होने पर भी ठोस वस्तुओं की तरह ही व्यवहार करते हैं। यदि किसी कारण से दबाव में कमी हो जाए तो ये वस्तुएँ तरल रूप में परिवर्तित हो जाएँगी तथा किसी भी दरार आदि के द्वारा बाहर निकल कर धरातल पर बहने लगेंगी। इसी प्रक्रिया को ज्वालामुखी कहते हैं। अतः यह कह सकते हैं कि ज्वालामुखी का लावा यह प्रमाणित नहीं करता कि भूगर्भ में तरल पदार्थ है। अभी कुछ वर्ष पूर्व तक भूविशेषज्ञों का कहना था कि पृथ्वी का अन्तःकेन्द्र निकिल और लोह का बना हुआ है परन्तु आधुनिकतम रूसी वैज्ञानिकों का कहना है कि यह केन्द्र भाग भी शैल पदार्थों से ही बना है, परन्तु यहाँ सर्वाधिक दबाव की स्थिति है जिसके कारण पृथ्वी का आन्तरिक घनत्व भी अधिक है। उत्तरोत्तर अनुसंधानों से नित्य-नूतन विचार भी आते रहते हैं।

१.४ प्राच्य-पाश्चात्य मतानुसार भू-भ्रमण विचार

१.४.१ प्राच्य मतानुसार (ज्योतिष) के अनुसार भू-भ्रमण सिद्धान्त

ज्योतिषशास्त्र के अनुसार **सर्वप्रथम आर्यभट्ट ने तीसरी-चौथीं शताब्दी में ही भू-भ्रमण के सिद्धान्त को प्रतिपादित** कर दिया था। आर्यभट्ट का जन्म तीसरी-चौथी शताब्दी (३९८ शक्) में भारतवर्ष में पाटलिपुत्र शहर के अन्तर्गत कुसुमपुर नामक गाँव में हुआ था। उन्होंने ही प्रथम बार यह कहा था कि तारामण्डल स्थिर है और भू (पृथ्वी) अपनी दैनिक भ्रमण (घूमने) की गति से नक्षत्रों तथा ग्रहों का उदय और अस्त करती है। आर्यभट्ट द्वारा विरचित सुप्रसिद्ध 'आर्यभट्टीयम्' नामक ग्रन्थ के गोलपाद में भूगोल स्वरूप बतलाते हुए आचार्य का कथन है कि –

वृत्तभपंजरमध्ये कक्ष्यापरिवेष्टित: खमध्यगत:।
मृज्ज्लशिखिवायुमयो भूगोल: सर्वतो वृत्त:।।
यद्वत् कदम्बपुष्पग्रन्थि: प्रचित: समन्तत: कुसुमै:।
तद्वद्धि सर्वसत्वैर्जलजै: स्थलजैश्च भूगोल:।।

अर्थात् वृत्ताकार नक्षत्रमण्डल के मध्य में, ग्रहों की कक्षाओं से परिवेष्टित आकाश के मध्य में पृथ्वी का गोला स्थित है। यह चारों ओर से गोल है अर्थात् दर्पण आदि की भाँति गोल नहीं है, गेंद की भाँति गोल है। यह मिट्टी, जल, अग्नि एवं वायुमय है। जिस प्रकार कदम्ब के फूल की ग्रन्थि चारों ओर से छोटे कुसुमों से व्याप्त रहती है उसी प्रकार पृथ्वी का गोला जल में अथवा स्थल पर पैदा होने वाले सभी प्राणियों से व्याप्त है। खमध्य में स्थित होने का यह अर्थ है कि पृथ्वी किसी आधार पर स्थित नहीं है अपितु निराधार है। पृथ्वी के सम्बन्ध में ऐसा ही मत ज्योतिष शास्त्र के सुप्रसिद्ध आचार्य वराहमिहिर का भी है। जैसा कि पंचसिद्धान्तिका में उनका कथन है –

पंचमहाभूतमयस्तारागणपंजरे महीगोल:।
खेऽस्यस्कान्तान्त:स्थो लोह इवावस्थितो वृत्त:।।

अर्थात् पृथ्वी का गोला जो पंचमहाभूतों का बना है आकाश में तारामण्डल के मध्य में वैसे ही स्थित है जैसे लोहे का टुकड़ा चुम्बकों के बीच में निराधार स्थित रह सकता है।

आर्यभट्ट जी ने पृथ्वी को केवल चार महाभूतमय कहा है परन्तु वराहमिहिर ने पाँचवें महाभूत आकाश का भी उल्लेख किया है।

आर्यभट्ट का भू-भ्रमण सिद्धान्त

'आर्यभट्टीयम्' नामक ग्रन्थ के गोलपाद में आर्यभट्ट जी ने भू-भ्रमण सिद्धान्त के बारे में कहते हुए लिखा है कि –

अनुलोमगतिर्नौस्थ: पश्यत्यचलं विलोमगं यद्वत्।
अचलानि भानि तद्वत् समपश्चिमगानि लंकायाम्।।

अर्थात् जैसे नाव में बैठा हुआ कोई मनुष्य जब पूर्व दिशा में जाता है तब नदी के तीर की अचल वस्तुओं को विपरीत दिशा में जाता हुआ अनुभव करता है। उसी प्रकार अचल तारागण दशशिरपुरि लंका (जहाँ सूर्य का प्रथम बार उदय हुआ था अथवा जहाँ से वार-प्रवृत्ति आरम्भ हुई थी) में पश्चिम की ओर जाते प्रतीत होते हैं। अतएव ऐसा प्रतीत होता है कि तारामण्डल तथा ग्रहों के उदय तथा अस्त के लिए वे नित्य ही प्रवह वायु द्वारा चलाये जाकर लंका में ठीक पश्चिम दिशा में भ्रमण कर रहे हैं।

इससे स्पष्ट है कि आर्यभट्ट यह मानते थे कि पृथ्वी अपनी धुरी पर घूमती है और तारामण्डल स्थिर है। इस सम्बन्ध में ज्योतिष के अन्य विभिन्न आचार्यों ने आर्यभट की आलोचना भी की है। भास्कर द्वितीय के सिद्धान्तशिरोमणि के भगणाध्याय के प्रथम छ: श्लोकों के वासना वार्तिक में नृसिंह ने कहा है –

आर्यभट्टास्तु ग्रहा: पूर्वस्यां यान्ति। नक्षत्राणि तु स्थिराण्येव भूरेव नाक्षत्रदिनमध्ये पूर्वाभिमुखमेकवारं भ्रमति। तेनैव नक्षत्रग्रहाणामुदयास्तौ पूर्वपश्चिमयोर्घटत: प्रवहानिलकल्पना व्यर्था। अर्थात् ग्रह पूर्व की ओर चलते है। आर्यभट्ट के अनुसार नक्षत्रगण स्थिर ही हैं, पृथ्वी ही एक नाक्षत्रदिन में पूर्व की ओर एक बार घूमती है। इसी कारण नक्षत्रों तथा ग्रहों का उदय एवं अस्त क्रमश: पूर्व और पश्चिम में होता है। प्रवह वायु की कल्पना व्यर्थ है।

कोलब्रुक ने ब्रह्मगुप्त के भाष्यकार पृथूदकस्वामी द्वारा उद्धृत की गई आर्यभट्ट की एक आर्या को उद्धृत किया है –

भपंचजर: स्थिरो भूरेवावृत्यावृत्य प्रातिदैवसिकौ।
उदयास्तमयौ सम्पादयति नक्षत्रग्रहाणाम्।।

यह आर्या कदाचित् पृथुदकस्वामी ने आर्यभट्ट के दूसरे ग्रन्थ से उद्धृत की है जो अब प्राप्य नहीं है। इसमें स्पष्ट रूप से आर्यभट्ट ने कहा है कि तारामण्डल स्थिर है और भू (पृथ्वी) अपनी दैनिक भ्रमण (घूमने) की गति से नक्षत्रों तथा ग्रहों का उदय और अस्त करती है।

गोल परिभाषा में पृथ्वी -

स्वशक्त्या भूमिगोलोऽयं निराधारोऽस्ति खेऽस्थित:।
पृथुत्वात् समवद् भाति चलोऽप्यचलवद् तथा।।
आवृतोऽयं क्रमाच्चन्द्र बुधशुक्राऽर्कभूभूवाम्।
गोलैजीवार्कीभानां च क्रमादूर्ध्वोर्ध्वसंस्थितै:।।

अर्थात् यह भूमि गोल अपनी शक्ति से निराधार आकाश में स्थित है। यह अत्यन्त विशालकाय होने के कारण देखने में समतल एवं चलते हुए भी अचल प्रतीत होती है। यह भूगोल क्रमश: चन्द्र, बुध, शुक्र, रवि, भौम, गुरु, शनि तथा नक्षत्र गोल के द्वारा उर्ध्वोर्ध्वस्थ आवृत्त है। भूगोल के चारों तरफ उपर-उपर क्रमश: भू, वायु, अग्नि, चन्द्र, बुध, शुक्र, रवि, भौम, गुरु, शनि तथा नक्षत्रों के मण्डल हैं।

भास्कराचार्य का मत में भूगोल स्वरूप –

आचार्य भास्कर का सुप्रसिद्ध ग्रन्थ सिद्धान्तशिरोमणि के भुवनकोश अध्याय में भूमि स्वरूप का वर्णन इस प्रकार किया गया है –

भूमे: पिण्ड: शशांकज्ञकविरविकुजेज्यार्किनक्षत्रकक्षा।
वृत्तैर्वृतो वृत: सन् मृदनिलसलिलव्योमतेजोमयोऽयम्।
नान्याधार: स्वशक्त्यैव वियति नियतं तिष्ठतीहास्य पृष्ठे।।
निष्ठं विश्वं च शश्वत् सदनुजमनुजादित्यदैत्यं समन्तात्।।
सर्वत: पर्वतारामग्रामचैत्यचयैश्चित:।
कदम्बकुसुमग्रन्थि: केसरप्रसरैरिव।।

अर्थात् मिट्टी, वायु, जल, आकाश से युक्त यह तेजोमय वृत्ताकार पृथ्वी चन्द्र, बुध, शुक्र, रवि, भौम,गुरु, शनि तथा नक्षत्र की वृत्ताकार कक्षाओं से आवृत्त होकर बिना किसी अन्य आधार के स्वशक्ति से आकाश में स्थित है। उसके पृष्ठ के उपर जगत विद्यमान है। इस पर दानव, मानव, देव, असुर सहित विश्व सदा स्थित हैं। सभी ओर पर्वत, उद्यान, ग्राम, देवस्थान आदि स्थित हैं, जिस प्रकार कदम्ब पुष्प ग्रंथि में तिर्यक उर्ध्व केसर लगी रहती है।

पुराणों में भूमिआधार की परम्परा –

मूर्तो धर्ता चेद्धरित्रयास्ततोऽन्यस्तस्याप्यन्योऽस्यैवमत्रानवस्था।
अन्त्ये कल्प्या चेत् स्वशक्ति: किमाद्ये किं नो भूमे: साष्टमूर्तेश्च मूर्ति:।।

अर्थात् यदि हम मान लें कि मूर्त रूप पृथ्वी को कोई धारण करने वाला धर्ता है तो उस धर्ता को भी धारण करने वाला अन्य दूसरा धर्ता होगा, इसी प्रकार उसको भी धारण करने वाला कोई और अन्य धर्ता होगा। इस प्रकार हमें कोई अन्तिम धारक को मानना ही पड़ेगा कि जो स्वशक्ति से ही स्थित है तथा उसको धारण करने वाला कोई नहीं है। अत: पृथ्वी का कोई अन्य आधार नहीं है। पुराणों में भगवान शेषनाग को पृथ्वी का धारक माना गया है। वस्तुत: शेष नाग एक शक्ति का भाव भी समझा जा सकता है जिसने पृथ्वी को अपने उपर धारण कर रखा है। शक्ति कल्पना की युक्ति का भाव है।

अन्य भूमि सम्बन्धि मत –

यथोष्णतार्कानलयोश्च शीतता विधौ द्रुति: के कठिनत्वमश्मनि।
मरूच्चलो भूरचला स्वभावतो यतो विचित्रा बत वस्तुशक्तय:।।

श्लोक का अर्थ है कि जिस प्रकार अग्नि और सूर्य में उष्णता, चन्द्रमा में शीतलता, जल में तरलता

है, पाषाण में कठोरता है, वायु में गति है, ये सब स्वाभाविक रूप से विद्यमान है। उसी प्रकार पृथ्वी में अचलता अर्थात् स्थिरता का गुण स्वाभाविक है। इस विचित्र गुण के कारण यह स्थिर रह सकती है। इस प्रकार भू-भ्रमण एवं उसके स्वरूपादि से आप परिचित हो चुके हैं। अब आप पाश्चात्य मत का भी आगे अध्ययन करने जा रहें हैं।

१.४.२ पाश्चात्य (आधुनिक) मत में भू-परिक्रमण -

सूर्य के सापेक्ष पृथ्वी की परिक्रमण अवधि (सौर दिन) 86,400 सेकेंड (86,400.0025 एसआई सेकंड) का होता है। अभी पृथ्वी में सौर दिन, 19वीं शताब्दी की अपेक्षा प्रत्येक दिन 0 और 2 एसआई एमएस अधिक लंबा होता हैं जिसका कारण ज्वारीय मंदी का होना माना जाता हैं।

स्थित सितारों के सापेक्ष पृथ्वी की परिक्रमण अवधि, जिसे अंतर्राष्ट्रीय पृथ्वी परिक्रमण और संदर्भ सिस्टम सेवा (आईआईएस) द्वारा एक तारकीय दिन भी कहा जाता है, औसत सौर समय (यूटी1) 86,164.0989091 सेकंड, या 23 घण्टे 56 मिनट और 4.098909191986 सेकेंड का होता है। वातावरण और निचली कक्षाओं के उपग्रहों के भीतर उल्काओं के अलावा, पृथ्वी के आकाश में आकाशीय निकायों का मुख्य गति पश्चिम की ओर 15 डिग्री/ घंटे = 15 '/ मिनट की दर से होती है। पृथ्वी अपनी कक्षा में 1675 किमी/घंटा की गति से चक्कर लगता है।

पृथ्वी बाह्य अंतरिक्ष, में सूर्य और चंद्रमा समेत अन्य वस्तुओं के साथ क्रिया करता है वर्तमान में, पृथ्वी मोटे तौर पर अपनी धुरी का करीब ३६६.२६ बार चक्कर काटती है यह समय की लंबाई एक नाक्षत्र वर्ष (sidereal year) है जो ३६५.२६ सौर दिवस के बराबर है पृथ्वी की घूर्णन की धुरी इसके कक्षीय समतल (orbital plane) से लम्बवत (perpendicular) २३.४ की दूरी पर झुका है जो एक उष्णकटिबंधीय वर्ष (tropical year) (३६५.२४ सौर दिनों में) की अवधी में ग्रह की सतह पर मौसमी विविधता पैदा करता है।

पृथ्वी का एकमात्र प्राकृतिक उपग्रह चंद्रमा (natural satellite) है, जिसने इसकी परिक्रमा ४.५३ बिलियन साल पहले शुरू की। यह अपनी आकर्षण शक्ति द्वारा समुद्री ज्वार पैदा करता है, धुरिय झुकाव को स्थिर रखता है और धीरे-धीरे पृथ्वी के घूर्णन को धीमा करता है।

कोपरनिकस का भू-भ्रमण सिद्धान्त

पाश्चात्य (आधुनिक) मत में यह सर्वविदित है कि पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा करती है यह सिद्धान्त अथवा भू-भ्रमण सिद्धान्त सर्वप्रथम कोपरनिकस द्वारा दिया गया था। जबकि यह सत्य नहीं

है। आपने पूर्व में ही यह अध्ययन कर लिया है कि भू-भ्रमण का सिद्धान्त आर्यभट्ट ने तीसरी-चौथी शताब्दी में ही अपने ग्रन्थ 'आर्यभट्टीयम्' में प्रतिपादित कर दिया था। अर्थात् कोपरनिकस से लगभग 1000 वर्ष पूर्व ही यह भू-भ्रमण का सिद्धान्त भारतवर्ष में आर्यभट्ट द्वारा प्रतिपादित किया जा चुका था।

यूरोप का एक देश पोलैण्ड में जन्में **निकोलस कोपरनिकस** (19 फ़रवरी 1473 – 24 मई 1543) पोलिश खगोलशास्त्री व गणितज्ञ थे। पाश्चात्य दृष्टिकोण से उन्होंने यह क्रांतिकारी सूत्र दिया था कि पृथ्वी अंतरिक्ष के केन्द्र में नहीं है।

निकोलस पहले यूरोपिय खगोलशास्त्री थे जिन्होंने पृथ्वी को ब्रह्माण्ड के केन्द्र से बाहर माना, यानी हीलियोसेंट्रिज्म मॉडल को लागू किया। इसके पहले पूरा युरोप अरस्तू की अवधारणा पर विश्वास करता था, जिसमें पृथ्वी ब्रह्माण्ड का केन्द्र थी और सूर्ये, तारे तथा दूसरे पिंड उसके चारों ओर चक्कर लगाते थे।

1530 में कोपरनिकस की किताब डी रिवोलूशन्स (De Revolutionibus) प्रकाशित हुई जिसमें उसने बताया कि पृथ्वी अपने अक्ष पर घूमती हुई एक दिन में चक्कर पूरा करती है और एक साल में सूर्य का चक्कर पूरा करती है। कोपरनिकस ने तारों की स्थिति ज्ञात करने के लिए प्रूटेनिक टेबिल्स की रचना की जो अन्य खगोलविदों के बीच काफी लोकप्रिय हुई।

कोपरनिकस के अन्तरिक्ष के बारे में सात नियम, जो उनकी किताब में दर्ज हैं, इस प्रकार हैं : -

- सभी खगोलीय पिंड किसी एक निश्चित केन्द्र के परितः नहीं हैं
- पृथ्वी का केन्द्र ब्रह्माण्ड का केन्द्र नहीं है; वह केवल गुरुत्व व चंद्रमा का केन्द्र है
- सभी गोले (आकाशीय पिंड) सूर्य के परितः चक्कर लगाते हैं। इस प्रकार सूर्य ही ब्रह्माण्ड का केन्द्र है
- पृथ्वी की सूर्य से दूरी, पृथ्वी की आकाश की सीमा से दूरी की तुलना में बहुत कम है
- आकाश में हम जो भी गतियां देखते हैं वह दरअसल पृथ्वी की गति के कारण होता है। (आंशिक रूप से सत्य)
- जो भी हम सूर्य की गति देखते हैं, वह दरअसल पृथ्वी की गति होती है
- जो भी ग्रहों की गति हमें दिखाई देती है, उसके पीछे भी पृथ्वी की गति ही जिम्मेदार होती है

बोध प्रश्न : -

1. ज्योतिष के अनुसार भू-भ्रमण का सिद्धान्त का प्रतिपादन किसने किया था।

   क. वराहमिहिर ने ख. कोपरनिकस ने ग. आर्यभट्ट ने घ. केप्लर ने

2. 'भू' का शाब्दिक अर्थ होता है –

   क. धरा ख. पृथ्वी ग. मही घ. उपर्युक्त सभी

3. आर्यभट्टीयम् किसकी रचना है।

   क. वराहमिहिर की ख. आर्यभट की ग. भास्कर घ. गणेश

4. पाश्चात्य मत में भू-भ्रमण का सिद्धान्त किसने बताया।

   क. कोपरनिकस ने ख. कोलब्रुक ने ग. टैकोब्राहे घ. केप्लर

5. कोपरनिकस का जन्म किस देश में हुआ था।

   क. पोलेण्ड ख. हालैण्ड ग. अमेरिका घ. इटली

6. पुराणों के अनुसार पृथ्वी का धर्ता कौन है।

   क. शेषनाग ख. विष्णु ग. शिव घ.गणेश

7. आर्यभट्ट का जन्म कहाँ हुआ था।

   क. पाटलिपुत्र ख. दरभंगा ग. गया घ. राँची

१.५ सारांश

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आपने जान लिया है कि भू-भ्रमण सिद्धान्त ज्योतिष का एक महत्वपूर्ण एवं रोचक विषय है। भू-भ्रमण का शाब्दिक अर्थ है- भू अर्थात् पृथ्वी तथा उसका भ्रमण मतलब घूमना। इस प्रकार भूभ्रमण का अर्थ है- पृथ्वी का घूमना। पृथ्वी के घूमने के सम्बन्ध में हम यदि अध्ययन करते हैं तो यह मालूम होता है कि प्राच्य-पाश्चात्य दृष्टिकोण से इसमें मत-मतान्तर रहा है। प्राच्य जगत् (ज्योतिष जगत्) पृथ्वी को स्वशक्ति से निराधार आकाश में स्थिर मानता है। जबकि आधुनिक विज्ञान पृथ्वी को चलायमान मानता है। उनके अनुसार पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा करती है। उसकी घूर्णन गति होती है, और वह अपने अक्ष पर निरन्तर भ्रमण करते रहती है। ज्योतिष शास्त्र के अनुसार भू-भ्रमण का सिद्धान्त सर्वप्रथम आर्यभट ने बतलाया था। पाश्चात्य मत में कोपरनिकस के अनुसार भू-भ्रमण का प्रतिपादक बतलाया जाता है। प्राच्य-पाश्चात्य दृष्टि से इनमें मत-मतान्तर परिलक्षित होते हैं।

१.६ पारिभाषिक शब्दावली

भू – पृथ्वी

भ्रमण - घूमना

अनुलोम – उल्टा

अचल – जो चलता नहीं अर्थात् स्थिर

प्राच्य – प्राचीन या पुरातन

पाश्चात्य – पश्चिम या विदेशी

भानि – नक्षत्राणि

१.७ बोध प्रश्नों के उत्तर

1. ग
2. घ
3. ख
4. क
5. क
6. क
7. क

१.८ सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. सिद्धान्तशिरोमणि – मूल लेखक – भास्कराचार्य:, टिका – पं. सत्यदेव शर्मा

2. पंचसिद्धान्तिका – मूल लेखक – वराहमिहिर

3. आर्यभट्टीयम् – मूल लेखक – आर्यभट्ट, टिका – रामनिवास राय।

4. गोल परिभाषा – डॉ. कमलाकान्त पाण्डेय

१.९ सहायक पाठ्यसामग्री

1. सिद्धान्तशिरोमणि

2. सूर्यसिद्धान्त

3. सिद्धान्ततत्वविवेक

4. पंचसिद्धान्तिका

१.१० निबन्धात्मक प्रश्न

1. भू-भ्रमण से क्या तात्पर्य है? स्पष्ट कीजिये।
2. आर्यभट्टीयम् के अनुसार भू-भ्रमण का प्रतिपादन कीजिये।
3. पृथ्वी का परिचय दीजिये।
4. भू के भौतिक एवं रासायनिक स्वरूप का वर्णन कीजिये।
5. आधुनिक मतानुसार भू-भ्रमण का उल्लेख कीजिये।
6. कोपरनिकस के मुख्य सिद्धान्त का प्रतिपादन कीजिये।

इकाई - २ भू - आकर्षण सिद्धान्त

इकाई की संरचना

२.१ प्रस्तावना

२.२ उद्देश्य

२.३ भू-आकर्षण सिद्धान्त परिचय

२.३.१ भू आकर्षण क्या है।

२.३.२ भास्करीय आकर्षण सिद्धान्त का आविष्कार

२.३.३ वर्तमान में प्रचलित गुरुत्वाकर्षण या आकर्षण सिद्धान्त

२.४ आकर्षण सिद्धान्त का सत्यापन

२.४.१ केप्लर के नियम

२.४.२ न्यूटन के गति का नियम

२.५ सारांश

२.६ पारिभाषिक शब्दावली

२.७ बोध प्रश्नों के उत्तर

२.८ सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

२.९ सहायक पाठ्यसामग्री

२.१० निबन्धात्मक प्रश्न

२.१ प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई एमएजेवाई- 203 के तृतीय खण्ड की प्रथम इकाई से सम्बन्धित है। इस इकाई का शीर्षक है – भू-आकर्षण सिद्धान्त। इसके पूर्व में आपने भू-भ्रमण के सिद्धान्त का अध्ययन कर लिया है। अब आप ज्योतिष के प्रमुख सैद्धान्तिक पक्षों के क्रम में ही भू-आकर्षण सिद्धान्त से अवगत होने जा रहे है।

भू-आकर्षण सिद्धान्त का अर्थ है- पृथ्वी का गुरुत्वाकर्षण शक्ति। इसके सन्दर्भ में प्राचीन एवं अर्वाचीन मत में मतान्तर भी हमें दिखलाई पड़ते है। सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से यह विषय भी बड़ा ही रोचक एवं महत्वपूर्ण है।

अत: आइए इस इकाई में हम सभी भू-आकर्षण सिद्धान्त के गणितीय एवं उसका सैद्धान्तिक पक्ष का विस्तार से अध्ययन करते हैं।

२.२ उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप जान लेंगे कि –

- भू-आकर्षण सिद्धान्त की परिभाषा क्या है।
- सिद्धान्त ज्योतिष में भू-आकर्षण सिद्धान्त क्या है।
- भू-आकर्षण का अर्वाचीन मत क्या है।
- सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से भू-आकर्षण सिद्धान्त क्या है।
- भू-आकर्षण सिद्धान्त का महत्व क्या है।

२.३ भू-आकर्षण सिद्धान्त

भू-आकर्षण का अर्थ है – गुरुत्वाकर्षण। ज्योतिष शास्त्र के अनुसार चौदहवीं शताब्दी में सर्वप्रथम आचार्य भास्कराचार्य जी ने पृथ्वी में आकर्षण शक्ति अथवा गुरुत्वाकर्षण शक्ति की बात अपने ग्रन्थ सिद्धान्तशिरोमणि में प्रतिपादित किया था, जबकि वर्तमान में इसका श्रेय पाश्चात्य चिन्तक आइजक न्यूटन को दिया जाता है। पाठकों को यह समझ लेना चाहिए कि दोनों के

कालखण्ड में भी ५०० से ६०० वर्षों से अधिक का अन्तर है। ऐसा क्यों हुआ? यह विचारणीय है। जब प्राचीन सिद्धान्तों का अनवरत् संचालन या परिष्कार नहीं किया जायेगा तो यह समस्या उत्पन्न होगी ही। नवीनता में प्राचीनता छूटते जायेगा तो भी परिणाम यही होगा। हम मूल से कटते चले जायेंगे तो भी यही होगा।

अत: हमें अपने प्राचीन धरोहर की रक्षा करनी होगी। साथ ही प्राचीन सिद्धान्तों का भी अध्ययन करना होगा। उसमें सतत् परिष्कार भी करते रहना होगा।

२.३.१ भू-आकर्षण क्या है?

भू-आकर्षण से तात्पर्य है – पृथ्वी का आकर्षण शक्ति। इसी आकर्षण शक्ति के आधार पर जब हम कोई वस्तु पृथ्वी से उपर आकाश की ओर फेंकते हैं, तो पृथ्वी उसे अपनी ओर आकृष्ट (खींचती) करती है। अर्थात् ऊपर जाती वह वस्तु पृथ्वी पर वापस गिरने लगती है। इसी आकर्षण शक्ति का नाम आज की भाषा में '**गुरुत्वाकर्षण**' सिद्धान्त है।

पृथ्वी-

जिस पर हम रहते हैं, किस आकार की है, इस विषय में प्राचीनकाल में दो मत प्रचलित थे। धार्मिक ग्रन्थों में इसे गोला तो माना गया था, किन्तु थाली के समान। ज्योतिषियों ने अनेक युक्तियों के साथ यह सिद्ध किया कि पृथ्वी गेंद के समान गोल है और इसी गेंद के समान गोलेपन के कारण पृथ्वी के पृष्ठ पर से ग्रहों की गतियों का आकलन सम्भव हो सका। धार्मिक ग्रन्थों में यह भी कहा गया था कि पृथ्वी कुछ ठोस पदार्थों पर रुकी हुई है। ज्योतिषियों ने इसको निराधार, इस आधार पर सिद्ध किया कि नक्षत्र चक्र पृथ्वी के चारों ओर निर्बाध घूमता है। इसलिए इसका कोई आधार नहीं हो सकता। गेंद के समान गोले होने में यह प्रमाण दिया गया कि जैसे जैसे मनुष्य उत्तर की ओर चलता है वैसे वैसे नक्षत्र मण्डल को अपने खमध्य या शिरोबिन्दु से नत देखता है, इसलिए पृथ्वी गेंद के समान गोल है।

भास्कराचार्य ने लिखा है:-

भपंजरस्य भ्रमणावलोकनादाधारशून्या कुरिति प्रतीतिः।

(सि. शि. गो. 7)

उदग्दिशं याति यथा यथानरस्तथा तथा खान्नतमृक्षमण्डलम्।
उदग्ध्रुवं पश्यति चोन्नतं क्षितेस्तदन्तरे योजनजाः पलांशकाः।।

(सि. शि. गो. 49)

अर्थात् नक्षत्र-मण्डल का घूमना देखने से पृथ्वी का कोई आधार नहीं, ऐसा प्रतीत होता है। जैसे जैसे मनुष्य उत्तर दिशा में जाता है तैसे तैसे नक्षत्र-मण्डल को खमध्य से नत देखता है, और उत्तरी ध्रुवतारे को उन्नत देखता है। इसलिए निरक्ष प्रदेश और अपने प्रदेश का जो योजनात्मक अन्तर होता है वह योजनात्मक अक्षांश हुआ। इसी योजनात्मक अक्षांश के द्वारा पृथ्वी की परिधि का भी मान लाया गया है। क्योंकि अपने स्थान की ध्रुवतारे की ऊंचाई का कोणात्मक मान अक्षांश ही है, इसलिए अनुपात के द्वारा पृथ्वी की परिधि का मान इस प्रकार होगा। अक्षांश के अंशों में यदि योजनात्मक अक्षांश मिलता है तो 360 में क्या=भू परिधि प्रमाण। इस प्रकार भूपरिधि का मान तथा उसका व्यासार्ध साधन कर ग्रहों की गतियों और उनकी दूरियों का मान रेखागणित की युक्ति से लाया गया था।

एक दूसरी बात पृथ्वी के सम्बन्ध में प्राचीन लोगों ने स्थिर की, वह है पृथ्वी का ब्रह्मण्ड के केन्द्र में होना। यह बात भी भौतिक विज्ञान के आधार पर सिद्ध की गई थी। हम देखते हैं कि पृथ्वी के ऊपर फेंके गये सभी गुरु पिण्ड पृथ्वी के केन्द्र की ओर खींच आते हैं और सुदूर प्रदेश में विद्यमान ग्रह नक्षत्र इसके चारों ओर घूमते रहते हैं, इससे यह निष्कर्ष निकाला गया कि पृथ्वी का पिण्ड सभी आकशीय पिण्डों से भारी है। भास्कराचार्य ने लिखा है किः- 'खस्थं न दृष्टं हि गुरु क्षमताः' अर्थात् कोई भी आकाशीय पिण्ड पृथ्वी से भारी नहीं है। बौद्धों ने इसी तर्क के आधार पर यह सिद्ध किया कि पृथ्वी यदि आकाशीय पिण्डों में सबसे भारी है तो नीचे की ओर धँसती जायेगी, किन्तु ज्योतिषयों ने इस तर्क का खण्डन कर दिया तथा पृथ्वी को ब्रह्मण्ड के केन्द्र में स्वीकार किया। पृथ्वी की यह स्थिति ईश्वर-प्रदत्त उसकी नियन्त्रक शक्ति के कारण है ऐसा प्राचीन भारतीय ज्योतिषयों का विश्वास था। यूनानियों ने पृथ्वी पर से आकाश में फेंके गये पिण्ड का पृथ्वी पर गिरने का कारण पृथ्वी में विद्यमान आकर्षण शक्ति नहीं किन्तु सजातीय पिण्ड का सजातीय पिण्ड की ओर झुकावही है ऐसा माना था। आकर्षण के सम्बन्ध मेंर सर्वप्रथम न्यूटन ने पृथ्वी में आकर्षण-सिद्धान्त को स्वीकार किया जो भारतीय सिद्धान्त का अनुकरण है।

अब प्रश्न उठता है कि आकाशीय पिण्डों में दो प्रकार की गति दृष्टिगोचर होती है। एक प्रतिदिन पूर्व से पश्चिम की गति और दूसरी पश्चिम से पूर्व की ओर। इसका कारण क्या है ? इसके लिए दूसरी ईश्वी पूर्व शताब्दी (वी-सी) में हिपार्कस नामक यूनानी ज्योतिषी तथा पाँचवीं ईश्वी शती में भारतीय ज्योतिषी आर्यभट ने यह बताया कि पृथ्वी 24 घंटों या अहोरात्र में अपनी घूरी पर पश्चिम से पूर्व की ओर घूम जाती है जिससे सभी नक्षत्र और ग्रह पूर्व से पश्चिम की ओर जाते दीख पड़ते हैं, किन्तु ग्रह अपनी गति से आकाश में पश्चिम से पूर्व की ओर चलते हैं, परन्तु यह कथन पृथ्वी को अचल मानने

वाले पुराणों और बायबिल आदि धर्म ग्रन्थों की उक्ति से मेल नहीं रखता। इसीलिए लोगों ने इसके लिए एक नई कल्पना यह प्रस्तुत की कि आकाश में एक प्रवह नामक वायु है जिसके द्वारा सभी ग्रह नक्षत्रों का 24 घंटों में पूर्व से पश्चिम की ओर एक चक्कर लग जाता है। किन्तु ग्रह अपनी गति से पश्चिम से पूर्व की ओर चलते हैं। आर्कमिटिज, अपोलोनियस, लल्ल, वराहमिहिर, टालमी आदि ने पृथ्वी के अपनी घूरी में घूमने में कुछ आपत्तियाँ प्रस्तुत की हैं। यदि पृथ्वी घूमती है तो पक्षी अपना घोंसला कैसे पायेंगे। क्योंकि यदि वे 5 पाँच मिनट तक आकाश में उड़ते रहे तो पृथ्वी के चलने से उनका घोंसला 85 मील पूरब चला जायेगा। इसी प्रकार बादल आकाश में सदा पश्चिम की ओर जाते दिखाई पड़ेंगे। इन प्रश्नों का उत्तर 16वीं शताब्दी में कोपननिकस ने यह दिया कि पृथ्वी की केन्द्रीय आकर्षण शक्ति ऊपर की वस्तु को अपने साथ खींचती जायेगी, इसलिए उसे अपना घोंसला पाने में कोई कठिनाई नहीं होगी। 290 ई. पू. अरिष्टार्कस और 15वीं शताब्दी में कोपरनिकस ने पृथ्वी में दो गतियाँ मानी। एक तो अपने अक्ष के ऊपर पश्चिम से पूर्व की ओर ध्रुवयष्टि के चारों ओर दैनिक गति और दूसरी वर्ष में सूर्य के चारों ओर घूमने वाली वार्षिक गति। इस प्रकार पृथ्वी की त्रिविध गति हुई, किन्तु आज का विज्ञान पृथ्वी में दैनिक और वार्षिक दोनों गति मानता है।

नारवे निवासी टाइकोब्राहे ने कोपरनिकस की कल्पना को अन्यथा रूप देकर पृथ्वी को स्थिर माना क्योंकि कोपरनिकस ने नक्षत्रों के वार्षिक लम्वन के द्वारा पृथ्वी की वार्षिक गति सिद्ध करने का प्रयास किया था। इसका तात्पर्य यह है कि किसी तारे का नवांश किसी नियत समय पर आज वेध कर लीजिए और उसके 6 महीने के बाद उसी समय पर उसी तारे का दूसरा वेध कीजिए तो दोनों नतांशों में कुछ अन्तर उपलब्ध होगा, क्योंकि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमने वाली अपनी कक्षा में पहले स्थान से दूसरे स्थान पर पृथ्वी और सूर्य की दूरी के दूने दूरी पर होगी। इसलिए प्रथम स्थान से तारे का जो नतांश उपलब्ध हुआ था दूसरे स्थान से उससे छोटा या बड़ा दिखाई पड़ेगा। इन दोनों नतांशों के अन्तर को नक्षत्र का वार्षिक लम्बर कहते हैं; किन्तु वेध कुशल टाइकोब्राहे ने अपने वेध से किसी तारे में लम्बर नहीं पाया, इसलिए उसने यह मत व्यक्त किया कि पृथ्वी स्थिर है, किन्तु सूर्य अपने चारों ओर बुध-शुक्र-शनि-मंगल और गुरु को घुमाते हुए पृथ्वी के चारों ओर साल भर में घूम आता है। म. म. पं. सुधाकर द्विवेदी ने भी धराभ्रम नामक अपने ग्रन्थ में टाइकोब्राहे के मत को ही माना है, किन्तु न्यूटन के बड़े पिण्ड में बड़ी आकर्षण शक्ति और छोटे पिण्ड में छोटी आकर्षण शक्ति के नियमानुसार सूर्य का पृथ्वी के चारों ओर घूमना सिद्ध नहीं होता। यों भी सूर्य के चारों ओर ग्रहों का घूमना मानने पर

टाइकोब्राहे का मत सिद्ध नहीं होता। क्योंकि सूर्य से दूरी के क्रम से पृथ्वी मंगल शनि आदि और सूर्य के मध्य में ही पड़ जाती है।

२.३.२ भास्करीय आकर्षण सिद्धान्त का आविष्कार

हम देखते है कि डाली से अलग हुआ फल सीधी रेखा में भूतल पर आ गिरता है। वाण भी वेग के अभाव में भूतल पर ही आ जाता है। ये सभी पदार्थ पृथ्वी पर ही क्यों गिरते हैं। कौन सी वस्तु इन्हें गिराती है। इस प्रश्न का उत्तर यही है कि पृथ्वी उन्हें अपनी ओर खींचती है। पृथ्वी में विद्यमान आकर्षण शक्ति ही उन वस्तुओं को भूतल पर गिराती है। प्राचीन भारतीय आचार्य भी यह तथ्य इस भाषा में व्यक्त करते थे कि सम्पूर्ण आकाशीय पिण्ड ब्रह्मण्ड के केन्द्र की ओर आकृष्ट हो रहे हैं। वह केन्द्र पृथ्वी का ही मध्य बिन्दु है। और इस घटना का कारण पृथ्वी में विद्यमान आकर्षण शक्ति को ही मानते थे। **भास्कराचार्य का आकर्षण सिद्धान्त –**

आकृष्टिशक्तिश्च मही तया यत् खस्थं गुरु स्वाभिमुखं स्वशक्त्या।
आकृष्यते तत्पततीव भाति समे समन्तात् क्व पतत्वियं खे।।

अर्थात् पृथ्वी में अपनी आकर्षण शक्ति के कारण, आकाश में स्थित भारी पदार्थ पृथ्वी की और स्वशक्ति से आकर्षित होकर उस पर गिरते हुए दिखाई देते हैं। लेकिन यह पृथ्वी चारों ओर से आकाश से घिरी हुई होने के कारण कहाँ पर गिरेगी? अर्थात् यह अपने ही स्थान पर स्थित है, अपने विचित्र स्वाभाविक गुण के कारण। अत: पृथ्वी की इस आकर्षण शक्ति से भूमि का अधपतन और आकाश के नीचे स्थिति से नीचे गिरने की शंका निराधार है।

एक और भी अर्थ हो सकता है कि पृथ्वी में आकर्षण शक्ति हैं जिससे आकाश में स्थित गुरु (भारी) पदार्थ उसके द्वारा खीचे जाने पर गिरता सा प्रतीत होता है। चारों ओर से सम आकाश में पृथ्वी कहाँ गिरेगी। किन्तु गुरु पदार्थो के आकर्षण का गणितीय स्वरूप क्या है। इसकी ओर उनका ध्यान नहीं गया। इसके लिये संसार को न्यूटन के उद्भव की प्रतीक्षा करनी पड़ी। जिसने आकर्षण के गणितीय स्वरूप का पता लगाकर ब्रह्मण्ड के रहस्य को भी संसार के सामने प्रकट किया।

बहुत दिनों तक यह समझा जाता था कि पृथ्वी एक विलक्षण वस्तु है। गुरुत्व या भार केवल पार्थिव प्रकृति का ही हग्विषय है। जो आकाशीय पिंडों के लिये अकिंचित कर है। किन्तु कोपरनिक और उनके अनुयायी केप्लर के आविष्कारों ने यह सिद्ध किया कि पृथ्वी एक सामान्य ग्रह है; जो अन्य ग्रहों के साथ ही सूर्य की परिक्रमा करती है। यह भी अन्य आकाशीय पिण्डों की भाँति ही एक आकाशीय पिंड है। इस सम्बन्ध में यह भी प्रमाणित हो गया कि आकर्षण एक व्यापक पदार्थ है, जो

केवल पृथ्वी में ही नहीं है किन्तु सभी आकाशीय पिण्डों में है। तब यदि पृथ्वी के पार्श्ववत्तों पिण्ड भूकेन्द्र की ओर उन्मुख होते हैं; तो चन्द्रमा पर या अन्य किसी भी आकाशीय पिण्ड के ऊपर के सभी पिण्ड उनके अपने केन्द्र की ओर अवश्य ही उन्मुख होंगे। दूसरे शब्दों में कहा जायेगा कि वे पदार्थ उन आकाशीय पिण्डों द्वारा आकृष्ट होते हैं।

कोपरनिकस और केप्लर ने स्पष्ट रूप से यह माना कि आकाशीय पिण्ड आकर्षणशक्ति सम्पन्न हैं। इससे दोनों ने यह भी निर्धारित किया कि यह आकर्षण सम्पत्ति आकाशीय पिण्डों को परस्पर सम्मेलन की ओर प्रवृत्त करती है।

२.३.३ वर्तमान में प्रचलित भू- आकर्षण अथवा गुरुत्वाकर्षण -

एक पदार्थ द्वारा दूसरे की ओर आकृष्ट होने की प्रवृत्ति है। इसे आंग्ल भाषा में *Gravitation* कहते है। गुरुत्वाकर्षण के बारे में पहली बार कोई गणितीय सूत्र देने की कोशिश आइजक न्यूटन द्वारा की गयी थी। उन्होंने गुरुत्वाकर्षण सिद्धांत का प्रतिपादन किया। न्यूटन के सिद्धान्त को बाद में अल्बर्ट आइंस्टाइन द्वारा सापेक्षता सिद्धांत से बदला गया। इससे पूर्व वराहमिहिर ने कहा था कि किसी प्रकार की शक्ति ही वस्तुओं को पृथ्वी पर चिपकाए रखती है।

गुरुत्वाकर्षण ब्रह्माण्ड में मौजूद चार मौलिक बलों में से एक बल है। यह अंतरिक्ष में मौजूद द्रव्यमान वाली सभी चीजों के बीच एक लंबी दूरी का आकर्षण बल है। इसकी वजह से ही चीजों को वजन प्राप्त होता है। पृथ्वी पर गुरुत्वाकर्षण निरंतर प्रति सेकंड 9.8 वर्ग मीटर (9.8 m/s2) जितना होता है। यह हमें पृथ्वी के बाहर गिरने से बचाता है और पृथ्वी को अपनी सूर्य की आसपास की कक्षा में बनाए रखता है। गुरुत्वाकर्षण की वजह से ही साढ़े चार अरब साल पहले पृथ्वी और सूरज की उत्पति हुई थी। यह आश्चर्यजनक बात है कि ब्रह्माण्ड में हर भारी वस्तु दूसरी चीजों को अपनी ओर आकर्षित करती है। इसका अर्थ यह हुआ कि हमारा घर, पृथ्वी, 25 लाख प्रकाश वर्ष दूर एंड्रोमेडा आकाशगंगा में स्थित ब्लैकहोल, यह सभी आपसे गुरुत्वीय बल से आकर्षित हैं और आप उनसे।[1]

महान वैज्ञानिक आइजेक न्यूटन ने 17वीं सदी में पता लगाया कि दो वस्तुओं के बीच की दूरी के वर्ग जितने अंतर पर गुरुत्वाकर्षण बल की ताकत घटती है, तो यदि आप किसी भी चीज से दोगुना अंतर पर होंगे, तब गुरुत्वाकर्षण एक चौथाई जितना ही मजबूत होगा। उन्होंने यह भी पता लगाया की गुरुत्वाकर्षण की शक्ति वस्तु के द्रव्यमान के अनुपात में होती है। अर्थात् पदार्थ जितना बड़ा होगा, उसका गुरुत्वाकर्षण बल उतना ही मजबूत होगा।

हम सब पृथ्वी का खिंचाव महसूस कर सकते हैं, लेकिन चन्द्रमा के खिंचाव को महसूस नहीं कर पाते, क्योंकि चन्द्रमा छोटा हैं और हम से बहुत ही दूर है। लेकिन उसका गुरुत्वाकर्षण पृथ्वी पर समुद्र में ज्वार पैदा करने के लिए सक्षम है। चंद्रमा पर गुरुत्वाकर्षण बल पृथ्वी पर मौजूद गुरुत्वाकर्षण बल से 16 प्रतिशत जितना है और मंगल ग्रह का पृथ्वी से 38 प्रतिशत जितना है, जबकि सौरमंडल के सबसे बड़े ग्रह गुरु का गुरुत्वाकर्षण बल पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण बल से 2.5 गुना है।

कोई भी वस्तु ऊपर से गिरने पर सीधी पृथ्वी की ओर आती है। ऐसा प्रतीत होता है, मानो कोई अलक्ष्य और अज्ञात शक्ति उसे पृथ्वी की ओर खींच रही है। इटली के वैज्ञानिक, गैलिलीयो गैलिलीआई ने सर्वप्रथम इस तथ्य पर प्रकाश डाला था कि कोई भी पिंड जब ऊपर से गिरता है तब वह एक नियत त्वरण से पृथ्वी की ओर आता है। त्वरण का यह मान सभी वस्तुओं के लिए एक सा रहता है। अपने इस निष्कर्ष की पुष्टि उसने प्रयोगों और गणितीय विवेचनों द्वारा की है। न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण का नियम इसके बाद सर आइज़क न्यूटन ने अपनी मौलिक खोजों के आधार पर बताया कि केवल पृथ्वी ही नहीं, अपितु विश्व का प्रत्येक कण प्रत्येक दूसरे कण को अपनी ओर आकर्षित करता रहता है। दो कणों के बीच कार्य करनेवाला आकर्षण बल उन कणों की संहतियों के गुणनफल का (प्रत्यक्ष) समानुपाती तथा उनके बीच की दूरी के वर्ग का व्युत्क्रमानुपाती होता है। कणों के बीच कार्य करनेवाले पारस्परिक आकर्षण को गुरुत्वाकर्षण (Gravitation) तथा उससे उत्पन्न बल को गुरुत्वाकर्षण बल (Force of Gravitation) कहा जाता है। न्यूटन द्वारा प्रतिपादित उपर्युक्त नियम को न्यूटन का गुरुत्वाकर्षण नियम (Law of Gravitation) कहते हैं। कभी-कभी इस नियम को "गुरुत्वाकर्षण का प्रतिलोम वर्ग नियम" (Inverse Square Law) भी कहा जाता है। उपर्युक्त नियम को सूत्र रूप में इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है: मान लिया m1 और संहति वाले m2 दो पिंड परस्पर d दूरी पर स्थित हैं। उनके बीच कार्य करनेवाले बल F का मान होगा:;

गुरुत्वाकर्षण के कारण ही ग्रह, सूर्य के चारों ओर चक्कर लगा पाते हैं और यही उन्हें रोके रखती है। गुरुत्वाकर्षण (ग्रैविटेशन) एक पदार्थ द्वारा एक दूसरे की ओर आकृष्ट होने की प्रवृति है। गुरुत्वाकर्षण के बारे में पहली बार कोई गणितीय सूत्र देने की कोशिश आइजक न्यूटन द्वारा की गयी जो आश्चर्यजनक रूप से सही था। उन्होंने गुरुत्वाकर्षण सिद्धांत का प्रतिपादन किया। न्यूटन के सिद्धान्त को बाद में अलबर्ट आइंस्टाइन द्वारा सापेक्षता सिद्धांत से बदला गया। इससे पूर्व वराह मिहिर ने कहा था कि किसी प्रकार की शक्ति ही वस्तुओं को पृथिवी पर चिपकाए रखती है। .

गुरुत्वाकर्षण के कारण ही ग्रह, सूर्य के चारों ओर चक्कर लगा पाते हैं और यही उन्हें रोके रखती है। गुरुत्वाकर्षण (ग्रैविटेशन) एक पदार्थ द्वारा एक दूसरे की ओर आकृष्ट होने की प्रवृति है। गुरुत्वाकर्षण के बारे में पहली बार कोई गणितीय सूत्र देने की कोशिश आइजक न्यूटन द्वारा की गयी जो आश्चर्यजनक रूप से सही था। उन्होंने गुरुत्वाकर्षण सिद्धांत का प्रतिपादन किया। न्यूटन के सिद्धान्त को बाद में अलबर्ट आइंस्टाइन द्वारा सापेक्षता सिद्धांत से बदला गया। इससे पूर्व वराह मिहिर ने कहा था कि किसी प्रकार की शक्ति ही वस्तुओं को पृथिवी पर चिपकाए रखती है। . कोई भी वस्तु ऊपर से गिरने पर सीधी पृथ्वी की ओर आती है। ऐसा प्रतीत होता है, मानो कोई अलक्ष्य और अज्ञात शक्ति उसे पृथ्वी की ओर खींच रही है। इटली के वैज्ञानिक, गैलिलीयो गैलिलीआई ने सर्वप्रथम इस तथ्य पर प्रकाश डाला था कि कोई भी पिंड जब ऊपर से गिरता है तब वह एक नियत त्वरण से पृथ्वी की ओर आता है। त्वरण का यह मान सभी वस्तुओं के लिए एक सा रहता है। अपने इस निष्कर्ष की पुष्टि उसने प्रयोगों और गणितीय विवेचनों द्वारा की है। न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण का नियम इसके बाद सर आइज़क न्यूटन ने अपनी मौलिक खोजों के आधार पर बताया कि केवल पृथ्वी ही नहीं, अपितु विश्व का प्रत्येक कण प्रत्येक दूसरे कण को अपनी ओर आकर्षित करता रहता है। दो कणों के बीच कार्य करनेवाला आकर्षण बल उन कणों की संहतियों के गुणनफल का (प्रत्यक्ष) समानुपाती तथा उनके बीच की दूरी के वर्ग का व्युत्क्रमानुपाती होता है। कणों के बीच कार्य करनेवाले पारस्परिक आकर्षण को गुरुत्वाकर्षण (Gravitation) तथा उससे उत्पन्न बल को गुरुत्वाकर्षण बल (Force of Gravitation) कहा जाता है। न्यूटन द्वारा प्रतिपादित उपर्युक्त नियम को न्यूटन का गुरुत्वाकर्षण नियम (Law of Gravitation) कहते हैं। कभी-कभी इस नियम को "गुरुत्वाकर्षण का प्रतिलोम वर्ग नियम" (Inverse Square Law) भी कहा जाता है। उपर्युक्त नियम को सूत्र रूप में इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है: मान लिया m1 और संहति वाले m2 दो पिंड परस्पर d दूरी पर स्थित हैं। उनके बीच कार्य करनेवाले बल F का मान होगा:

उन्होंने पाया कि किसी पिंड का त्वरण पृथ्वी की ओर उसकी पृथ्वी से दूरी के वर्ग का व्युत्क्रमानुपाती होता है (inversely proportional to the square of distance between them.) यह त्वरण उस पिंड और धरती के भार के भी समानुपाती (प्रोपोर्शनल) है। जिससे हमें सार्वत्रिक गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त मिला –

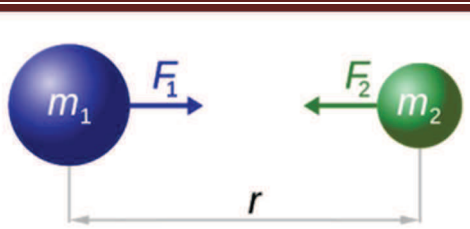

$$F_1 = F_2 = G\frac{m_1 \times m_2}{r^2}$$

F 1 गुरुत्वाकर्षण बल है, r धरती और पिंड के बीच की दूरी, m1, m2 धरती और पिंड का भार, और G सार्वत्रिक गुरुत्वाकर्षण कांस्टेंट, जिसका मूल्य 6.67*10^(-11) है।

यह मूल्य इस कानून के 71 वर्ष बाद हेनरी कैवेंडिश द्वारा ' कैवेंडिश प्रयोग' में पाया गया।

इसके बाद इस कानून का सामान्यीकरण कर दिया गया और ये बताया गया कि किसी भी दो पिंडो के मध्य गुरुत्वाकर्षण बल लगता है।

गुरुत्वाकर्षण से संबंधित महत्वपूर्ण तथ्य (Important facts related to gravitation in hindi)

1. G का मूल्य पूरे ब्रह्मांड में समान है। यह दूसरे आकाशीय पिंडों के लिए भी नहीं बदलता। इसी कारण इसे सार्वत्रिक कहा गया है।
2. पृथ्वी के ओर लगने वाले त्वरण को 'g' से संबोधित करते हैं, और इसका मूल्य 9.8 m/s^2 है। यह पृथ्वी के मध्य की ओर केंद्रित है।
3. g को धरती की सतह के आस-पास समान माना जाता है।
4. परंतु यदि सतह से काफी ऊपर या नीचे जाएँ, तब g का मूल्य 9.8 से थोड़ा घट जाता है।
5. गुरुत्वाकर्षण एक कमज़ोर बल (weak force) है। दुनिया मे चार तरह के बलों को पहचाना गया है, जिनमें गुरुत्वाकर्षण सबसे कमजोर है।
6. गुरुत्वाकर्षण दीर्घ रेंज का बल है। यानी इसका असर लंबी दूरियों तक होता है।
7. सारे ग्रह और उपग्रह धरती और सूर्य के चारो ओर गुरुत्वाकर्षण के कारण ही घूम पाते हैं।

केप्लर ने अपने ग्रन्थ में लिखा है किः-

''आकर्षण दो सजातीय पदार्थो का वह पारस्परिक खिंचाव है जो उन्हें मिलने की ओर प्रवृत्त करता है। न केवल छोटे पदार्थ किन्तु गुरुतर पिण्ड भी जिनमें पृथ्वी भी है, इसकी ओर अपनी विशेषताओं के कारण सदा जाने के लिए प्रवृत्त होते हैं। यदि दो पत्थर ब्रह्मण्ड के किसी प्रदेश में एक दूसरे के पास ही अलग-अलग फेंक दिये जायें; जो किसी उनसे सम्बद्ध तीसरे पिण्ड के आकर्षण क्षेत्र के बाहर हो तो वे दोनों पत्थर चुम्बक की भाँति एक दूसरे के पास आ जायेंगे।'' अब आकाशीय पिण्डों के इस विशिष्ट आकर्षण के कारण उनके आन्तरिक क्रियाशीलता का प्रश्न उपस्थित होना स्वाभाविक था।

आकर्षण की इस विशेषता से कोपरनिकस के द्वारा आविष्कृत सौर परिवार की संरचना, यह दिखलाती है कि सूर्य सौर परिवार के सदस्यों की संस्था के केन्द्र में है और वह उनकी गति के लिये एक नियत अभिनय का सूत्रधार है। यह मानते हुए कि सूर्य और ग्रह सभी आकर्षण शक्ति वाले हैं, कोपरनिकस ने ग्रहों के ऊपर सूर्य के प्रभाव की सत्यता को स्वीकृत किया। ग्रहगति के विषय में सूर्याकर्षण की नियत क्रियाशीलता केप्लर के तीनों नियमों में स्पष्ट रूप से व्यक्त हुई थी। केप्लर स्वयं यह विश्वास करते थे कि ग्रहों की गति सूर्य के द्वारा नियन्त्रित होती है। उन्होंने आकर्षण के सम्बन्ध में साधिकार स्पष्ट घोषण की थी किः-

''आकाश स्थित दो पिण्ड एक दूसरे की ओर चुम्बक की भाँति प्रवृत्त होते हैं।'' केप्लर के अनुसार ग्रहगति के लिये आकर्षण अत्यन्त महत्वपूर्ण रहा है तथा यह ग्रहों को सूर्य की ओर ले जाता है। किन्तु केप्लर का दृष्टिकोण इस प्रश्न के विषय में पूर्णतया तथ्य नहीं था। क्योंकि वे मानते थे कि सूर्य ग्रहों को चुम्बक की तरह खींचता है और इसी कारण उन्हें अपने चारों ओर घुमाता है।

गेलेलियो के सिद्धान्तः-

केप्लर के बाद ''ग्रहों के पारस्परिक आकर्षण तथा गति से सम्बन्धित धारणाओं का विकास यान्त्रिक सिद्धान्तों के आविष्कारों पर निर्भर है।'' विज्ञान गेलिलियो के इन अनुसन्धानों का ऋणी है। जिनसे कि पार्थिव पिण्डों की गति से सम्बन्धित दो हजार वर्ष की प्राचीन भ्रान्त धारणाओं को परिवर्तित कर दिया और यान्त्रिक सिद्धान्तों का शिलान्यास किया जो आज भी व्यवहृत हो रहे हैं।

गेलिलियो से पहले यह धारणा प्रधान थी कि कोई भी पिण्ड उतना ही गतिशील हो सकता है जितना कि उस पर बल का प्रयोग होगा और बल प्रयोग के अभाव में पिण्ड स्थिर रहेंगे। ये धारणायें हमारे जीवन के दैनिक घटनाओं में ऐसी सत्य सी प्रतीत हो रही है कि बहुत दिनों तक इनके विषय में

कोई शंकर ही नहीं उठ सकी। यह गेलेलियो की ही बुद्धिमत्ता है कि उसने सर्वप्रथम इन्हें भ्रान्त दिखलाया।

गेलिलियो ने ही आकर्षाण् की व्यापकता को सिद्ध किया। उसके अनुसार किसी भी पिण्ड के चारों ओर आकर्षण का व्यापार वैसे ही होता है जैसे प्रकाश प्रकाशक वस्तु के चतुर्दिक फैलता है। किन्तु बड़े पिण्ड में ही बड़ी आकर्षण शक्ति होने के कारण छोटे पिण्ड के आकर्षण का प्रभाव उस पर नहीं के बराबर होता है। फलतः भूपिण्ड के ऊपर पार्थिव पिण्डों के आकर्षण प्रभावहीन होते हैं। गेलिलियो ने एक चिकने लम्बे पटरे को ऊँची दीवाल पर झुकाकर उस पर एक चिकने धातु के गोले को ऊपर से नीचे तथा नीचे से ऊपर लुढ़का कर प्रति सेकेण्ड उसकी गतिवृद्धि और गतिह्रास जानने के लिये अनेक प्रयोग किया। तब यदि गोले को ऊपर की ओर लुढ़काया जाता तो वह धीरे-धीरे स्थिर होकर प्रतिक्षण वर्धनशील वेग से नीचे की ओर गिरना आरम्भ करता। यदि पटरे का झुकाव कम कर दिया जाता तो गोला अपनी ऊर्ध्वगति में कम विलम्ब करता था और नीचे गिरने में उसकी वेग वृद्धि कम होती थी, और यदि पटरे को ठीक क्षैतिज स्थिति में रखा जाता तब न तो स्थिर होता और न उसके वेग में वृद्धि ही होती। किन्तु बहुत देर तक वह समान गति से आगे बढ़ता चलता रहता। इससे गेलेलियो के ही शब्दों से यह तथ्य अवगत हुआ कि यदि कोई पिण्ड क्षैतिज स्थिति में गतिशील हो तो वह समान गति से बिना किसी रुकावट के बढ़ता जायेगा। यह गति समान तथा बिना समाप्ति के निरन्त होगी, यदि समतल अपने अवकाश में निरन्त बढ़ता जाय।

यद्यपि क्षैतिज धरातल पर इस प्रकार का प्रयोग असम्भव है क्योंकि गोला, पटरे के घर्षण और पृथ्वी के आकर्षण के कारण स्थिर हो ही जायेगा। गेलेलियो ने यह जानकर भी उपर्युक्त मत का प्रतिपादन किया, यह उनकी उत्कट बुद्धिशीलता का परिचायक है। आगे चलकर न्यूटर ने इसी सिद्धान्त का अनुसरण कर केप्लर के द्वितीय नियम की उपपत्ति कैसे प्रस्तुत की यह आगे बताया जायेगा। न्यूटन ने भी अपने गति सम्बन्धी नियम में इसी तथ्य को स्वीकार किया है। उसके अनुसार यदि पिण्ड पर किसी अन्य बल का प्रभाव न हो तो वह समान गति से सरल रेखा में गतिशील होगा। किसी बल प्रयोग के अभाव में पिण्ड का समान गति से सरल रेखा में गमन आरम्भिक गति के नाम से प्रसिद्ध है।

गेलिलियो का अनुसन्धान ग्रहगति के कारण पर पूर्णतया एक भिन्न दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। केप्लर ने ग्रहगति की उपपत्ति के लिए एक संघट्टक (धक्का देने वाले) बल की कल्पना की थी। वह अब अनावश्यक हो गयी थी, क्योंकि ग्रह इसके बिना ही केवल आरम्भिक गति (आद्यवेग) द्वारा ही गतिशील होता था। ग्रह के ऊपर प्रयुक्त बल केवल उसकी गति की विशेषताओं को ही बतला सकता

है। उनकी गतिक्रिया की उपपत्ति के लिये वह तथ्य वास्तविक कारण नहीं हो सकता। किन्तु इनर्शिया का सिद्धान्त ही ग्रहगति और आकर्षण के स्थिर सम्बन्ध को स्पष्ट रूप से बतलाने के लिये सम्भव हो सका।

पहले बताये गये चिकने पटरे और गोले के प्रयोग में उसने यह सिद्ध किया था कि ऊपर से लुढ़कता हुआ गेंदा प्रति सेकेण्ड आरम्भ स्थान से जितनी दूरी तय करता है वे 1, 4, 9, 16 आदि के समानुपाती होती है। फिर पटरे के झुकाव के कोण के अनुसार गणना करके वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि लुढ़कते गेंद की भूगर्भाभिमुख लम्ब रूप दूरी आरम्भ स्थान से क्रमशः 1, 4, 9, 16 आदि गुनी होती है। अर्थात् प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ सेकण्डों में उनका मान क्रमशः 16, 64, 144, 256 फीट है।

२.४ आकर्षण नियम का सत्यापन

चन्द्रमा हमारी पृथ्वी की परिक्रमा करता है। उसकी गति के सम्बन्ध में गेलिलियों के अनुसंधान द्वारा उपलब्ध पार्थिवपिण्डों के आकर्षण के सिद्धान्त की उपादेयता को न्यूटन ने गणना के द्वारा सिद्ध किया और इस नियम से न केवल पार्थिव किन्तु अन्य खगोलीय पिण्डों की गतियों के विषय में भी एक ही नियम का प्रतिपादन किया। चन्द्रगति से सम्बन्धित न्यूटन की गणना निम्न प्रकार की है।

कल्पना करें कि नीचे दिए गए चित्र में चं व म वृताकार चन्द्रमा की कक्षा है। भू पृथ्वी उसके केन्द्र में है। चं चन्द्र बिम्ब के ऊपर पृथ्वी के आकर्षण की दिशा भूकेन्द्र की ओर है। इसे त्रैज्यिक बल कहते हैं। तथा चं चन्द्रबिम्ब की गति दिशा चं र वृत्त की स्पर्श रेखा की ओर है। इसे स्पार्शिक बल कहते हैं, अब गेलिलियों के गति विज्ञान सम्बन्धी नियम के अनुसार चन्द्र बिम्ब की गति चं. व रेखा की दिशा में होगी। मान लें कि चन्द्रमा एक सेकेण्ड में अपनी गति दिशा में चं र तुल्य चला और उसी सेकेण्ड में पृथ्वी चन्द्रबिम्ब को चं ल के तुल्य अपने केन्द्र की ओर खींच ली। तब पृथ्वी का आकर्षण प्रबल होने के कारण वेगों के समानान्तर चतुर्भुज के नियमानुसार चन्द्रमा की गति चं बिन्दु से व बिन्दु पर होगी। अर्थात् चं. ल = र व के तुल्य चन्द्रमा खींच आयेगा। जिससे चन्द्रमा की गति चं व कर्ण रेखा में होगी। यही बात प्रत्येक सेकेण्ड में होती रहेगी।

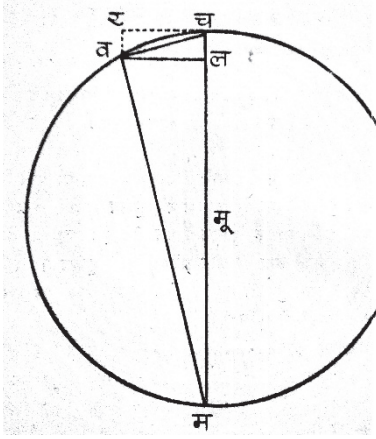

जिससे चन्द्रमा पृथ्वी के चारों ओर घूमने के लिए विवश होगा। अब हम पृथ्वी के आकर्षण चं ल का मान लाते हैं। चं ब म और चं व ल दोनों समकोण त्रिभुजों के सजातीय होने से चं ल = चं $व^{२}$ / चं म = चं. $व^{२}$ /२ त्रि, इसीलिए २ चं ल = चं $व^{२}$ / त्रि = आकर्षण = त्वरण। पहले कहा जा चुका है कि काल की लघुतम इकाई में जितना पतन होता है उससे दूना आकर्षण (त्वरण) होता है।

इस परिणाम के अनुसार भूपृष्ठ पर का भार (गुरुत्व) और चन्द्रमा की गति ये दोनों ही एक ही आकर्षण बल के कारण उत्पन्न होते हैं। वह बल जिसके द्वारा पृथ्वी सम्पूर्ण पदार्थों को अपने केन्द्र की ओरर खींचती है। भूकेन्द्र से पदार्थ की दूरी के वर्ग का विलोम रूप से समानुपाती है। इसलिये पृथ्वी का गुरुत्व वह बल है जिसके द्वारा पृथ्वी उन पिण्डों को खींचती है।

न्यूटन ने यह परिणाम केप्लर के ग्रहगति सम्बन्धी सिद्धान्तों से ही निकाला था। इसलिये पहले हम स्मरणार्थ केप्लर के सिद्धान्तों की प्रस्तुत कर उनके अनुसारी न्यूटन के गति सम्बन्धी तीनों नियमों को प्रस्तुत करेंगे। तब फिर न्यूटन के द्वारा अपने गति सिद्धान्तों के आधार पर की गयी केप्लर के तीनों नियमों की उपपत्ति भी प्रस्तुत करेंगे।

२.४.१ केप्लर के नियम

केप्लर के ये तीन नियम कहे गये हैं-

प्रथम नियम:- सभी ग्रह सूर्य के चारों ओर घूमते हुए अपने भ्रमण पथ से दीर्घ वृत्ताकार कक्षा बनाते हैं जिसकी एक नाभि में सूर्य होता है।

द्वितीय नियम:- ग्रह अपने दीर्घ वृत्ताकार कक्षा में सूर्य केन्द्र में गये अपने मन्दकणों से समान काल में समान क्षेत्रफल आक्रान्त करता है।

तृतीय नियम:- किन्हीं दो ग्रहों के प्रदक्षिणा (भगणपूर्ति) काल के वर्गों में जो सम्बन्ध है वही उनके सूर्य से मध्यम दूरियों के घनों में भी होता है।

न्यूटन को केप्लर के प्रथम और द्वितीय सिद्धान्तों ने यह प्रमाणित करने के लिए समर्थ बनाया कि ग्रह, ऐसे बल द्वारा नियन्त्रित होकर चल रहा है जो उसे सदा सूर्यकेन्द्र की दिशा में प्रेरित करता है और सूर्य से ग्रह की दूरी के वर्ग का विपरीत क्रम से समानुपाती होता है। न्यूटन ने केप्लर के तृतीय नियम से यह प्रेरणा ग्रहण की कि ग्रहों की गतियों के पारस्परिक सम्बन्ध किस प्रकार के हैं, जिनसे कि वह विश्वव्यापी आकर्षण सिद्धान्त के प्रतिपादन के लिये सक्षम हो सका, जिसके द्वारा परमाणुओं से लेकर महत्तम ग्रहपिण्ड तक गति के लिये एक ही नियम की व्यापकता स्थिर की जा सकी।

२.४.२ न्यूटन के तीन नियम -

पिण्डों की गति सम्बन्धी न्यूटन के तीन नियम उसके नाम के साथ प्रसिद्ध है -

प्रथम नियम:- कोई भी पिण्ड या तो विराम की स्थिति में होता है अथवा सरल रेखा में समान गति से गतिशील होता है, जब तक कि गति परिवर्तन के लिये उसके ऊपर किसी बाहरी बल का दबाव न पड़े।

द्वितीय नियम:- पिण्ड में गति परिवर्तन (त्वरण) पीडक (दबाव डालने वाले) बल का समानुपाती होता है और प्रयुक्त बल की दिशा में सीधी रेखा में अपना स्थान ग्रहण करता है।

तृतीय नियम:- प्रत्येक क्रिया में उसके तुल्य ही विपरीत प्रतिक्रिया होती है अथवा दो पिण्डों में परस्पर आकर्षण सदा तुल्य और विपरीत दिशा में होता हैं।

गति सम्बन्धी ये तीनों नियम पार्थिव पिण्डों के प्रयोग के अनुकूल आविष्कृत हुए थे और पृथ्वी तल पर के पिण्डों की गतियों के अध्ययन के लिये आधारभूत थे, किन्तु न्यूटन ने इन्हें खगोलीय पिण्डों की गतिविधि के लिये प्रयुक्त किया और इसमें संदेह नहीं कि खगोलीय पिण्ड भी उन्हीं नियमों के विषय थे जिनके पार्थिव पिण्ड।

न्यूटन ने निम्नांकित कारण देते हुए इस तर्क का दृढ़तापूर्वक समर्थन किया किर शनि अथवा गुरु की भाँति पृथ्वी के भी कई चन्द्रमा (उपग्रह) होते तो भी पृथ्वी की आकर्षण शक्ति जो उन्हें अपनी अपनी कक्षाओं में स्थित रखती, भू केन्द्र से उनकी दूरी के वर्ग की ही समानुपाती होती। अब यदि इन उपग्रहों में किसी की कक्षा पृथ्वी के सबसे ऊँचे पहाड़ की चोटी को स्पर्श करते हुए जाती तो वह आकर्षण बल जो उसे अपनी कक्षा में आघृत रखता उस उपग्रह के ऊपर क्रियाशील बल का 3640 गुना होता, तथा उसकी गति स्थूल रूप से 0.230 ग 3640 सेमी0 त्र 1.9 मी0 प्रति सेकेण्ड होती।

अन्य पार्थिव पिण्डों की भाँति यह उपग्रह भी भू केन्द्र की ओर 1.9 मीटर की समान वेगवृद्धि वाले गुरुत्व का होता। यदि उपग्रह के गुरुत्वाकर्षण का बल जो उसकी कक्षा में है भिन्न रूप का होगा तो उसकी वेगवृद्धि दो वेगों का मिश्रण होगी। एक तो गुरुत्वाकर्षण बल के कारण और दूसरा उपग्रह की गति को नियन्त्रित करने वाले बल के कारण।

किन्तु भूतल पर कहीं भी गिरते हुए पिण्डों की वेगवृद्धि 19.6 मीटर नहीं है अपिच 1.9 मी0 के ही तुल्य है। किन्तु वह आकर्षण बल जो चन्द्रमा को अपनी कक्षा में नियन्त्रित किये है, यह वही बल है जिसे पृथ्वी पर भार या गुरुत्व कहते हैं। किन्तु पृथ्वी पर उपग्रह का आकर्षण अत्यन्त कम होता है। इसी कारण उसके परिणाम की उपेक्षा की जाती है।

इसके आगे हमें इस निष्कर्ष का भी संकेत मिलता है कि सूर्य के चारों ओर घूमने वाले बुध शुक्र पृथ्वी आदि सभी ग्रह तथा मंगल बृहस्पति शनि की प्रदक्षिणा करने वाले इनके चन्द्रमा या उपग्रह और पृथ्वी की परिक्रमा करने वाला चन्द्रमा ये सभी संघटनायें विश्वव्यापी आकर्षण जन्य ही हैं। सभी ग्रह और उपग्रह अपनी गतियों को एक ऐसे बल द्वारा प्राप्त करते हैं जो उनके परिक्रामक पिण्ड के केन्द्र की दिशा में क्रियाशील होता है। वह बल इन पिण्डों को इस प्रकार आकृष्ट करता है कि ये अपने परिक्रामक के केन्द्र से अपनी दूरी के वर्ग के समानुपात से ह्रसित होते हुए गतिशील होते हैं। ये परिक्रामक पिण्ड आकर्षण धर्मा हैं जिससे वे अन्य खगोलीय पिण्डों को अपनी ओर खींचते हैं। तात्पर्य यह है कि सभी (द्रव्यीय) पिण्ड गुरुत्वशाली हैं। अतः यह स्वाभाविक प्रतीत होता है कि सूर्य भौम गुरु शनि शुक्र बुध ये भी गुरुत्व को धारण करने वाले हैं।

न्यूटन के तृतीय नियम से यह अवगत होता है कि आकर्षण पारस्परिक धर्म है अतः यदि स्वयं सूर्य ग्रहों को अपनी ओर खींचता है तो ग्रह भी स्वयं सूर्य को अपनी ओर खींचते हैं। यदि पृथ्वी चन्द्रमा को अपनी ओर आकृष्ट करती है तो चन्द्रमा भी पृथ्वी को खींचता है। अथवा यदि पार्थिव पिण्डों को पृथ्वी अपनी ओर खींचती है तो पार्थिव पिण्ड भी स्वयं पृथ्वी को आकृष्ट करते हैं। निष्कर्ष यह है कि आकर्षण प्रकृति का प्राकृतिक धर्म है। यह केवल खगोलीय पिण्डों तक ही सीमित नहीं है। किन्तु सामान्य रूप से सभी द्रव्यीय पिण्डों में और सभी कणों में अणुओं में इसकी सत्ता है, जो परस्पर आकर्षण के लिए क्रियाशील रहते हैं। अतः प्रश्न यह है कि जब दो परस्पराकर्षी पिण्डों की दूरी घटती है तो बल का मान बढ़ता है और जब दूरी बढ़ती है तो वह घटता है। फिर भी प्रश्न उठता है
कि वह कौन सी वस्तु है जो बल के मान को परिवर्तित करती है।

न्यूटन ने अत्यन्त सरलता से इसे सिद्ध किया है कि आकर्षण का बल पिण्ड की संहति का कार्य है। बड़े पिण्ड में बड़ा आकर्षण बल और छोटे पिण्ड में छोटा आकर्षण बल होता है। फलतः बड़ा पिण्ड छोटे पिण्ड को खींचने का प्रयत्न करता है। न्यूटन का द्वितीय नियम यह बतलाता है कि वेगवृद्धि (त्वरण) त्व = ब/ मा होता है। इसमें ब बल और मा पिण्ड की संहति है। पृथ्वी सभी पिण्डों को 1.8 मी0 प्रति सेकण्ड के त्वरण से ही आकृष्ट करती है यह गोलिलियो के प्रयोग से सिद्ध ही है। **तृतीय नियम -**

किन्तु न्यूटन का तृतीय गति नियम कहता है कि कोई पिण्ड जब दूसरे पिण्ड को आकृष्ट करता है। तो वह स्वयं भी दूसरे पिण्ड द्वारा उसी बल से आकृष्ट होता है। इसके अनुसार ख और ग पिण्ड भी क पिण्ड को बल (क ख) और बल (क ग) के तुल्य बलों के द्वारा आकृष्ट करेंगे, जो उनके पिण्डों की संहतियों के समानुपाती होंगे। अतः आकर्षण केवल आकर्षक पिण्डों की संहतियों के समानुपाती होते हैं। वास्तव में पिण्डों के इसी परस्पराकर्षण के कारण न्यूटन अपने विख्यात ब्रह्मण्डीय गुरुत्वाकर्षण नियम को प्रतिपादित कर सके।

बोध प्रश्न : -

1. ज्योतिष के अनुसार भू-आकर्षण सिद्धान्त का प्रतिपादन किसने किया था।
   क. भास्कर ने ख. कोपरनिकस ने ग. न्यूटन ने घ. केप्लर ने
2. 'भू' का शाब्दिक अर्थ होता है –
   क. धरा ख. पृथ्वी ग. मही घ. उपर्युक्त सभी
3. सिद्धान्तशिरोमणि निम्न में से किसकी रचना है।
   क. वराहमिहिर की ख. आर्यभट की ग. भास्कर घ. गणेश
4. पाश्चात्य मत में गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त किसने बताया।
   क. कोपरनिकस ने ख. भास्कर ने ग. न्यूटन ने घ. केप्लर
5. न्यूटन के द्वारा निम्न में किसका नियम प्रतिपादित किया गया था।
   क. गति ख. उर्जा ग. द्रव्य घ. पदार्थ
6. गति के कितने नियम है।
   क. २ ख. ३ ग. ४ घ.५

२.५ सारांश

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आपने जान लिया है कि -आकर्षण का अर्थ है – गुरुत्वाकर्षण। ज्योतिष शास्त्र के अनुसार चौदहवीं शताब्दी में सर्वप्रथम आचार्य भास्कराचार्य जी ने पृथ्वी में आकर्षण शक्ति अथवा गुरुत्वाकर्षण शक्ति की बात अपने ग्रन्थ सिद्धान्तशिरोमणि में प्रतिपादित किया था, जबकि वर्तमान में इसका श्रेय पाश्चात्य चिन्तक आइजक न्यूटन को दिया जाता है। पाठकों को यह समझ लेना चाहिए कि दोनों के कालखण्ड में भी ५०० से ६०० वर्षों से अधिक का अन्तर है। ऐसा क्यों हुआ? यह विचारणीय है। जब प्राचीन सिद्धान्तों का अनवरत् संचालन या परिष्कार नहीं किया जायेगा तो यह समस्या उत्पन्न होगी ही। नवीनता में प्राचीनता छूटते जायेगा तो भी परिणाम यही होगा। हम मूल से कटते चले जायेंगे तो भी यही होगा। भू-आकर्षण से तात्पर्य है – पृथ्वी का आकर्षण शक्ति। इसी आकर्षण शक्ति के आधार पर जब हम कोई वस्तु पृथ्वी से उपर आकाश की ओर फेंकते हैं, तो पृथ्वी उसे अपनी ओर आकृष्ट (खींचती) करती है। अर्थात् ऊपर जाती वह वस्तु पृथ्वी पर वापस गिरने लगती है। इसी आकर्षण शक्ति का नाम आज की भाषा में '**गुरुत्वाकर्षण**' सिद्धान्त है।

२.६ पारिभाषिक शब्दावली

भू -आकर्षण – गुरुत्वाकर्षण

भू - पृथ्वी

अकृष्ट – खींचना

पतित – गिरना

आकर्षण शक्ति – गुरुत्वाकर्षण शक्ति

समानुपाती – समान अनुपात में

त्वरण – वेग परिवर्तन की दर को त्वरण कहते है।

२.७ बोध प्रश्नों के उत्तर

1. क
2. घ
3. ग

4. ग
5. क
6. ख

२.८ सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. सिद्धान्तशिरोमणि – मूल लेखक – भास्कराचार्य:, टिका – पं. सत्यदेव शर्मा
2. ग्रहगति का क्रमिक विकास – मूल लेखक – पं. रामजन्म मिश्र
3. आर्यभट्टीयम् – मूल लेखक – आर्यभट्ट, टिका – रामनिवास राय।

२.९ सहायक पाठ्यसामग्री

1. सिद्धान्तशिरोमणि
2. सूर्यसिद्धान्त
3. सिद्धान्ततत्वविवेक
4. ग्रहगति का क्रमिक विकास

२.१० निबन्धात्मक प्रश्न

1. भू-आकर्षण से आप क्या समझते है? स्पष्ट कीजिये।
2. भास्कराचार्य द्वारा प्रतिपादित भू-आकर्षण सिद्धान्त का प्रतिपादन कीजिये।
3. न्यूटन का सिद्धान्त क्या है।
4. न्यूटन के गति के नियमों को लिखिये।
5. प्राच्य-पाश्चात्य दृष्टि से गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त की समीक्षा कीजिये।
6. केप्लर के नियमों को प्रतिपादित कीजिये।

इकाई - 3 पृथ्वी का गोलत्व

इकाई की संरचना

३.१ प्रस्तावना

३.२ उद्देश्य

३.३ पृथ्वी के गोलत्व के सन्दर्भ में आर्यभट्ट का मत

३.४ ब्राह्मण ग्रन्थों में पृथ्वी के गोलत्व का प्रतिपादन

३.५ वैदिक मत से पृथ्वी का परिभ्रमण

३.५.१ श्री सी0वी0एन0 राव का भूगोल के सन्दर्भ में मत

३.५.२ भूगोल के सन्दर्भ में तैतिरीय ब्राह्मण का मत

३.६ आचार्य भास्कर के मत में पृथ्वी का गोलत्व

३.७ भूगोल के सन्दर्भ में विभिन्न आचार्यों का मत

३.७.१ ज्योतिष शास्त्र से इतर पृथ्वी के गोलत्व का वर्णन

३.८ सारांश

३.९ पारिभाषिक शब्दावली

३.१० अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

३.११ सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

३.१२ सहायक पाठ्यसामग्री

३.१३ निबन्धात्मक प्रश्न

३.१ प्रस्तावना

प्राचीन भारतीय परम्परा में पृथ्वी के लिये भूगोल शब्द प्रयुक्त होता है, जिसका सीधा सा अर्थ ही है कि भूमि गोल है। उसी प्रकार इस पृथ्वी के लिये जगत शब्द प्रयुक्त होता है, जिसका अर्थ भी होता है "चलने वाला"। अर्थात् इस पृथ्वी में गति है। वैसे ही इस दुनिया के लिये संसार शब्द का प्रयोग किया जाता रहा है, जिससे अर्थ है –"संसरतीति संसार" जिसमें संसरण का गुण है, जो खिसकता रहता है, वही संसार है। उसी प्रकार वेदों में पृथ्वी के लिये गौ शब्द का भी प्रयोग किया है, जिसका अर्थ भी गमन करना होता है। इस प्रकार पृथ्वी के लगभग जितने भी पर्यायवाची शब्द संस्कृत वाङ्मय में उपलब्ध होते है, उन सभी में गति अर्थ का प्रयोग प्राप्त होता है। जिससे यह अनुमान होता है कि निश्चित रूप से प्राचीन ऋषियों को पृथ्वी की गति का ज्ञान था। पृथ्वी स्थिर नहीं है, ऐसा निश्चित ही परिज्ञान रहा होगा। इस पाठ में विविध प्रमाण प्रदान किये गये है जिनसे सिद्ध होता है कि प्राचीन काल से ही ज्ञात था कि पृथ्वी गोल है।

३.२ उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन से आप –

१. प्राचीन भारत में विज्ञान की उज्ज्वल परम्परा का निदर्शन प्राप्त करेंगे
२. भूगोल के सन्दर्भे में प्राचीन ऋषियों के ज्ञान का परिचय प्राप्त करेंगे
३. पृथ्वी के गोलत्व से संबंधित विविध प्राचीन प्रमाणों का अध्ययन करेंगे
४. भूगोल के सन्दर्भ में विविध आचार्यों के मत-मतान्तरों का विस्तृत परिचय प्राप्त करेंगे
५. प्राचीन काल से ही पृथ्वी के गोलत्व का ज्ञान भारत में था, इस तथ्य का सप्रमाण प्रतिपादन करने में समर्थ हो सकेंगे।

३.३ पृथ्वी के गोलत्व के सन्दर्भ में आर्यभट्ट का मत

अनुलोमगतिर्नौस्थः पश्यत्यचलं विलोमगं यद्वत्। अचलानि भानि तद्वत् समपश्चिमगानि लङ्कायाम्।।[1]

इस श्लोक में आर्यभट ने यह स्पष्ट किया है कि नक्षत्र मण्डल स्थिर है तथा पृथ्वी अपनी धुरी पर घूमती है। पृथ्वी अपनी धुरी पर पश्चिम से पूर्व की ओर घूमती है।

जिस प्रकार से नाव में बैठकर कोई मनुष्य पूर्व की ओर जाने पर व्यक्ति को अचल वस्तुऐं विपरीत दिशा में जाती हुई दिखती है, उसी प्रकार अचल नक्षत्रमण्डल को लङ्का से पश्चिम की ओर जाते देखते है

शशिराशयष्ठ चक्रं तेंऽशकला योजनानि यवस्त्रिगुणाः।
प्राणेनैति कलां भं ख, युगांशे ग्रहजवो भवांशेऽर्कः।।

इस श्लोक में आचार्य आर्यभट ने प्राणेनैति कलां भं ख से यह स्पष्ट कर दिया है कि पृथ्वी प्राणेन अर्थात् एक प्राण कालान्तर में एक चक्रकला घूमती है।

३.४ ब्राह्मण ग्रन्थों में पृथ्वी के गोलत्व का प्रतिपादन

वैदिक संस्कृति पुस्तक में गोविन्द चन्द्र पाण्डे जी ने तिलक की ओरायन नामक पुस्तक का उदाहरण दिया है कि तिलक ने अपनी ओरायन नाम के प्रसिद्ध ग्रन्थ में यह कहा है कि यह भी कहना युक्ति युक्त प्रतीत होता है कि वैदिक ज्योतिष पृथ्वी को गोल और गतिशील मानता था। पृथ्वी को **गौः** कहना और गार्हपत्य अग्निकुण्ड को वृत्ताकार बनाना इसके सूचक है। कुछ मनीषी सूर्य को स्थिर मानते थे इसका भी संकेत मिलता है । ऐतरेय ब्राह्मण में (३.४४.४) कहा गया है कि सूर्य वस्तुतः उदित या अस्त नहीं होता। यह एक ओर अंधेरा और दूसरी ओर उजाला करता है।[2]

खगोल विद्या शुद्ध रूप से वेदों की देन है और वेदों पर अनुसंधान करते हुए यह विज्ञान भारत में ही विकसित हुआ। प्रसिद्ध जर्मन खगोलविज्ञानी कॉपरनिकस से लगभग १००० वर्ष पूर्व आर्यभट ने पृथ्वी की गोल आकृति और इसके अपनी धुरी पर घूमने की पुष्टि कर दी थी। पृथ्वी के आकार का

[1] आर्यभटीयम् (गीतिकापाद, श्लोक-६)

[2] वैदिक संस्कृति(गोविन्द चन्द्र पाण्डे , लोकभारती प्रकाशन, पृष्ठ ५२५)

ज्ञान उपनिषदों और पुराणों में इंगित पद्माकार, अंडाकार से होता है। शतपथ में परिमण्डल रूप भी पृथ्वी की गोलाकार आकृति का द्योतक है। ऋग्वेदानुसार भी पृथ्वी गोल है तथा

सूर्य के आकर्षण पर ठहरी है। यजुर्वेद के अनुसार पृथ्वी जल के सहित सूर्य के चारों ओर घूमती है।[3]

३.५ वैदिक मत से पृथ्वी का परिभ्रमण –

पश्चिम में 15वीं शताब्दी में गैलिलियो के समय तक धारणा रही कि पृथ्वी स्थिर है तथा सूर्य उसका चक्कर लगाता है, परन्तु आज से लगभग 1500 वर्ष पूर्व हुए आर्यभट ने प्रतिपादित किया कि पृथ्वी अपने अक्ष पर घूमती है। वेदों में लिखा है कि पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा करती है और उसी सूर्य के आकर्षण के कारण अपने मार्ग से भटक नहीं सकती। 27 सूर्य अर्थात् नक्षत्रों की परिक्रमा पृथ्वी कितने दिनों में करती है, इसका उत्तर ऋग्वेद इस प्रकार से देता है –

द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उतच्चिकेत।

तस्मिन् त्साकं त्रिशता न शंकवोऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलाशः।।[4]

भावार्थ – (चक्रम्) यहां वर्ष ही चक्र है, क्योकिं यह रथ के पहिया के समान क्रमणः अर्थात् पुनः पुनः घूमता रहता है। उस चक्र में **(द्वादश + प्रधयः)** जैसे चक्र में छोटी –छोटी अरे **प्राधि** = कीलें हैं, वैसे ही वर्ष में बारह मास हैं। **(त्रीणि + नभ्यानी)** उसके (पृथ्वी के) परिक्रमण के दौरान कोई भाग सूर्य के नजदीक आने - दूर जाने से तीन ऋतुऐं होती हैं। **(क उ तत् चिकेत)** उस तत्त्व को कौन जानता है? **(तस्मिन् साकं शङ्कवः)** उस वर्ष में कीलों सी **(त्रिशता + षष्टिः)** 300 और 60 दिन **(अर्पिता)** स्थापित है। **(न + चलाचलाशः)** वे 360 दिन दिन रूप कीलें कभी विचलित होने वाली नहीं हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि एक वर्ष में 360 दिन होते हैं।[5]

पृथ्वी के परिभ्रमण का नाम क्रान्ति वृत्त है। इसी क्रान्ति वृत्त पर पृथ्वी घूमती है। पृथ्वी से ही चन्द्रमा बद्ध रहता है। अत एव ये दोनों सूर्य का चक्कर लगाते है। पृथ्वी का जो अयन है अर्थात् क्रान्ति

[3] वेदों में विज्ञान (फरहान ताजपृष्ठ सं. १८९,१३९) सागर प्रकाशन, २०१५

[4] ऋग्वेद 1-164-48

[5] वेदवाचस्पति पं. मोतीलाल शास्त्री, पृष्ठ नं.53 -54

वृत्त और विषुवद वृत्त का जो संपात् है वह विषुवद वृत्त के चारों ओर घूमता है। इसकी परिक्रमा 25 हजार 9 सौ 40 दिन में समाप्त होती है। अयन का संबन्ध पृथिवी से है। अयन परिक्रमा लगाता है, इसका अर्थ है पृथिवी की धुरी भी परिक्रमा लगाती है।[6]

जिस पृथ्वी पिण्ड पर हम सभी स्थित हैं, वह सूर्य के चारों ओर परिक्रमा लगाती है। सूर्य के चारों ओर पृथ्वी के घूमने का जो मार्ग है उसे क्रान्ति वृत्त कहते है। पृथिवी के मध्य का जो सबसे बडा पूर्वापर वृत्त है, उसे नाडीवृत्त, विषुवद्वृत्त, भूमध्यरेखा या आङ्ग्लभाषा में 'इक्वेटर' कहा जाता है। उत्तरीध्रुव से 90 अंश दक्षिण और दक्षिणी ध्रुव से 90 अंश उत्तर की ओर जो कल्पित पूर्वापर वृत्त है, उसी का नाम विषुवदवृत्त है। यदि पृथ्वी सदा इस विषुवदवृत्त पर ही घूमती तो दिन-रात सदा वराबर रहते। 12 घण्टे की रात व 12 घण्टे का दिन होता, परन्तु ऐसा है नहीं। पृथ्वी सूर्य से दक्षिण भाग में नीचे की ओर लगभग 24 अंश तक चली जाती है, इसी तरह सूर्य से उपर उत्तर की ओर लगभग 24 तक चली जाती है। इससे 24 अंश उंचा और 24 अंश नीचा 48 अंश का एक अण्डाकार वृत्त बन जाता है, उसपर पृथ्वी घूमती है, इसी का नाम क्रान्तिवृत्त है। यही कारण है कि दिन रात बराबर नहीं होते हैं। पृथ्वी घूमते घूमते जब सौर विषुव पर आती है तो इस दिन रात-दिन बराबर होते है। ऐसी स्थिति वर्ष में दो बार ही आती है। अतः कोशकार कहते है –

"समरात्रिन्दिवे काले विषुवद् विषुवं च तत्" इति।

सूर्य के विषुवत् से जो दक्षिण भाग है वह दक्षिण गोल कहलाता है, और उत्तरभाग उत्तर गोल कहलाता है। पृथिवी दक्षिण-गोल से जिस दिन उत्तर गोल में प्रविष्ट होती है। उस दिन दिन-रात बराबर होते हैं। एवं जिस दिन उत्तर से दक्षिण गोल में प्रविष्ट होते हैं, उस दिन भी रात दिन बराबर होते हैं। 6 महिने पृथ्वी उत्तर गोल में रहती है, 6 महीने दक्षिण गोल में रहती है। क्रान्तिवृत्त और विषुवत वृत्त के सम्पात की जो गति है उसी को अयन बिन्दु का चलन कहते है। यह सम्पात भी दो स्थानों पर होता है, उन सम्पात बिन्दुओं को राहु-केतु कहा जाता है। ये दोनों सम्पात १. शारद सम्पात और २. वासन्त सम्पात नाम से प्रसिद्ध है। जिस दिन (२१ मार्च को चैत्र महिने में) वासन्त सम्पात होता है और २३ सितम्बर

[6] वेदवाचस्पति पं. मोतीलाल शास्त्री, पृष्ठ नं.57-58

को शारद सम्पात होता है उस दिन दिन-रात बराबर होते है। एवं २२ जून को दिन सवसे बडा होता है। एवं २२ दिसम्बर को दिन सबसे छोटा होता है।

वेद का सिद्धान्त है कि सूर्य बृहती छन्द के बीच में(विषुवत् के बीच में) स्थिर रूप से

प्रतिष्ठित रहता है अत एव **सूर्यो बृहतीमध्यूढस्तपति** कहा जाता है। **बृहद्धतस्थौ भुवनेष्वन्तः** इत्यादि मन्त्र सूर्य के स्थिरत्व का प्रतिपादन करते है। इस सूर्य के चारों ओर चन्द्रमा को साथ लिये हुए पृथ्वी घूमती है, परन्तु पृथ्वी अपने अक्ष पर भी 24 घण्टों में घूम जाती है इसी को स्वाक्षपरिभ्रमण कहते है। जैसे गाडी का पहिया अपने स्थान पर घूमता हुआ आगे चलता है उसी प्रकार पृथ्वी अपने स्थान पर घूमती हुई क्रान्ति वृत्त के चारों ओर परिक्रमा लगाती है। इसी परिभ्रमण से दिन-रात होते है। इस स्वाक्षपरिभ्रमण का नाम दैनन्दिन गति है। कुम्भकार के चाक पर दृष्टि डालिये। उस चाक का बिन्दु बिन्दु चल रहा है, परन्तु जिसके चारों ओर चाक घूम रहा है, वह कील बिल्कुल स्थिर है। इसी प्रकार पृथ्वी का भी प्रत्येक बिन्दु गतिमान है। पृथ्वी अपनी धुरी पर तो घूमती ही है साथ ही सूर्य के चारों ओर भी परिक्रमा लगाती है, यह परिक्रमा ३६५ दिन में समाप्त होती है।

३.५.१ श्री सी.वी.एन.राव का भूगोल के सन्दर्भ में मत –

श्री सी.वी.एन.राव ने अपनी पुस्तक "The vedic map of the universe" में भूगोल का इस प्रकार से विवेचन किया है – "Bhooloka consists of two sub-worlds – A. Bhoogola (Planet earth) and B. Mahabhoomi (greater earth). Bhoogola or planet earth is at the centre of the universe and so is one of the upper worlds or UOORDHWALOKAS. On the other hand MahaBhoomi (Greater earth) which is situated in the lower half of the universe is usually mentioned as a lower world or ADHOLOKA.[7] BHOOGOLA or Planet Earth is where we are living. We human beings, flora and fauna of great variety are living on this planet earth.

अर्थात् भूलोक दो भेदों में विभक्त हैं – **अ.** भूगोल (पृथ्वी ग्रह) और **ब.** महाभूमि (बृहत्तर पृथ्वी). भूगोल अथवा पृथ्वी ग्रह ब्रह्माण्ड के मध्य में स्थित है जिसे ऊर्ध्वलोकों में से एक लोक माना

[7] The vedic map of the universe(C.V.N.RAO), chapter IX, VII-A

गया है। वही दूसरी ओर महाभूमि (बृहत्तर पृथ्वी) जो कि ब्रह्माण्ड के अधोभाग में अवस्थित है, जिसे साधारण रूप से अधोलोक कहा जाता है। भूगोल वह है जिस पर हम सभी निवास करते हैं – सभी मनुष्य, पशु-पक्षी, पेड-पौधे, जीव-जन्तु आदि। आगे राव जी ने भूगोल का विस्तार से वर्णन किया – "Planet earth was not created independently and originally. It is a piece of MAHABHOOMI (greater earth) originally MAHABHOOMI was created. Then after some time, a piece in global shape is known as BHOOGOLA or Planet earth"

अर्थात् पृथ्वी ग्रह स्वतन्त्र रूप से स्वयं उत्पन्न नहीं हुआ। यह महाभूमि(बृहत्तर पृथ्वी) का ही एक भाग है। मुख्य रूप से आरम्भ में महाभूमि का उद्भव हुआ था, उसके उपरान्त महाभूमि का एक भाग टूटकर गोलाकार रूप में ब्रह्माण्ड के मध्य में स्थापित हुआ जिसे भूगोल अथवा पृथ्वी ग्रह कहा गया।

३.५.२ भूगोल के सन्दर्भ में तैत्तिरीयब्राह्मण का मत –

इन तथ्यों का आधार उन्होने तैत्तिरीयब्राह्मण की पृथ्वी की उत्पत्ति के सन्दर्भ में एक कथा को माना। जो कि निम्न प्रकार से है –

"आपो वा इदमग्रे सलिलमासीत् तेन प्रजापतिवश्राम्यत्।

कथमिदं स्यादिति। सोनपश्यत् पुष्करपर्णं तिष्ठत्"।।

सृष्टि के आरम्भ सर्वप्रथम जल था, उस समय प्रजापति (ब्रह्मा) ने सृष्टि की रचना के विषय में चिन्तन किया, तब ब्रह्मा ने जल में पुष्करपर्ण को देखा।

सोन् मन्यत। आस्तिवैवत्। यस्मिन्निदमधितिष्ठतीति। स वराहोरूपं कृत्वोपन्यमज्जत्। स पृथिवीमथ आर्छत्। तस्या उपहत्योदमज्जत्। तत्पुष्करपर्णेन प्रथयत्। यदप्रथयत्। तत्पृथिव्यै पृथिवीत्वम्।[8]

[8] तैत्तीरियब्राह्मण, १, १-३ -६

उक्त वचनों का श्रीविद्यारण्य ने निम्न प्रकार से भाष्य किया है –

"तच्च (तत्पुष्करपर्णं) दृष्ट्वा। मनस्येव मतर्कयत्। यस्मिन्नाधार इदं सनालं पद्मपत्रमधिश्रियतिष्ठति। तद्यस्तु किञ्चिदधस्तादस्ले वेतितर्क इत्वाच स प्रजापतिः। वराहो भूत्वा तदीयं रूपं च सम्यक्कृत्त्वा। तस्य पद्मपत्रनालस्य समीपे जलमध्ये निमग्नोभूत। मग्नश्चासौ। अधस्तात्। भूमिं प्राप्तवान्। तस्याः। भूमेः सकाशात्। कियतीमपि आर्द्रां मृदं स्वदंष्ट्राग्रा पृथक्कृत्य। सलिलस्योपरि उन्मज्जनं कृतवान्। तच्चमृद्रूपं तस्मिन् पुष्करपर्णे प्रसारितवान्। यस्मादियं मृत्तिका प्रथिता तस्मात् पृथिवी नाम सम्पन्नम्।

अर्थ – प्रजापति ब्रह्मा ने चिन्तन किया कि इस पुष्करपर्ण का निश्चित ही कोई आधार होगा। तब उन्होंने एक वराह का रूप धारण किया और उस पुष्करपर्ण के समीप जल में उतर गये। उन्होने उस पत्र के आधार के रूप में महाभूमि को प्राप्त किया। तब उस महाभूमि की कुछ गीली मिट्टी उनके बाहरी बडे दांत पर लगी रह गई। उसे जब झटका तो वह मिट्टी छिटककर जल पर और उस पुष्करपर्ण पर प्रसारित हो गई, जो मिट्टी उस पुष्करपर्ण पर प्रसारित हुई उसी का नाम पृथिवी रखा गया। इसी को पृथ्वी ग्रह या भूगोल कहा।

यह पृथ्वी भी पञ्च महाभूतों से निर्मित है – १. अग्नि २. पृथ्वी ३. वायु ४. जल ५. आकाश। इन सभी में भी पृथ्वी तत्त्व का इस भूगोल के निर्माण में अधिक योगदान है, हमें जो कुछ भी इस पृथ्वी पर ठोस रूप में दिखाई दे रहा है वह सभी पृथ्वी तत्त्व ही है। इसी प्रकार जहां वायु का प्राधान्य है उसे वायुलोक, जहां जल का प्राधान्य है उसे वरुणलोक, जहां अग्नि का प्राधान्य है उसे अग्निलोक कहा गया।

३.६ आचार्य भास्कर के मत में पृथ्वी का गोलत्व –

लीलावती अपने पिता से पूछती है कि पिताजी, मुझे तो पृथ्वी चारों ओर सपाट दिखाई देती है, फिर आप यह क्यों कहते हैं कि पृथ्वी गोल है। तब भास्कराचार्य कहते हैं कि पुत्री जो हम देखते वह सदा वैसे ही सत्य नहीं होता, तुम एक वृत्त खींचों, फिर उसकी परिधि के सौवे भाग को देखो, तुम्हे वह एक सीधी रेखा में दिखाई देगा, पर वास्तव में वह वैसा नहीं होती वक्र होती है। इसी प्रकार विशाल पृथ्वी के गोले के छोटे भाग को हम देखते हैं, वह सपाट नजर आता है। वास्तव में पृथ्वी गोल है। **समो**

यतः स्यात् परिधेः शतांशः पृथ्वी च पृथ्वी नितरां तनीयान्। नरश्च तत् पृष्ठगतस्य कुत्सना समेव तस्य प्रतिभात्यतः सा।।[9]

सूर्य सिद्धान्त के भाष्य में कपिलेश्वर शास्त्री जी ने शाकल्य मुनि का वचन उद्धृत किया है –

"**वृत्तस्य षण्णवत्यंशो दण्डवत् परिदृश्यते**"

इससे ज्ञात होता है कि जिस समय शाकल्य मुनि ने यह वचन कहा तब यह ज्ञात था कि पृथ्वी गोल है परन्तु जिस प्रकार वृत्त का 96वां भाग जिस तरह सीधा दिखाई देता है उसी प्रकार इस गोल पृथ्वी पर होते हुए भी भी हम अपने आस-पास के भूभाग को समतल ही देखते है, क्योंकि हम इस गोल पृथ्वी की सतह का 96वें भाग से भी छोटे भाग को ही देख पाते हैं।

पृथ्वी के सन्दर्भ में श्री भास्कराचार्य ने अपने ग्रन्थ सिद्धान्त शिरोमणि में प्रतिपादित किया है कि –

यदि समामुकुरोदरसन्निभा भगवती धरणी तरणिः क्षितेः।

उपरि दूरतरोऽपि परिभ्रमण किमुनरै रमरैरि वनेक्ष्यते।।

अगर हम पृथ्वी को सीधे देखें तो यह समतल वृत्ताकार जैसे एक दक्षिण की तरह दिखाई दे रही है और सूर्य पृथ्वी के ऊपर दिखाई देता है यदि हम पृथ्वी को समतल माने तो सूर्य हमें हमेशा बिना अस्त-उदय के दिखाई देना चाहिये परन्तु हम सूर्य को उदय-अस्त होते हुए देखते है इससे यह स्पष्ट होता है कि पृथ्वी वृत्ताकार अर्थात् गोल है।

यदि हम कहते है कि पृथ्वी समतल है और सूर्य अस्त तब होता है जब प्रतिदिन सूर्य मेरू के पीछे चला जाता है और उसके चारों ओर चक्कर लगाता है मेरू जो पृथ्वी के केन्द्र में स्थित है और सूर्योदय तब होता है जब सूर्य मेरू के पीछे जाता है तो उत्तरायण में मेरू सूर्य को बाधा उपस्थित होना हमें दिखाई देना चाहिये लेकिन ऐसा नहीं हो रहा है यदि हम कहें कि मेरू एक महान दूरी पर है तब उस स्थिति में जब दक्षिणायन में सूर्य दक्षिण में स्थित होता है और मेरू जो कि उत्तर में स्थित है तो दक्षिण में सूर्योदय एवं सूर्यास्त नहीं होना चाहिये लेकिन सूर्यास्त और सूर्योदय हो रहा है अतः यह बात किसी

[9] सिद्धान्त शिरोमणि, गोलाध्यायः

भी शंका से परे है कि सूर्योदय और सूर्यास्त हो रहा है क्योंकि पृथ्वी गोल है और सूर्य पृथ्वी की ओर बढ रहा है और वह पृथ्वी पर उस क्षेत्र को क्षेत्र को बना रहा है जिससे वह दिन और रात्रि में दिखाई दे रहा है, इस प्रकार यह स्थापित हुआ कि पृथ्वी गोल है

यदि निशाजनकः कनकाचलः किमुतदंदतरगस्सन दृश्यते।

उदगयं नानुमेरूधांशुमान कथमुदेति च दक्षिणभाके।।

भास्कराचार्य और अन्य वैदिक विद्वानों की रचनाओं से संबंधित तथ्यों का उल्लेख करते हुए इस शाखा पर ध्यान देना अति आवश्यक है कि भास्कराचार्य एवं वैदिक विद्वानों के कार्यों (रचनाओं) से तथ्यों का विवरण देने का अर्थ यह नहीं है कि वे खोजकर्त्ता या उक्त तथ्यों के अन्वेषक है। यह जो तथ्य प्रस्तुत किये किए गये यह सृष्टि के पुण्यजीवों द्वारा सृष्टि निर्माण और समय पूर्व से गुरू शिष्य परम्परा द्वारा प्रचारित किए गए और विद्वानों ने तथ्यों और अपने समय के दौरान उन तथ्यों का ज्ञान प्राप्त किया। पृथ्वी का व्यास १६२७ तथा भूगोल का योजन ज्योतिष सिद्धान्त द्वारा १२७९७ किलोमीटर है। जैसे कि पृथ्वी गोल है और हर व्यक्ति हर जगह से महसूस करते और समझते है कि वे पृथ्वी के शीर्ष भाग पर है लेकिन यह तथ्य सही नहीं है।

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है कि भचक्र और ब्रह्माण्ड के केन्द्र में भूगोल स्थित है और वैश्विक बिन्दु जो ऊपर की दुनिया की ओर इशारा करते हुए भुवर्लोक की ओर इंगित करता है। अर्थात् भचक्र से ऊपर की ओर जा रही मेरू रेखा पर ज्योतिष चक्र के शीर्ष बिन्दु पर स्थित यह बिन्दु सुमेरू या उत्तरी ध्रुव के नाम से जाना जाता है और वैश्विक बिन्दु जो नीचे की दुनिया की ओर इशारा इंगित कर रहा है अर्थात् महाभूमि अर्थात् भचक्र के केन्द्रीय बिन्दु से ऊपर की ओर बढने वाली मेरू रेखा के बिन्दु को दक्षिणध्रुवों (दक्षिणी ध्रुव) के नाम से जाना जाता है पृथ्वी के बीच में काल्पनिक परिपत्र परिखा है जिसे निरक्षरेखा (भूमध्य रेखा) रूप से जाना जाता है और प्राचीन ऋषियों ने (सुमेरू) उत्तरी ध्रुव से निरक्ष रेखा (भूमध्य रेखा) में देव भाग के रूप में कहा है और निरक्ष रेखा से आधा विश्व के आधे भाग जैसा कि असुर भाग (कुमेरू) है दक्षिण भाग तक। पृथ्वी ग्रह के निवासियों के लिए ज्योतिष चक्र तीन प्रकार का है। देवभाग के लोगों के लिये ज्योतिषचक्र का चक्र घडी की दिशा में होता है और असुर भाग के घडी की दिशा के विपरीत दिशा में होता है। भूमध्य रेखा पर ज्योतिषचक्र के परिक्रमण पश्चिम की ओर स्थित है ज्योतिषचक्र के परिभ्रमण की अलग-अलग धारणा संभव नहीं हैं यदि ग्रह

पृथ्वी एक समतल आकार की है तो इससे यह संभव नहीं है केवल पृथ्वी के गोलाकार होने पर ही संभव है अतः पृथ्वी गोल है।

३.७ भूगोल के सन्दर्भ में विभिन्न आचार्यों के मत –

सूर्यसिद्धान्त ग्रन्थ के गोलाध्याय में कहा है –

उपर्यात्मानमन्योन्यं कल्पयति सुरासुराः।
अन्येऽपि समसूत्रस्थानमन्यतेऽध परस्परम्।।
मन्यते खे यतो गोलस्तस्य कोर्ध्वं क्ववाप्यधः।
सव्यं भ्रमति देवानाम् अपसव्यं सुरद्विषाम्।।
उपरिष्टाद्भगोलोऽयं व्यक्षेपश्चान्मुखं सदा।
मध्ये समतादण्डस्य भूगोलो व्योम्नि तिष्ठति।।
बिभ्राणः परमां शक्तिं ब्रह्मणो धारणात्मिकाम्।।

सोम सिद्धान्त में कहा है –

समतादण्डमध्येऽस्मिन् भूगोलो व्योम्नि तिष्ठति।
सर्वाधारोऽपि सधृतो ब्रह्मणा विश्वरूपिणा।।

रोमक सिद्धान्त में कहा है –

कार्यकारण मध्यस्थं भूर्मध्येऽस्य सर्वतः।

वराहमिहिर ने अपने सिद्धान्त ग्रन्थ में कहा है –

पञ्चमहाभूतमयस्तारागणपञ्जरे महीगोलः।
खेयस्कां तात स्थोलोह इवावस्थितो वृत्तः।।

आर्यभटीयम् ग्रन्थ में आर्यभट ने प्रतिपादित किया है –

वृत्तभपञ्जरमध्ये कक्ष्या परिवेष्टितः खमध्यस्थः।
मृञ्जलशिखिवायुमयो भूगोल रसर्वतो वृत्तः।।

दिवागनभरण में कहा है –

ब्रह्माण्डमध्यस्थ नाभोन्तराले पूर्वोक्तसंख्या सहितस्सु वृत्तः।
आधारशक्त्याधृत एव धातुर्गोलस्सदा तिष्ठति भूतधात्याः।।

सिद्धान्तशेखर में प्रतिपादित किया है –

नभस्य यस्कान्त महामणि नामन्तस्थितो लोहगुडो यथास्ति।

आधारशून्योऽपि च दैव सर्वाधारो धरित्र्याः क्रम एष गोलः।।

उपरोक्त सभी ग्रन्थकारों ने कहा कि पृथ्वी गोल है और यह ब्रह्माण्ड के केन्द्र में स्थित है। परमात्मा की शक्ति के अतिरिक्त उसका कोई आधार नहीं है, जो उसे आकाश में अपने स्थान पर स्थित रखता है।

वेद विद्या निदर्शन ग्रन्थ के रचनाकार भगवदत्त जी ने प्रतिपादित किया कि ऋग्वैदिककाल में ही ऋषियों को पृथ्वी के स्वरूप का ज्ञान था। इस पृथ्वी का आकार कैसा है इसका विवेचन वैदिक ग्रन्थों में इस प्रकार से उपलब्ध होता है –

जैमिनीय ब्राह्मण में वर्णन प्राप्त होता है –

स एष प्रजापतिः अग्निष्टोमः परिमण्डलो भूत्वा अनन्तो भूत्वा शये। तदनुकृतीदम् अपि च अन्या देवताः परिमण्डलाः। परिमण्डल आदित्यः, परिमण्डलः चन्द्रमाः, परिमण्डला द्यौः, परिमण्डलमन्तरिक्षम्, परिमण्डला इयं पृथिवी।

अर्थात् – वह यह प्रजापति अग्निष्टोम परिमण्डल रूप होकर अनन्त (गोल) होकर ठहरा, उसी का अनुकरणरूप अन्य देवता भी परिमण्डल हैं। आदित्य, चन्द्रमा, द्यौ, अन्तरिक्ष और यह पृथिवी परिमण्डल रूप है। परिमण्डल का अर्थ है जिसके सभी ओर मण्डल अथवा घेरा है। अर्थात् जो गोल घेरे में अथवा गोलाकार रूप से आवृत्त हो। विशेष ध्यान देने योग्य है कि सम्पूर्ण द्युलोक ही परिमण्डल है।[10] गणना की सुविधा हेतु प्राचीन आचार्यों ने सम्पूर्ण भचक्र (अथवा राशिचक्र) को ३६० अंशों या २१६०० कला (१ अंश = ६० कला) में विभाजित किया। परन्तु अंश ३६० ही क्यों स्वीकार किये गये, इसका उत्तर केवल वे ऋषि ही दे सकते है। आज भी सम्पूर्ण विश्व में गणना हेतु वृत्त में ३६० अंश ही स्वीकार किये जाते हैं। भचक्र के केन्द्र में उन्होने पृथ्वी (भूगोल) को माना, और उसी के आधार पर सभी प्रकार की पञ्चाङ्ग गणना की। भचक्र नहीं घूमता है इसका उदाहरण ब्रह्मसिद्धान्त में प्राप्त होता है –

पञ्चाचला महीमेरूधृहि क्षितिजमण्डलम्।

अवटस्तमधोभागं क्षितिजाद्वा प्रकल्पयेत्।।

[10] वेदविद्या निदर्शन, इतिहास प्रकाशन मण्डल, पृष्ठ १२३-१२४

अर्थात् पृथ्वी, मेरू, उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव और कुक्षितिज पर्वत ये पांचों नहीं हिलते हैं। ब्रह्मसिद्धान्त में यह भी प्रतिपादित किया गया कि पृथ्वी स्थिर है और सूर्य ज्योतिषचक्र की चौथी कक्षा में भ्रमण कर रहा है।

तैत्तिरीय ब्राह्मण के चौथे अनुवाक के आठवें प्रकरण के दूसरे खण्ड में प्रतिपादित किया गया है –

भूरिद्वे अचरतो चरतम पद्वतं गर्भमपदीपदीदधाते

इसका आशय विद्यारण्य के भाष्य द्वारा प्रतिपादित किया गया –

द्वेद्यावा पृथिव्यौ गर्भं सर्वप्राणि रूपं दधते, धारयतः कीदृश्यौ द्वे आचरति क्वापि अविचरत्यौ स्थिरौ इत्यर्थः अतविचापदी, पादरहिते, नहिगम ना भावेपादयोऽस्ति कश्चिदुपयोगः।

अर्थात् दोनों द्युलोक और पृथ्वीलोक (वैश्विक पृथ्वी) सभी प्राणियों को सदन कर रहे है ये नहीं चलते है, स्थिर रहते है अतः यह कहा जाता है कि वे पैर या पाद के साथ अपदी है। जब कोई आवश्यकता या अदोलन नहीं होता तो पैर की आवश्यकता ही क्या है।

३.७.१ ज्योतिषशास्त्र से इतर शास्त्रों में पृथ्वी के गोलत्व का वर्णन –

१. पुराणों में अनेक स्थलों पर "भूगोल" शब्द का उल्लेख प्राप्त होता है। भागवतपुराण में पांच स्थलों पर, नरसिंह पुराण में दो स्थलों पर भूगोल शब्द का उल्लेख है और ब्रह्माण्डपुराण में "महीगोल" शब्द का एक बार उल्लेख किया गया है।
२. दर्शनशास्त्र के चार ग्रन्थों में पृथ्वी के गोलत्व का उल्लेख प्राप्त होता है –
   (१) दशम शताब्दी के ग्रन्थ 'मोक्षोपाय' में धरागोल व भूगोल शब्द का उल्लेख प्राप्त होता है।
   (२) तत्त्वचिन्तामणि (12वीं शताब्दी)
   (३) न्यायसुधा (१४वीं शताब्दी)
   (४) सांख्यसूत्रविवरण (टीका ग्रन्थ)
३. गोपालतापन्युपनिषद (१३वीं शताब्दी) में 'भूगोलचक्र' शब्द प्राप्त होता है।
४. गीतगोविन्द (१२वीं शताब्दी) में भी एक स्थल पर पृथ्वी के गोलत्व का वर्णन है।

५. वेदान्तदेशिका (१३-१४वी शताब्दी) पृथ्वी का गोलत्व प्रतिपादित करते हुए "भूगोलनिर्णयः" संज्ञक एक लघु रचना की है।

अभ्यास प्रश्न –

(क) लीलावती ग्रन्थ के रचयिता है –

(i) वराहमिहिर (ii) भास्कराचार्य (iii) आर्यभट (iv) मुनीश्वर

(ख) पृथ्वी का परिभ्रमण सर्वप्रथम प्रतिपादित करने वाले आचार्य है –

(i) वराहमिहिर (ii) भास्कराचार्य (iii) आर्यभट (iv) मुनीश्वर

(ग) पृथ्वी का पर्यायवाची नहीं है –

(i) गौः (ii) भूः (iii) अप् (iv) मही

(घ) लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक द्वारा रचित ग्रन्थ है –

(i) ओरायन (ii) गणक तरंगिणी (iii) भाभ्रम (iv) गोल परिभाषा

(ङ) पञ्च महाभूतों में सम्मिलित नहीं है –

(i) पृथ्वी (ii) काल (iii) अग्नि (iv) वायु

(च) सिद्धान्त शिरोमणि ग्रन्थ के रचयिता है –

(i) ब्रह्मगुप्त (ii) आर्यभट (iii) भास्कराचार्य (iv) वराहमिहिर

(छ) द्वादशप्रधयश्चक्रमेकं ..... मन्त्र किस वेद का है –

(i) सामवेद (ii) अथर्ववेद (iii) यजुर्वेद (iv) ऋग्वेद

(ज) वृत्त में कुल अंश होते हैं –

१८०० (ii) ६० (iii) ३६० (iv) १००

(झ) **"वृत्तभपञ्जरमध्ये कक्ष्या परिवेष्टितः खमध्यस्थः"** वचन किस ग्रन्थ का है –

(i) आर्यभटीय (ii) बृहत्संहिता (iii) सूर्यसिद्धान्त (iv) लीलावती

(ञ) **"परिमण्डला इयं पृथिवी"** वचन है –

(i) शतपथ ब्राह्मण का (ii) गोपथ ब्राह्मण का (iii) ताण्डय ब्राह्मण का (iv) जैमिनीय ब्राह्मण का

१. लघूत्तरात्मक प्रश्न –

(क) **यदि समामुकुरोदरसन्निभा भगवती धरणी तरणिः क्षितेः।**
उपरि दूरतरोऽपि परिभ्रमण किमुनरै रमरैरि वनेक्ष्यते।।
श्लोक किस आचार्य का है?

(ख) ३६० अंशों में कितनी काला होती हैं? "**वृत्तस्य षण्णवत्यंशो दण्डवत् परिदृश्यते** किस मुनि का वचन है?

(ग) **"पञ्चमहाभूतमयस्तारागणपञ्जरे महीगोलः"** वचन किस आचार्य का है?

(घ) पुष्करपर्ण संबंधित कथा किस ब्राह्मण ग्रन्थ में प्राप्त होती है?

(ङ) श्री सी.वी.एन.राव रचित पुस्तक का क्या नाम है?

(च) पञ्चमहाभूत कौनसे है?

(छ) भगवान ने किस रूप में पृथ्वी को महासमुद्र से निकाला?

(ज) सबसे बडा व सबसे छोटा दिन कब होता है?

(झ) वेद विद्या निदर्शन ग्रन्थ के रचनाकार कौन है?

३.७ सारांश –

प्राचीन समय में भारत में ऋषियों ने जीवन के प्रत्येक विषय के सन्दर्भ में चिन्तन किया। सृष्टि का आरम्भ, जीवन का आरम्भ, ब्रह्माण्ड की रचना, प्रलय तक सभी विषयों में गहन चिन्तन किया गया। बिना किसी वैज्ञानिक उपकरणों के भी सभी प्रकार की जानकारी अपनी अन्तर्दृष्टि द्वारा प्राप्त की जो कि आज के आधुनिक यन्त्रों के द्वारा भी संभव नहीं है। इसी सन्दर्भ में पृथ्वी के गोलत्व का ज्ञान होना एक साधारण सा विषय है। आज का विज्ञान जिस प्रकार से उत्तरोत्तर वृद्धि कर रहा है, अन्तिम परिणाम के रूप में वह उन्ही तथ्यों को प्रतिपादित कर रहा है, जो कि प्राचीन काल में ऋषियों द्वारा प्रतिपादित किये गये थे। इसी सन्दर्भ में पृथ्वी के गोलत्व से संबंधित तथ्यों का सप्रमाण प्रतिपादन इस

पाठ में किया गया। विशेष रूप से ज्योतिषशास्त्र के प्राचीन ग्रन्थों में पृथ्वी के गोलत्व का प्रतिपादन ५वीं शताब्दी से ही प्राप्त हो जाता है। इससे पूर्व वैदिक मन्त्रों व ब्राह्मण ग्रन्थों में भी पृथ्वी के गोलत्वा के सन्दर्भ में स्पष्ट रूप से उल्लेख प्राप्त होता है। अनन्तर काल में अन्य शास्त्रों में भी पृथ्वी के गोलत्व का स्पष्ट रूप से वर्णन प्राप्त होता है। इस विषय में किसी आचार्य का द्वैमत कभी नहीं रहा है, किसी ग्रन्थ ने कभी यह प्रतिपादन नहीं किया कि पृथ्वी का आकार चपटा है, या समतल है। भारतीय ऋषियों की मेधा ब्रह्माण्ड के किसी भी विषय के सन्दर्भ में कभी संशय युक्त नहीं रही, क्योंकि उन्होने समस्त ज्ञान ध्यान व समाधी की पराकाष्ठा में प्रकृति द्वारा ही प्राप्त किया, जिसकी सत्यता में कभी किसी प्रकार का संशय नहीं हो सकता था।

३.८ पारिभाषिक शब्दावली –

भानि – नक्षत्र

विलोमगं – विपरीत दिशा में जाते हुए

विषुवद्वृत्त – नाडीवृत्त, 0 डिग्री अक्षांश रेखा, भूमध्यरेखा (यः रेखा पृथ्वी को दो भागों में बांटती है – उत्तर गोल और दक्षिण गोल)

क्रान्तिवृत्त – इस वृत्त पर सूर्य का परिभ्रमण होता है, राशियों की स्थिति भी इसी वृत्त पर मनी जाती है

अयनबिन्दु – नाडीवृत्त और क्रान्तिवृत्त का सम्पात बिन्दु

निशाजनकः – चन्द्रमा

अंशुमान् – सूर्य

सव्य – सीधी दिशा में, घडी की दिशा में, दक्षिणावर्त्त

अपसव्य – उलट दिशा में, घडी की विपरीत दिशा में, वामावर्त्त

भचक्र – नक्षत्र चक्र अथवा राशि चक्र

३.९ अभ्यास प्रश्नों के उत्तर -

वस्तुनिष्ठ प्रश्नों के उत्तर -

(क) (ii)

(ख) (iii)

(ग) (iii)

(घ) (i)

(ङ) (ii)

(च) (iii)

(छ) (iv)

(ज) (iii)

(झ) (i)

(ञ) (iv)

लघूत्तरात्मक प्रश्नों के उत्तर –

(क) भास्करचार्य का

(ख) २१६०० कला

(ग) शाकल्य मुनि

(घ) आचार्य वराहमिहिर

(ङ) तैत्तिरीय ब्राह्मण

(च) "The vedic map of the universe"

(छ) पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश

(ज) वराह रूप में २२ जून को दिन सवसे बडा होता है। एवं २२ दिसम्बर को दिन सबसे छोटा होता है।

(झ) भगवतदत्त जी

३.१० सन्दर्भ ग्रन्थाः –

- सिद्धान्तशिरोमणिः, भास्कराचार्यः, चौखम्बा संस्कृत सीरिज
- लीलावती, भास्कराचार्यः, चौखम्बा संस्कृत सीरिज
- आर्यभटीयम्, आर्यभट, चौखम्बा संस्कृत सीरिज
- सूर्यसिद्धान्तः, आर्षः, टीका- कपिलेश्वर शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सीरिज

३.११ सहायकपाठ्यसामग्री –

- १. ज्योतिषशास्त्रस्येतिहासः, आचार्यलोकमणिदाहाल, चौखम्भा प्रकाशन
- २. भारतीय ज्योतिष, शिवनाथ झारखण्डी, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान
- ३. वेदविद्या निदर्शन, इतिहास प्रकाशन मण्डल
- ४. The vedic map of the universe(C.V.N.RAO)

३.१२ निबन्धात्मक प्रश्न

१. भास्कराचार्य के मत में पृथ्वी का गोलत्व प्रतिपादित कीजिये।

२. पृथ्वी के गोलत्व के सन्दर्भ में विभिन्न आचार्यों के मत का उल्लेख कीजिये।

३. पृथ्वी के उत्पत्ति के सन्दर्भ में वैदिक मत का प्रतिपादन कीजिये।

४. ब्राह्मण ग्रन्थ में पृथ्वी के गोलत्व के सन्दर्भ में प्रतिपादित मतों का वर्णन कीजिये।

इकाई – 4 परिधि व्यास सम्बन्ध

इकाई की संरचना

४.१ प्रस्तावना

४.२ उद्देश्य

४.३ परिधि-व्यास परिचय

४.४ परिधि व्यास सम्बन्ध

४.५ सारांश

४.६ पारिभाषिक शब्दावली

४.७ बोध प्रश्नों के उत्तर

४.८ सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

४.९ सहायक पाठ्यसामग्री

४.१० निबन्धात्मक प्रश्न

४.१ प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई एमएजेवाई- 203 के तृतीय खण्ड की चौथी इकाई से सम्बन्धित है। इस इकाई का शीर्षक है – परिधि-व्यास सम्बन्ध। इसके पूर्व में आपने भू-भ्रमण, गुरुत्वाकर्षण तथा पृथ्वी के गोलत्व से जुड़े विषयों का अध्ययन कर लिया है। अब आप ज्योतिष गणितीय सम्बन्धों में परिधि और व्यास के सम्बन्ध से परिचित होने जा रहे है।

परिधि और व्यास का सम्बन्ध वृत्त या गोल से है। वृत्त के चारों ओर की सम्पूर्ण क्षेत्र को परिधि तथा वृत्त के दोनों केन्द्रों तक जाने वाली रेखा को व्यास के रूप में जाना जाता है। इन दोनों को सम्बन्ध गणित में महत्वपूर्ण माना जाता है।

अत: आइए इस इकाई में हम सभी व्यास और परिधि के गणितीय एवं उसका सैद्धान्तिक पक्ष का विस्तार से अध्ययन करते हैं।

४.२ उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप जान लेंगे कि –

- परिधि की परिभाषा क्या है।
- व्यास किसे कहते है।
- सिद्धान्त ज्योतिष में परिधि-व्यास का सिद्धान्त क्या है।
- प्राचीन-अर्वाचीन मत में परिधि-व्यास का सिद्धान्त क्या है।
- गणितीय दृष्टिकोण से परिधि-व्यास क्या है।
- परिधि-व्यास का महत्व क्या है।

४.३ परिधि –व्यास सम्बन्ध

गणित ज्योतिष एवं गोल का जब हम अध्ययन करते है तब हमें परिधि और व्यास शब्द का उल्लेख मिलता है। क्या है परिधि? व्यास किसे कहते है? परिधि और व्यास का सम्बन्ध क्या है? इन प्रश्नों का जब हम विचार करते हैं तो हमें सर्वप्रथम यह जानना चाहिए कि परिधि और व्यास का

सम्बन्ध भू, वृत्त तथा गोल से है। वृत्त का सम्पूर्ण भाग उसका परिधि होता है। जबकि व्यास एक बिन्दु से दूसरे बिन्दु तक। परिधि और व्यास के सम्बन्ध से तात्पर्य है – भूपरिधि और भूव्यास। अत: सर्वप्रथम भू का ज्ञान करते है। 'भू' का अर्थ होता है – पृथ्वी एवं तत्सम्बन्धित व्यास को 'भूव्यास' कहा जाता है। पृथ्वी के व्यास एवं मध्यम भूपरिधि के सन्दर्भ में सूर्यसिद्धान्त में कहा गया है कि –

योजनानि शतान्यष्टौ भूकर्णो द्विगुणानि तु।
तद्वर्गतो दशगुणात्पदं भूपरिधिर्भवेत्।।

अर्थात् पृथ्वी का व्यास ८०० के दुगने १६०० योजन है; इसके वर्ग का १० गुना करके गुणनफल का वर्गमूल निकालने से जो आता है, वह 'पृथ्वी की परिधि' होती है।

यदि पृथ्वी का व्यास 'व' मान लिया जाय तो इसकी परिधि = $\sqrt{व^2 \times १०}$

व × $\sqrt{१०}$ = व × ३.१६२३, जिससे यह सिद्ध होता है कि परिधि व्यास का ३.१६३१ गुना होती है। आजकल यह सम्बन्ध ३.१४१६ दशमलव के चार स्थान तक शुद्ध समझा जाता है जो ३.१६२३ से बहुत भिन्न है, परन्तु इससे यह नहीं समझ लेना चाहिये कि सूर्यसिद्धान्तकार को व्यास और परिधि का ठीक-ठीक सम्बन्ध मालूम नहीं था; क्योंकि इसी ग्रन्थ के दूसरे अध्याय में अर्द्धव्यास और परिधि का अनुपात ३४३८:२१६०० माना गया है, जिससे परिधि व्यास का ३.१४१३६ गुना होता है। इसीलिए इस श्लोक में परिधि को व्यास का $\sqrt{१०}$ सुविधा के लिए माना गया है, जैसे सम्प्रति जब स्थूल रीति से काम लेना होता है तब कोई इसको २२/७ और कोई ३.१४ मानते है और जहाँ बहुत सूक्ष्म गणना करने की आवश्यकता पड़ती है वहाँ दशमलव के पाँच-पाँच सात सात स्थानों तक इसको शुद्ध लेना पड़ता है।

ज्योतिष शास्त्र के विभिन्न सिद्धान्तों में **परिधि और व्यास सम्बन्ध** का मान निम्नलिखित है -

	व्यास: परिधि अर्थात्	व्यास:परिधि
सूर्यसिद्धान्त, ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त, द्वितीय आर्यभट्ट	१: $\sqrt{१०}$	१:३.१६२३
प्रथम आर्यभट्ट	२००००:६२८३२	१:३.१४१६
द्वितीय आर्यभट्ट, भास्कराचार्य	२२:७	१:३.१४२८

भास्कराचार्य	१२५०:३९२७	१:३.१४१३६
३४३८ कला को त्रिज्या मानने से, जो ब्राह्मस्फुट के अतिरिक्त सभी सिद्धान्तों में पाया जाता है।	६८७६:२१६००	१:३.१४१३६
आजकल के सूक्ष्म गणित से		१:३.१४१५९२७

पृथ्वी का सम्पूर्ण मान भूपरिधि कहलाता है और वह अक्षांश भेद से अलग-अलग होता है। परन्तु सामान्यतया सभी विद्वान लंकादेश के भूमध्य में स्थित होने के कारण उसी देश की कुवृत्तीयपरिणाह को मध्यम भूपरिधि के रूप में स्वीकार करते हैं। यद्यपि गोल में भूपृष्ठ स्थान कहीं भी हो सकता है, - यथा -

भूमौ तिष्ठति यो यत्र पृष्ठस्थानं तदुच्यते।
स्वदेशोऽपि स एवाऽस्य कथ्यते गणितागमे।।

किन्तु व्यवहार में किसी एक प्रदेश को कल्पित मानकर ही भूपृष्ठ का स्थान निर्धारण करने, और गणितादि प्रतिपादित करने की बात दैवज्ञों ने की है। वस्तुत: भूमध्य में लंका तथा उससे $90\text{-}90^0$ अंश पर यमकोटि, रोमकपत्तन, सिद्धपुर, सुमेरू, वडवानल आदि भूपृष्ठस्थ प्रमुख छ: स्थल हैं। इन सभी स्थलों पर लंका को ही भूमध्य में कल्पित मानकर स्थान निर्धारण कर्त्तव्य किया गया है। यथा –

लंका कुमध्ये यमकोटिरस्या: प्राक् पश्चिमे रोमकपत्तनं च।
अधस्तत: सिद्धपुरं सुमेरू: सौम्येऽथ याम्ये वाडवानलश्च।।
कुवृत्तपादान्तरितानि तानि स्थानानि षड्गोलविदो वदन्ति।
वसन्ति मेरौ सुरसिद्धसंघा और्वे च सर्वे नरका: सदैत्या:।।

आप इस स्थिति को और सरल तरह से समझिये – पृथ्वी के मध्य में लंका, इसके ९०° पूर्व में यमकोटि और ९०° पश्चिम में रोमक पतन नामक स्थान है। इसके १८०° नीचे सिद्धपुर और ९०° उत्तर में सुमेरू उत्तर ध्रुव है तथा ९०° दक्षिण में वाडवानल पुर (दक्षिण ध्रुव) है। ये सभी स्थान भूमध्यस्थ लंका के सापेक्ष कहे गये हैं।

भूगोल के पादों (चतुर्थ भाग) को अंतरित करने वाले स्थानों को छ: गोल वाले कहे जाते है। मेरू पर देवता सिद्ध पुरूषों के साथ रहते हैं तथा दक्षिण ध्रुव पर नरक तथा दैत्य गण निवास करते हैं। जो लोग पृथ्वी पर जहाँ पर भी स्थित है वे अपने आप को पृथ्वी के ऊपर उसके ऊपरी भाग पर ही स्थित समझते

हैं तथा दूसरो को अपने नीचे स्थित अनुभव करते हैं। पृथ्वी के चतुर्थ भाग में स्थित सभी लोग पृथ्वी पर आश्चर्य रूप से तिरछे स्थित होते हैं (यद्यपि पृथ्वी के धरातल पर तो वे उर्ध्व ही होते हैं) । पृथ्वी के आधे भाग के अन्तर पर स्थित मनुष्य परस्पर नीचे सिर करके स्थित होते हैं, जैसे किसी जलाशय के किनारे खड़े होकर जल में देखने से जल में छाया में खड़ा दिखाई देने वाला व्यक्ति बिना किसी परेशानी के स्थित रहता है, उसी प्रकार बिना परेशानी के मनुष्य एक दूसरे के पृथ्वी के अध: भाग में एक दूसरे से नीचे की ओर सिर करके भी स्थित रहते हैं।

भास्कराचार्य और द्वितीय आर्यभट्ट ने दो प्रकार से व्यास और परिधि का सम्बन्ध बतलाया है, एक सूक्ष्म तथा दूसरा स्थूल और व्यवहारोपोगी। आगे व्यास और परिधि के सम्बन्ध को ८ (पाई) चिह्न से सूचित किया जाता है। आजकल प्रथा है कि यदि व्यास १ है तो परिधि ८ है, जब कि ८ का मान व्यवहार के अनुसार २२/७, ३.१४, ३.१४२,३.१४१६ इत्यादि जैसा आवश्यक हो लिया जा सकता है।

उपर्युक्त श्लोक में 'योजन' का बड़ा महत्व है। आजकल लोग योजन को सामान्यतया चार कोस के बराबर मानते हैं, परन्तु कोस का मान स्वयं स्थिर नहीं है। किसी-किसी प्रान्त में कोस बहुत छोटा होता है और किसी प्रान्त में बहुत बड़ा। इसी प्रकार योजन का भी परिमाण स्थिर नहीं है। यही कारण है कि भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों में भूपरिधि या भूव्यास के मान भिन्न- भिन्न अंकों में दिये हुए हैं। नीचे दिए गए अवतरणों से प्रकट होता है कि सिद्धान्तों में भूव्यास के मान क्या-क्या दिये हुए है –

पंचसिद्धान्तिका में भूव्यास मान – १०१८ पूर्णांक ६/१० योजन
आर्यभट्ट और लल्ल के मत भूव्यास मान – १०५० योजन
वर्तमान सूर्यसिद्धान्त - १६०० योजन
सिद्धान्तशिरोमणि – १५८१ पूर्णांक १/२४ योजन
द्वितीय आर्यसिद्धान्त (महासिद्धान्त) – २१०९ योजन
आधुनिक यूरोपीय मत से विषुवद्वृत्तीय – ७९२७ मील
ध्रुवीय - ७९०० मील

इन अंकों से स्पष्ट है कि वराहमिहिर, आर्यभट्ट तथा लल्ल के योजन प्राय: समान हैं और सूर्यसिद्धान्त तथा सिद्धान्तशिरोमणि के भी योजन प्राय: समान हैं; परन्तु पहले के तीन आचार्यों का

योजन इन दोनों के योजन का प्राय: डेढ़ गुना है। इसलिए इन्हीं दो प्रकार के योजनों की तुलना वर्तमान मील से की जायेगी। हमारे सिद्धान्तों में पृथ्वी को बिल्कुल गोल माना गया है जिससे यह भेद नहीं रखा गया कि विषुवद्वृत्तीय भूपरिधि ध्रुवीय भूपरिधि से भिन्न है। इसलिए तुलना के लिए ध्रुवीय भूपरिधि ही लेना उचित होगा क्योंकि आचार्यों ने इसी की नाप से भूपरिधि का परिमाण स्थिर किया था। इसलिए,

आर्यभट्टीय मत से	**सिद्धान्तशिरोमणि के मत से**
१०५० योजन = ७९०० मील	१५८१ योजन = ७९०० मील
इसलिए १ योजन = ७९००/ १०५० मील	इसलिए १ योजन = ७९००/१५८१ मील
= ७.५२ मील	= ५ मील

यदि १ योजन में ४ कोस हो तो

१ कोस = ७.५२/ ४ मील = १.८८ मील इसलिए १ कोस = १/ ४ योजन=१ पूर्णांक१/४ मील

आजकल १ कोस २ मील के समान समझा जाता है इसलिए आजकल का योजन आर्यभट्ट के योजन से बहुत मिलता है। सिद्धान्तशिरोमणि वाला कोस आजकल के (गो-कोस) के कदाचित् समान हो, जो किसी-किसी प्रान्त में अब तक प्रचलित है।

अभ्यास प्रश्न -1

1. भूपरिधि किसे कहते है। लिखिये।
2. सूर्यसिद्धान्तीय स्फुटपरिधि का वर्णन कीजिये।
3. विभिन्न सिद्धान्तों के अनुसार योजनात्मक मान को स्पष्ट कीजिये।
4. भूव्यास से आप क्या समझते है।

यहाँ प्रश्न उठता है कि भूपरिधि नापी कैसे गयी? सूर्यसिद्धान्त में इसके लिए कुछ उल्लिखित नहीं है, किन्तु भास्कराचार्य सिद्धान्तशिरोमणि में कहते हैं कि उत्तर दक्षिण रेखा पर स्थित दो स्थानों की दूरी योजनों में नाप कर उन दो स्थानों के अक्षांशों का भी अन्तर निकालना चाहिए। पुन: त्रैराशिक द्वारा यह जानना चाहिये कि जब इतने अक्षांशों में अन्तर होने से दो स्थानों की दूरी इतने योजन होती है

तब ३६०° पर क्या होगी? इसकी उपपत्ति नीचे दिए गये क्षेत्र से समझ सकते है -

नीचे दिए गए क्षेत्र में एक ही उत्तर-दक्षिण रेखा पर स्थित दो स्थानों (स, सा) का योजनात्मक अन्तर स सा नापना चाहिये। फिर दोनों के अक्षांशान्तर स भ सा कोण को जानना चाहिये।

उ = उत्तरी ध्रुव या सुमेरू। स, सा एक ही उत्तर दक्षिण रेखा के दो स्थान।

स का अक्षांश = < व भ स।

सा का अक्षांश =< व भ सा।

दोनों के अक्षांशों का अन्तर = < स भ सा।

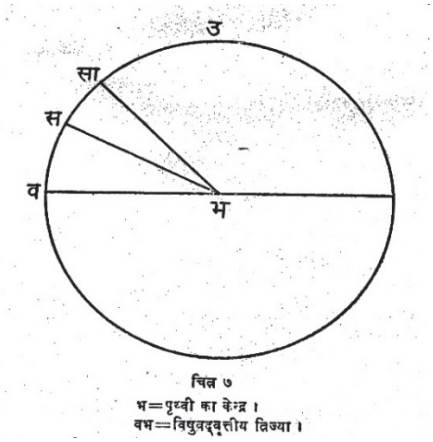

चित्र ७
भ=पृथ्वी का केन्द्र।
वभ=विषुवद्वृत्तीय त्रिज्या।

फिर यह अनुपात करना चाहिए –

< स भ सा: ३६०° : : स सा : भूपरिधि

इसलिए भूपरिधि = $\frac{३६०° \times \text{स सा}}{< \text{स भ सा}}$

भूपरिधि इसी रीति से आजकल भी नापी जाती है; केवल सूक्ष्मयंत्रों के कारण अब अधिक शुद्धतापूर्वक यह काम किया जाता है।

4.4 स्पष्ट भूपरिधि

स्पष्ट भूपरिधि के लिए सूर्यसिद्धान्तकार कहते है –

लम्बज्याघ्नस्त्रिजीवाप्तस्फुटो भूपरिधि: स्वक:।

तेन देशान्तराभ्यस्ता ग्रहभुक्तिर्विभाजिता।।

कलादि तत्फलं प्राच्यां ग्रहेभ्य: परिशोधयेत्।

रेखाप्रतीची संस्थाने प्रक्षिपेत् स्वदेशजस्।।

अर्थात् भूपरिधि को (स्वस्थान की) लम्बज्या से गुणा करके त्रिज्या से भाग देने पर अपने स्थान की स्फुट परिधि निकलती है। अपने स्थान के देशान्तर योजना को ग्रह की दैनिक गति से गुणा करके गुणनफल को इसी स्फुट परिधि से भाग देना चाहिये। यदि दैनिक गति कला में ली गयी है तो फल कला में आयेगा। यदि अपना स्थान लंका से पूरब में हो तो लंका की अर्द्धरात्रि के समय के मध्यमग्रह में से इस फल को घटाना चाहिये और यदि अपना स्थान लंका से पश्चिम में हो तो जोड़ना चाहिये। ऐसा करने से अपने स्थान की अर्द्धरात्रि के समय के मध्यम ग्रह (ग्रहों के मध्यम स्थान) निकल आते हैं।

बीजगणित के अनुसार इन श्लोकों को इस प्रकार प्रकट कर सकते है –

$$\text{स्फुट परिधि} = \frac{\text{भूपरिधि} \times \text{लम्बज्या}}{\text{त्रिज्या}} \quad \ldots\ldots\ldots\ldots\ldots \ (१)$$

$$\left.\begin{matrix}\text{देशान्तर फल}\end{matrix}\right\} = \frac{\text{देशान्तर योजन ग्रह की दैनिक गति कला में}}{\text{स्फुट परिधि}} \quad \ldots\ldots\ldots(२)$$

अपने स्थान की अर्द्धरात्रि के समय के मध्यम ग्रह

= लंका की अर्द्धरात्रि के मध्यम ग्रह ± देशान्तर फल ..... (३)

यदि स्थान लंका से पूर्व हो तो ऋणात्मक चिह्न और पश्चिम हो तो धनात्मक चिह्न ग्रहण करना चाहिये। इसकी उपपत्ति समझने से पूर्व श्लोक में कहे गये लम्बज्या, स्फुट परिधि, देशान्तर इत्यादि को भी जान लेना चाहिये कि ये क्या है?

ज्या – यदि किसी समकोण त्रिभुज के किसी भुज की लम्बाई को उसके कर्ण की लम्बाई से भाग दे दिया जाय तो लब्धि उस भुज के सामने के कोण की ज्या कहलाती है। नीचे चित्र संख्या ८ में स भा भ एक समकोण त्रिभुज है; इसलिए इसके स भ भा कोण की ज्या = स भा / स भ और भ स भा कोण की ज्या भ भा / सभ। समकोण त्रिभुज के कर्ण की लम्बाई किसी भुज की लम्बाई से अधिक होती है; इसलिए किसी भुज के सामने के कोण की ज्या एक से कम होगी इसलिए ज्या दशमलव भिन्न में लिखी जाती है। प्राचीन काल में जब कि दशमलव भिन्न का प्रचार नहीं था कोण की ज्या पूर्णांकों में लिखी जाती थी।

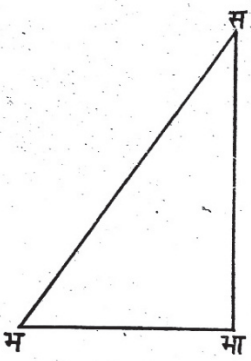

चित्र ८

किसी कोण की ज्या जानने के लिए हमारे सिद्धान्तों में ऐसा वृत्त लिया गया है, जिसकी त्रिज्या (अर्द्धव्यास) ३४३८ इकाईयॉं और परिधि २१६०० इकाईयाँ होती हैं, जिससे एक-एक इकाई एक-एक कला के समान होती है, क्योंकि परिधि एक चक्र के समान होती है जिसमें ३६० अंश अथवा ३६० × ६० = २१६०० कलाएँ होती है। फिर केन्द्र से परिधि तक दो त्रिज्यायें ऐसी खींचते हैं जिनके बीच का कोण उस कोण के समान होता है जिसकी ज्या जानना है तथा त्रिज्या और परिधि के मिलान बिन्दु से दूसरी त्रिज्या पर लम्ब डालते हैं। इस लम्ब की लम्बाई जितनी इकाइयाँ (कलाएं) होती हैं उसी को उस कोण की ज्या कहते हैं। नीचे दिए गए क्षेत्र में अ केन्द्र है; अ आ, अ उ तथा अ ऊ तीन त्रिज्यायें हैं जो अ से परिधि तक खींची गई हैं। उ या ऊ से उ इ या ऊ ई लम्ब अ आ पर डाले गये हैं। त्रिज्या की नाप ३४३८ इकाईयों में मानकर उ इ या ऊ ई को जो नाप इन्हीं इकाईयों में होगी वह उ अ इ कोण ऊ अ ई कोण की ज्या कहलायेगी। जो लोग केवल आजकल की प्रथा से परिचित हैं उन्हें भ्रम हो सकता है; इसलिए उन्हें यह भेद अच्छी तरह समझने का प्रयास करना चाहिए।

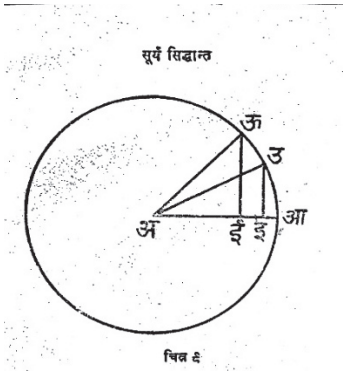

चित्र ९

त्रिज्या का मान ३४३८ इसलिए लिया गया कि जब परिधि कलाओं में विभाजित की जाती है तब त्रिज्या का मान ३४३७पूर्णांक३/ ४ कला आजकल की सूक्ष्म गणना से आता है, जिसका निकटतम

पूर्णांक ३४३८ है। आजकल के एक रेडियन में जितनी कलाएँ होती हैं उतनी ही पूर्ण कलाओं के समान त्रिज्या का परिमाण माना गया है।

स्फुट परिधि - भूतल का वह वृत्त जो उत्तरी और दक्षिणी ध्रुवों से समान अन्तर पर दोनों के बीचों बीच होता हुआ भू पृष्ठ को दो समान भागों में बॉटता है, वह विषुवत् रेखा कहलाता है; विषुवत् रेखा के उत्तर वाले आधे भूगोल को उत्तर गोल और दक्षिण वाले को दक्षिण गोल कहते हैं। इस रेखा से आकाशीय ध्रुव क्षितिज पर दिखायी देते हैं। यहाँ पर अक्षांश शून्य और लम्बांश ९०° होता है। इसलिए विषुवत् रेखा को निरक्षवृत्त भी कहते हैं । नीचे दिए गए क्षेत्र १० में व वा वि विषुवत् रेखा है। यदि किसी स्थान 'स' से निरक्षवृत्त के समानान्तर स सा सि वृत्त भूतल पर खींचा जाय तो इसके परिमाण को 'स' स्थान की 'स्फुट परिधि' कहते हैं।

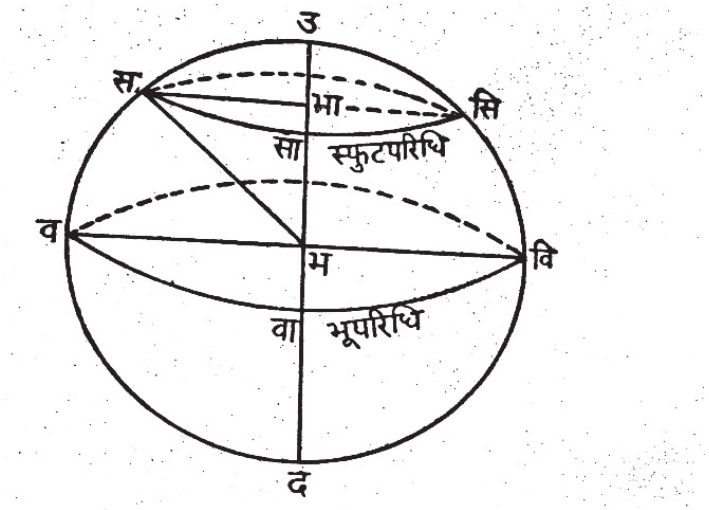

चित्र १०

भ=पृथ्वी का केन्द्र ।
उ=पृथ्वी का उत्तरी ध्रुव (सुमेरु) ।
द=पृथ्वी का दक्षिणी ध्रुव (कुमेरु) ।
व=विषुवत् रेखा का वह बिन्दु जो स के ठीक दक्षिण है ।
स=अभीष्ट स्थान; उसवद स स्थान की उत्तर-दक्षिण रेखा ।
∠ व भ स=स का अक्षांश ।
∠ स भ उ=स का लम्बांश ।
उ द=पृथ्वी का अक्ष ।
स भ=स से पृथ्वी के अक्ष की दूरी

= स स्थान की लम्बज्या, सिद्धान्तीय पद्धति से

विषुवत् रेखा से जैसे – जैसे उत्तर या दक्षिण जाइयेगा वैसे-वैसे स्फुट परिधि कम होती जाती है यहाँ तक कि ध्रुवों पर स्फुट परिधि शून्य हो जाती है। इसी तरह अक्षांश बढ़ता जाता है और लम्बांश कम

होता जाता है और ध्रुवों पर अक्षांश ९०° और लम्बांश शून्य हो जाता है। क्षेत्र से भी स्पष्ट है कि 'स' स्थान की स्फुट परिधि स सा सि की त्रिज्या 'स भा' है जो स की लम्बज्या भी कहलाती है, क्योंकि स का लम्बांश < स भ उ है जिसके सामने की भुज स भा है।

रेखागणित से यह सिद्ध है कि दो वृत्तों की परिधियों में वही अनुपात होता है जो उनकी त्रिज्याओं या व्यासों में होता है, इसलिए

व भ : स भा :: व वा वि : स सा सि

इसलिए स सा सि = व वा वि × स भा / व भ = भूपरिधि × लम्बज्या/ त्रिज्या, जब त्रिज्या ३४३८ हो ओर लम्बजया का मान सिद्धान्तीय पद्धति के अनुसार कलाओं में हो तो यदि आजकल की प्रथा के अनुसार स्फुट परिधि निकालना हो तो स सा सि = भूपरिधि × लम्बज्या जबकि लम्बांश की ज्या दशमलव में दी हुई हो क्योंकि इस रीति से लम्बज्या = स भा/ सभ =

सभा / वभ।

आचार्य भास्कराचार्य स्वग्रन्थ सिद्धान्तशिरोमणि में भूपरिधि के बारे में बतलाते हुए कहते है कि –

प्रोक्तो योजनसंख्यया कुपरिधि: सप्तांगनन्दाब्धय ४९६७
स्तद्व्यास: कुभुजंगसायकभुवो १५८१ ऽथ प्रोच्यते योजनम्।।
याम्योदक्पुरयो: पलान्तरहतं भूवेष्टनं भांश हृत्।
तद्धक्तस्य पुरान्तराध्वन इह ज्ञेयं समं योजनम्।।

अर्थात् आचार्य ने भूपरिधि ४९६७ योजन तथा उसका व्यास १५८१ योजन बताया है। याम्योदकपुर (रेखापुर) और स्वपुर (स्वस्थान) के अक्षांश के अन्तर को परिधि से गुणा करके ३६० अंश से विभक्त करने पर दोनों स्थानों के अन्तर योजन होते हैं।

अभ्यास प्रश्न - 2

बहुवैकल्पिक प्रश्न –

1. लंका कहाँ स्थित है?

   क. भूमध्य में ख. रेखादेश में ग. भूपृष्ठ पर घ. निरक्ष देश में

2. लंका के ९०° पूर्व में कौन सा पुर स्थित है?

क. रोमकपत्तन ख. सिद्धपुर ग. यमकोटि घ. सुमेरू

3. सूर्यसिद्धान्त के अनुसार पृथ्वी का व्यास कितना योजन है?

क. १२०० योजन ख. १४०० योजन ग. १६०० योजन घ.१०००

4. आधुनिक मत में π का मान कितना है?

क. २२/७ ख. २२/६ ग. २२/५ घ. २२/८

5. $\frac{\text{भूपरिधि} \times \text{लम्बज्या}}{\text{त्रिज्या}} = ?$

क. भूपरिधि ख. मध्यम भूपरिधि ग. स्पष्टभूपिरिधि घ. कोई नहीं

6. विषुवत् रेखा के उत्तर वाले आधे भूगोल को क्या कहते है ?

क. दक्षिण गोल ख. उत्तर गोल ग. पश्चिम गोल घ. पूर्व गोल

४.५ सारांश

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आपने जान लिया है कि 'भू' का अर्थ होता है – पृथ्वी एवं तत्सम्बन्धित व्यास को 'भूव्यास' कहा जाता है। पृथ्वी के व्यास एवं मध्यम भूपरिधि के सन्दर्भ में सूर्यसिद्धान्त में कहा गया है कि योजनानि शतान्यष्टौ भूकर्णो द्विगुणानि तु। तद्वर्गतो दशगुणात्पदं भूपरिधिर्भवेत्।। अर्थात् पृथ्वी का व्यास ८०० के दुगने १६०० योजन है; इसके वर्ग का १० गुना करके गुणनफल का वर्गमूल निकालने से जो आता है, वह 'पृथ्वी की परिधि' होती है। भूपरिधि को (स्वस्थान की) लम्बज्या से गुणा करके त्रिज्या से भाग देने पर अपने स्थान की स्फुट परिधि निकलती है। अपने स्थान के देशान्तर योजना को ग्रह की दैनिक गति से गुणा करके गुणनफल को इसी स्फुट परिधि से भाग देना चाहिये। यदि दैनिक गति कला में ली गयी है तो फल कला में आयेगा। यदि अपना स्थान लंका से पूरब में हो तो लंका की अर्द्धरात्रि के समय के मध्यमग्रह में से इस फल को घटाना चाहिये और यदि अपना स्थान लंका से पश्चिम में हो तो जोड़ना चाहिये। ऐसा करने से अपने स्थान की अर्द्धरात्रि के समय के मध्यम ग्रह (ग्रहों के मध्यम स्थान) निकल आते हैं।

४.६ बोध प्रश्न का उत्तर

अभ्यास प्रश्न -2 के उत्तर

1. ग
2. क
3. ग
4. क
5. ग
6. ख

४.७ सन्दर्भ ग्रन्थ

1. सूर्यसिद्धान्त, महावीर प्रसाद श्रीवास्तव, डॉ0 रत्नकुमारी स्वाध्याय संस्थान, इलाहाबाद।
2. सिद्धान्तशिरोमणि, टिकाकार - सत्यदेव शर्मा, चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी
3. सिद्धान्त शिरोमणि, वासनावार्तिक, नृसिंहदैवज्ञ, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।
4. भारतीय ज्योतिष, शंकर बालकृष्ण दीक्षित, श्री शिवनाथ झारखण्डी, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ।
5. सिद्धान्तज्योतिषमंजूषा – प्रोफेसर विनयकुमारपाण्डेय, चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी

४.८ पारिभाषिक शब्द

इस इकाई में ज्योतिष की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कुछ शब्दों का मुख्य रूप से प्रयोग किया गया है जिनका विवरण इस प्रकार से है।

- **भूव्यास**

भू का अर्थ पृथ्वी होता है। तथा उसके केन्द्र से दोनों प्रान्त तक की ओर जाने वाली (दक्षिणोत्तर) रेखा व्यास कहलाती है। आधुनिक मतानुसार पृथ्वी का व्यास को हम २२/७ के रूप में जानते हैं। सूर्यसिद्धान्त के अनुसार पृथ्वी का व्यास १६०० योजन है।

- **भूपरिधि**

पृथ्वी के चारों और का सम्पूर्ण मान को हम भूपरिधि के नाम से जानते हैं। भास्कराचार्य के अनुसार भूपरिधि का मान ४९६७ होता है।

- **त्रिज्या**

व्यास का आधा त्रिज्या होता है।

४.९ निबन्धात्मक प्रश्न

1. भूव्यास से क्या तात्पर्य है? स्पष्ट कीजिये।
2. भूपरिधि का विस्तृत उल्लेख कीजिये।
3. स्पष्ट भूपरिधि का साधन कीजिये।
4. परिधि और व्यास का सम्बन्ध स्थापित कीजिये।
4. व्यास और परिधि में अन्तर स्पष्ट कीजिये।

इकाई – ५ बौधायन परिमेय

इकाई की संरचना

५.१ प्रस्तावना
५.२ उद्देश्य
५.३ बौधायन परिमेय परिचय
५.४ बौधायन परिमेय या पाइथागोरस प्रमेय सूत्र
५.५ सारांश
५.६ पारिभाषिक शब्दावली
५.७ बोध प्रश्नों के उत्तर
५.८ सहायक पाठ्यसामग्री
५.९ निबन्धात्मक प्रश्न

५.१ प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई एमएजेवाई-203 के तृतीय खण्ड की पॉचवीं इकाई से सम्बन्धित है। इस इकाई का शीर्षक है – बौधायन परिमेय। इससे पूर्व की इकाईयों में आपने भूपरिधि-व्यास सम्बन्ध, पृथ्वी का गोलत्व आदि से जुड़े विषयों का अध्ययन कर लिया है। अब आप इस इकाई में बौधायन परिमेय का अध्ययन करने जा रहे है।

प्राचीन गणित के साथ-साथ आधुनिक गणित में बौधायन परिमेय अत्यन्त महत्वपूर्ण माना गया है। सम्प्रति यह पाइथागोरस प्रमेय के नाम से अत्यधिक प्रसिद्ध है। बौधायन एक प्राचीन गणितज्ञ का नाम है, जिनका प्रमेय या सूत्र बौधायन परिमेय या पाइथागोरस प्रमेय के नाम से जाना जाता है।

५.२ उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप –

- बता सकेंगे कि बौधायन परिमेय क्या है।
- आधुनिक गणित में बौधायन परिमेय का स्वरूप क्या है।
- बौधायन परिमेय के सैद्धान्तिक पक्ष को समझा सकेंगे।
- ज्योतिष में इसका उपयोग को बता सकेंगे।
- बौधायन परिमेय के उपयोगिता को समझ लेंगे।

५.३ बौधायन परिमेय का परिचय

बौधायन भारत के प्राचीन गणितज्ञ और शुल्ब सूत्र तथा श्रौतसूत्र के रचयिता थे। ज्यामिति के विषय में प्रमाणिक मानते हुए सारे विश्व में यूक्लिड की ही ज्यामिति पढ़ाई जाती है। मगर यह स्मरण रखना चाहिए कि महान यूनानी ज्यामितिशास्त्री यूक्लिड से पूर्व ही भारत में कई रेखागणितज्ञ ज्यामिति के महत्वपूर्ण नियमों की खोज कर चुके थे, उन रेखागणितज्ञों में बौधायन का नाम सर्वोपरि है। उस समय भारत में रेखागणित या ज्यामिति को **शुल्व शास्त्र** भी कहा जाता था।

भारतीय गणित-शास्त्र की मौलिकता

गणित के अनेक सिद्धान्तों के आदान प्रदान के विषय में स्पष्ट प्रमाणों के अभाव में आग्रहपूर्ण अभिमत देखने में आते हैं। इसी सिद्धान्त की प्राचीनता को तथा किसी सूत्र की विशिष्टता को कम करके देखने की प्रवृत्ति पाई जाती है। इस स्थिति में यह स्पष्ट विवेचन अतीव आवश्यक है कि अमुक

सिद्धान्त अन्य देशों में प्राप्त सिद्धान्तों से कितना प्राचीन है अथवा यह कि अन्य देशों द्वारा अविष्कृत सूत्रों पर भारत ने कितनी मौलिकता या विशिष्टता प्रदान की है। इसे कुछ उदाहरणों से प्रकट करते हैं।

बौधायन के सूत्र ग्रन्थ -

बौधायन के सूत्र वैदिक संस्कृत में हैं तथा धर्म, दैनिक कर्मकाण्ड, गणित आदि से सम्बन्धित हैं। वे कृष्ण यजुर्वेद के तैत्तिरीय शाखा से सम्बन्धित हैं। सूत्र ग्रन्थों में सम्भवतः ये प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। इनकी रचना सम्भवतः ८वीं-७वीं शताब्दी ईसापूर्व हुई थी।

बौधायन सूत्र के अन्तर्गत निम्नलिखित ६ ग्रन्थ आते हैं-

1. बौधायन श्रौतसूत्र - यह सम्भवतः १९ प्रश्नों के रूप में है।
2. बौधायन कर्मान्तसूत्र - २१ अध्यायों में
3. बौधायन द्वैधसूत्र - ४ प्रश्न
4. बौधायन गृह्यसूत्र - ४ प्रश्न
5. बौधायन धर्मसूत्र - ४ प्रश्नों में
6. बौधायन शुल्बसूत्र - ३ अध्यायों में

सबसे बड़ी बात यह है कि बौधायन के शुल्बसूत्रों में आरम्भिक गणित और ज्यामिति के बहुत से परिणाम और प्रमेय हैं, जिनमें २ का वर्गमूल का सन्निकट मान, तथा पाइथागोरस प्रमेय का एक कथन शामिल है।

५.४ बौधायन प्रमेय या पाइथागोरस प्रमेय

समकोण त्रिभुज से सम्बन्धित पाइथागोरस प्रमेय सबसे पहले महर्षि बोधायन की देन है। पायथागोरस का जन्म तो ईसा के जन्म के 8 वी शताब्दी पहले हुआ था जबकि हमारे यहाँ इसे ईसा के जन्म के 15 वीं शताब्दी पहले से ही ये पढ़ायी जाती थी। बौधायन का यह निम्नलिखित सूत्र है :

''दीर्घचतुरश्रस्याक्षणया रज्जुः पार्श्वमानी तिर्यग् मानी च यत् पृथग् भूते कुरूतस्तदुभयं करोति।''

अर्थात् विकर्ण पर कोई रस्सी तानी जाय तो उस पर बने वर्ग का क्षेत्रफल ऊर्ध्व भुजा पर बने वर्ग तथा क्षैतिज भुजा पर बने वर्ग के योग के बराबर होता है।

यह कथन 'पाइथागोरस प्रमेय' का सबसे प्राचीन लिखित कथन है।

2 का वर्गमूल

बौधायन श्लोक संख्या i.61-2 (जो आपस्तम्ब i.6 में विस्तारित किया गया है) किसी वर्ग की भुजाओं की लम्बाई दिए होने पर विकर्ण की लम्बाई निकालने की विधि बताता है। दूसरे शब्दों में यह 2 का वर्गमूल निकालने की विधि बताता है।

समस्य द्विकर्णि प्रमाणं तृतीयेन वर्धयेत।
तच् चतुर्थेनात्मचतुस्त्रिंशोनेन सविशेषः।।

किसी वर्ग का विकर्ण का मान प्राप्त करने के लिए भुजा में एक-तिहाई जोड़कर, फिर इसका एक-चौथाई जोड़कर, फिर इसका चौतीसवाँ भाग घटाकर जो मिलता है वही लगभग विकर्ण का मान है। अर्थात्

यह मान दशमलव के पाँच स्थानों तक शुद्ध है।

वर्ग के क्षेत्रफल के बराबर क्षेत्रफल के वृत्त का निर्माण

चतुरस्रं मण्डलं चिकीर्षन्न् अक्षयार्धं मध्यात्प्राचीमभ्यापातयेत्।
यदतिशिष्यते तस्य सह तृतीयेन मण्डलं परिलिखेत्। । (I-58)

Draw half its diagonal about the centre towards the East-West line; then describe a circle together with a third part of that which lies outside the square.

अर्थात् यदि वर्ग की भुजा 2a हो तो वृत्त की त्रिज्या $r = [a+1/3(\sqrt{2}a - a)] = [1+1/3(\sqrt{2} - 1)]\ a$

वृत्त के क्षेत्रफल के बराबर क्षेत्रफल के वर्ग का निर्माण

मण्डलं चतुरस्रं चिकीर्षन्विष्कम्भमष्टौ भागान्कृत्वा भागमेकोनत्रिंशधा
विभाज्याष्टाविंशतिभागानुद्धरेत् भागस्य च षष्ठमष्टमभागोनम्॥ (I-59))

If you wish to turn a circle into a square, divide the diameter into eight parts and one of these parts into twenty-nine parts: of these twenty-nine parts remove twenty-eight and moreover the sixth part (of the one part left) less the eighth part (of the sixth part).

बौधायन के अन्य प्रमेय

बौधायन द्वारा प्रतिपादित कुछ प्रमुख प्रमेय ये हैं-

- किसी आयत के विकर्ण एक दूसरे को समद्विभाजित करते हैं।
- समचतुर्भुज (रोम्बस) के विकर्ण एक-दूसरे को समकोण पर समद्विभाजित करते हैं
- किसी वर्ग की भुजाओं के मध्य बिन्दुओं को मिलाने से बने वर्ग का क्षेत्रफल मूल वर्ग के क्षेत्रफल का आधा होता है।
- किसी आयत की भुजाओं के मध्य बिन्दुओं को मिलाने से समचतुर्भुज बनता है जिसका क्षेत्रफल मूल आयत के क्षेत्रफल का आधा होता है।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि बौधायन ने आयत, वर्ग, समकोण त्रिभुज समचतुर्भुज के गुणों तथा क्षेत्रफलों का विधिवत अध्ययन किया था। यज शायद उस समय यज्ञ के लिए बनायी जाने वाली 'यज्ञ भूमिका' के महत्व के कारण था।

नाम में द्विरूपता

"बौधायन" तथा "बौधायनीय" शब्दों के लिए "बोधायन" या "बोधायनीय" का प्रयोग दक्षिण भारत में बहुधा किया जाता है। परन्तु संभवतः यह गलत है क्योंकि -अयन शब्द के प्रयोग में पहले वर्ण का स्वर दीर्घ हो जाता है। जैसे- "द्वैपायन", जो "द्वीप" व "अयन" पर विभिन्न व्याकरणीय नियम लगाकर बना है।

शुल्व प्रमेय या पाइथागोरस प्रमेय

समकोण त्रिभुज की भुजाओं की लम्बाई के मध्य निश्चित सम्बन्ध प्रकट करने वाले सूत्र को 572-501 ई.पू. के गणित के नाम पर पाइथागोरस प्रमेय (Pythagoras theorem) के नाम से जाना जाता है। पर इससे बहुत पहले ई.पू. 7-8वीं शताब्दी में बौधायन आपस्तम्ब शुल्क सूत्रकारों ने किसी आयत पर खींचे गए विकर्ण पर बने वर्ग तथा उस आयत की आसमान भुजाओं पर बने वर्ग के बीच निश्चित सम्बन्ध के माध्यम से इस सूत्र को प्रकट किया था। अतः स्वदेश के अनेक विद्वान् तथा डॉ. थीबो जैसे विदेशी विद्वान् भी यह अभिमत रखते हैं कि इसे शुल्क-प्रमेय कहना अधिक समुचित है।

शुल्क सूत्रकारों ने त्रिक (Triplets) प्राप्त करने का सूत्र नहीं दिया है। पर ऐसी विशेषताओं

का उल्लेख अवश्य किया है, जो किसी सूत्र से प्राप्त त्रिक में देखी जाती है। उनका मानना है कि किसी निश्चित नियम के अनुसार निश्चित प्रमाण वाली a, b भुजाओं से बनने वाले दो वर्गों का योग $(b + 2)^2$ के समतुल्य होता है तथा इस निश्चित प्रमाण वाली भुजाओं से बनने वाले त्रिभुज का कर्ण $b + 2$ होता है। यह विशेषता तभी सम्भव है, जब हम a, b भुजाओं को निम्नानुसार समकक्ष मानकर संक्रियाएँ करें-

n = कोई यथेष्ट संख्या

$(2n)^2 = a^2$ तथा $(n^2 - 1)^2 = b^2$ होने पर –

$$(2n)^2 + (n^2 - 1)^2 = (n^2 + 1)^2$$

अथवा शुल्क सूत्रानुसार → $a^2 + b^2 = (b + 2)^2$

साथ ही कर्ण के सूत्रानुसार-

$2n$ लम्ब, n^2-1 भुज होने पर, n^2+1 कर्ण,

या शुल्क सूत्रानुसार a अर्थात् $(2n)$ लम्ब,

b अर्थात् (n^2-1) भुज होने पर $b + 2$ कर्ण।

इस प्रकार शुल्व सूत्र के इस विवरण से उक्त सूत्र का संकेत मिलता है।

भारतीय गणित में संख्याओं के गुणनखण्डन (m,n) के आधार पर त्रिक का सूत्र विकसित नहीं है। आगे चलकर महावीराचार्य ने अपनी मौलिकता बनाए रखते हुए जो सूत्र विकसित किया वह उन बीज संख्याओं (a, b) के आधार पर है, जिनका जोड़, घटाव क्रमशः m, n बनता है। इसे तुलनात्मक रीति से प्रकट करते हैं-

पाइथागोरस के अनुसार-

क्योंकि → कोटि² = (कर्ण + भुज) (कर्ण – भुज) = $m^2 \times n^2$,

कर्ण + भुज = m^2, कर्ण – भुज = n^2

अतः → कोटि = m x n, कर्ण = $\frac{m^2+n^2}{2}$, भुज = $\frac{m^2-n^2}{2}$

महावीर के अनुसार → m = a + b, n = a - b मानते हुए–

क्योंकि → कोटि = (a + b) (a - b), कर्ण + भुज = $(a + b)^2$,

कर्ण – भुज = $(a - b)^2$

अतः → कोटि = $a^2 - b^2$, कर्ण = $a^2 + b^2$, भुज = 2ab

इस प्रकार महावीर ने इस सम्पूर्ण विवरण को अपनी अलग विशिष्टता से वर्णित किया है। इनके पर्यवसित सूत्र की एक विशेषता यह है कि यह सम या विषम किसी भी संख्या को a, b मानकर कार्यशील होता है। जबकि पाइथागोरीय सूत्र में m, n के रूढ़ होने की शर्त है। इस प्रकार महावीर का सूत्र अधिक व्यापक है।

त्रिभुज के क्षेत्रफल का सूत्र-इसे 100 ई.पू. के गणितज्ञ हीरोन के नाम पर Heron's formula के रूप में जाना जाता है। ब्रह्मगुप्त ने 628 ई. में विरचित ब्राह्मस्फुट-सिद्धान्त में इसका वर्णन किया है। यह माना जाता है कि ब्रह्मगुप्त ने मूलतः हीरोन से सूत्र प्राप्त करके इसका विस्तार किया था।

पर यहाँ भी यह ध्यान देने योग्य है कि ब्रह्मगुप्त ने हीरोन की प्रक्रिया के विपरीत पहले चतुर्भुज के क्षेत्रफल के लिये इस सूत्र को विकसित किया। पश्चात् त्रिभुज में एक भुजा को शून्य मानकर त्रिभुज के लिये इसे लागू किया। अतः ब्रह्मगुप्त के अनुसार त्रिभुज के क्षेत्रफल के सूत्र का विकासक्रम–

$$\sqrt{(s-a)(s-b)(s-c)(s-o)} \Rightarrow \sqrt{s(s-a)(s-b)(s-c)}$$

इस विवरण से ब्रह्मगुप्त द्वारा प्रस्तुत सूत्र की मौलिकता सिद्ध होती है। पर D.E. Smith जैसे इतिहासकार इसे इस रूप में प्रस्तुत करते हैं कि ब्रह्मगुप्त, महावीर आदि किसी ने भी आर्किमिडीज़ या हीरोन आदि के कार्यों से लाभ प्राप्त नहीं किया था। पर अन्य प्रसंग में भारतीय विद्वानों द्वारा अधिक सही सूत्र प्राप्त करने पर वे इनकी मौलिकता पर प्रश्नचिन्ह लगाते हैं। आर्यभट द्वारा आर्किमिडीज़, से भी सही तथा सुनिश्चित को π मान प्राप्त करने

की स्थिति में वे कहते हैं कि यह बहुत सन्देहास्पद है कि आर्यभट कहाँ तक इसे स्वयं प्रयुक्त कर पाए थे[2]।

प्रस्तुत प्रसंग में स्मिथ जैसे विद्वानों कि आपत्ति इस बात को लेकर है कि ब्रह्मगुप्त, महावीर इत्यादि चतुर्भुज के क्षेत्रफल के लिए $\sqrt{s(s-a)(s-b)(s-c)(s-d)}$ सूत्र को विकसित करते समय इतना भी ध्यान नहीं रख पाए कि यह सूत्र केवल चक्र चतुर्भुज के क्षेत्रफल के लिये लागू होता है[3]।

बड़े खेद का विषय है कि स्मिथ जैसे अनेक विद्वान् ब्रह्मगुप्त आदि पर इस प्रकार का दोष मढ़ते रहे हैं। जबकि थोड़ा गहराई में अनुशीलन से इसका आसानी से समाधान हो जाता है। यह सही है कि ब्रह्मगुप्त ने चतुर्भुज के क्षेत्रफल के सूत्र में चक्रीय चतुर्भुज की सीमा नहीं बताई है। पर इसके केवल 6 श्लोक के पश्चात् चतुर्भुज का विकर्ण प्राप्त करने के लिये एक बढ़िया सूत्र दिया है। पर चतुर्भुज के आकार के अनियत होने से अनेक विकर्ण प्राप्त हो सकते हैं। पुनः सूत्र से एक निश्चित विकर्ण प्राप्त करने का कोई विशिष्ट कारण होना चाहिये। इससे प्रकट होता है कि वे एक निश्चित चक्रीय चतुर्भुज के विकर्ण को प्राप्त करना चाहते हैं। सूत्र की उत्पत्ति से भी स्पष्ट है कि वह चक्रीय चतुर्भुज के अद्वितीय विकर्ण को प्राप्त करने के लिये ही है।

ब्रह्मगुप्त के चतुर्भुज के क्षेत्रफल के सूत्र को इस विकर्ण के सूत्र के साथ जोड़कर प्रस्तुत किया जाना चाहिये। आगे चलकर 15वीं शताब्दी के लीलावती के टीकाकार परमेश्वर ने ऐसा किया भी है। अगर ऐसा न करें तो इस प्रश्न का उत्तर देना होगा कि आखिर किस उपयोगर के लिये ब्रह्मगुप्त ने इस क्षेत्रफल के सूत्र के तुरन्त बाद विकर्ण का सूत्र प्रस्तुत किया है।

इस विवेचना के अनुसार ब्रह्मगुप्त के प्रस्तुत सूत्र को अतिव्याप्ति दोष से ग्रस्त कहने की अपेक्षा अस्पष्ट व्याख्या से परिपूर्ण कहना अधिक उचित प्रतीत होता है। इस अस्पष्टता के कारण आगे श्रीधर आदि ने इसे सभी प्रकार के चतुर्भुजों के प्रति समन्वयनीय मान लिया था। पर भारतीय शास्त्र पद्धति के अनुसार किसी शास्त्रीय वचन की पूर्वापर संगति के साथ व्याख्या करना समुचित होता है।

टॉलेमी प्रमेय या ब्रह्मगुप्त प्रमेय

इस चक्रीच चतुर्भुज की चारों भुजाओं तथा इसके विकर्ण के बीच सहसम्बन्ध को

प्रकट करने के लिये एक सूत्र प्रायः 85–165 ई. Claudius Ptolemy के नाम पर टॉलेमी प्रमेय (Ptolemy theorem) के नाम से जाना जाता है। ब्रह्मगुप्त ने इससे कहीं आगे

बढ़कर चतुर्भुज के विकर्ण की सही माप प्राप्त करने के लिये प्रस्तुत प्रमेय तथा एक अन्य प्रमेय को मिलाकर समन्वित रूप में प्रस्तुत किया है। इन्हें अलग–अलग इस प्रकार प्रकट करते हैं–चतुर्भुज की भुजाओं को a,b,c,d तथा विकर्ण को xy से संकेतित करने पर–

टॉलेमी प्रमेय → $ac + bd = xy$

ब्रह्मगुप्त प्रमेय → $ac + bd = xy$ तथा

$$\frac{ab+cd}{ad+bc} = \frac{x}{y}$$

ब्रह्मगुप्त ने इन दोनों को मिलाकर निर्मित एक सूत्र द्वारा x, y का मान प्राप्त किया है। स्पष्टतः ब्रह्मगुप्त ने अपनी मौलिकता बनाए रखते हुए सूत्र को अधिक व्यापक रूप दिया है।

अनिश्चित समीकरण की पद्धतियाँ

दो चरों वाले अनिश्चित समीकरण को हल करने का श्रेय प्रायः 260 ई. के विद्वान् डायफैंटस (Diophantus) को प्रदान किया जाता है।

आधुनिक ऐतिहासिक अन्वेषकों ने खोज की है तथा सभी आधुनिक गणितीय इतिहासज्ञों ने यह तथ्य माना है कि तथाकथित पाइथागोरस प्रमेय भारतीयों को पाइथागोरस के समय से बहुत बहुत पहले ज्ञात था। और जैसा कि अरब लोगों ने भारतीय अंक पद्धति पाश्चात्य संसार को साफ साफ हिन्दू अंक कहकर परिचित कराई किन्तु तब भी उसे सीखने वाले यूरोपियों ने उसे बिना विवेचन किए उन्हें अरबी अंक कहा, और कि सारा संसार उन्हें आज भी कहता है, उसी तरह यद्यपि पाइथागोरस ने अपना प्रमेय पाश्चात्य वैज्ञानिक तथा गणितीय संसार को, बहुत बहुत बाद में (भारत में उसकी खोज के)

प्रस्तुत किया, तथापि उसे आज भी पाइथागोरस प्रमेय कहा जाता है।

इस प्रमेय का गणित में बहुत उपयोग होता है। तथा सभी उसे उच्च ज्यामिति (घन ज्यामिति सहित), त्रिकोणमिति (समतल तथा गोलीय), वैश्लेषिक शाकव गणित कलन (अवकलन तथा समाकलन) तथा गणित की अन्य शाखाओं (शुद्ध तथा प्रयुक्त) की नींव के लिए अत्यावश्यक मानते हैं। तिस पर भी, आधारभूत रूप से इतने महत्वपूर्ण मूलभूत प्रमेय का प्रमाण (जैसा कि यूक्लिड आदि की प्रस्तुति द्वारा वैज्ञानिक विश्व को प्राचीनतम स्रोतों से ज्ञात

था और जिस पर अभी भी आधुनिक विख्यात ज्यामिति विदों द्वारा व्याख्या की जाती है) अपनी दुष्कर लंबाई, अनाड़ी दुष्करता तथा आवश्यक लंबे समय के लिए कुख्यात है।

बहुत से वैदिक प्रमाण हैं तथा वे सभी यूक्लिड आदि द्वारा दिए गए प्रमाणों की अपेक्षा सरल हैं। उनमें से कुछ नीचे दिए जा रहे हैं।

पहला प्रमाण

यहां पर वर्ग क ख=वर्ग त झ + चारों अनुरूप समकोण त्रिभुज। इस सबके क्षेत्रफल क्रमशः इस प्रकार हैं: equation

दूसरा प्रमाण

रचना कख=गघ=ट, खग=घच, इसलिए कखग तथा गघच अनुरूप हैं। क ग च एक समकोण समद्विबाहु त्रिभुज है। समलंब चतुर्भुज कखघच=कखग+गघच+कगच इसलिए ट ठ /2+ड^{2}2+ट ठ/2 = (ट+ठ/2) (ट+ठ)

इसलिए ड^2=ट^2+ठ^2, साध्य उपपन्न।

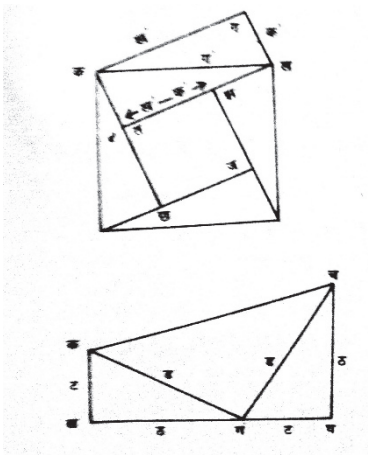

यहां पर हमने समलंब चतुर्भुज के क्षेत्रफल के साध्य का उपयोग किया है, स. च. का क्षेत्रफल = 1/2 ऊंचाई **X** समांतर भुजों का योग।

तीसरा प्रमाण

कच= खछ= गज= घझ= तथा चख= छग= जघ= झक कख वर्ग=चछ= वर्ग + चारों समकोण त्रिभुज इसलिए ङ² + 4टठ/2 = (ट+ठ)² = ट² + 2टठ + ठ² इसलिए ङ²=ट²+ठ² साध्य उपपन्न।

चौथा प्रमाण

(''समान त्रिभुजों का क्षेत्रफल, सजातीय रेखाओं के वर्ग के अनुपात में होता है।'' यहां हम इस साध्य का उपयोग कर रहे हैं।) यहां खघ, कग पर लम्बरूप है।

इसलिए त्रिभुज कखग, कखघ तथा खगघ समान हैं।

इसलिए कखग और कखघ के बीच तथा कखग और खगघ के बीच के क्षेत्रफल

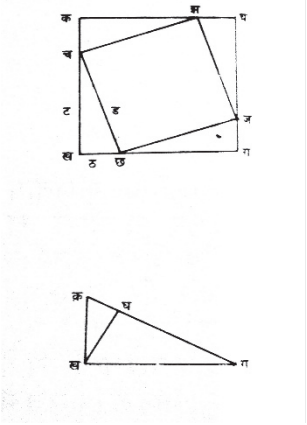

पांचवा प्रमाण

(यह प्रमाण निर्देशांक ज्यामिति से लिया गया है। और चूंकि आधुनिक शांकव गणित तथा निर्देशांक ज्यामिति (त्रिकोणमिति भी) के स्रोतों में पाइथागोरस प्रमेय भी हैं, इसलिए आधुनिक गणितज्ञ को यह विधि मान्य नहीं होगी। किन्तु चूंकि वैदिक पद्धथ्त में शांकव गणित तथा निर्देशांक ज्यामिति (कलन भी) के मूलभूत सिद्धांत पाइथागोरस प्रमेय से निरपेक्ष हैं, इसलिए यहाँ पर ऐसी कोई भी आपत्ति मान्य नहीं होगी।)

इसमें हम उस सूत्र का उपयोग करेंगे जो हमें दो बिन्दुओं के बीच की दूरी उनके निर्देशांकों की इकाई में बतलाता है। मान लीजिए कि दो बिन्दु अ और ब हैं और उनके निर्देशांक (a, o) तथा (o, b) हैं। तब AB = $\sqrt{(a-o)^2+(b-o)^2} = \sqrt{a^2+b^2}$

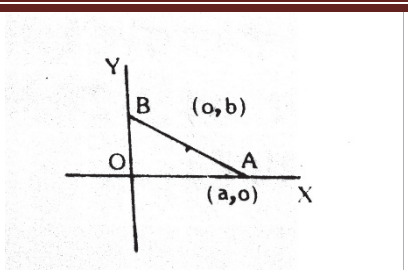

इसलिए $AB^2 = a^2+b^2$, साध्य सिद्ध हुआ।

बोध प्रश्न : -

1. शूल्व सूत्र के रचयिता कौन है।
   क. बोधायन ख. कोपरनिकस ग. न्यूटन घ. केप्लर
2. समकोण त्रिभुज से पाइथागोरस प्रमेय का प्रतिपादन सर्वप्रथम किसके द्वारा किया गया था।
   क. भास्कर ख. बोधायन ग. पाइथागोरस घ. उपर्युक्त सभी
3. शूल्व सूत्र का वर्णन किसमें मिलता है।
   क. रेखागणित ख. बीजगणित ग. त्रिकोणमिति घ. ज्यामिति
4. बोधायन परिमेय को आधुनिक जगत में किस परिमेय के नाम से जानते है।
   क. पाइथागोरस ख. ज्यामिति ग. क्वांटम घ. केप्लर
5. भारतवर्ष के रेखागणितज्ञों में सर्वोपरि नाम किसका आता है।
   क. कमलाकर ख. बोधायन ग. भास्कर घ. पाइथागोरस
6. जिस त्रिभुज का एक कोण ९० अंश का हो उसे क्या कहेंगे।
   क. समकोण ख. समद्विबाहु ग. समभुज घ.कोई नहीं

५.५ सारांश

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आपने जान लिया है कि बौधायन भारत के प्राचीन गणितज्ञ और शुल्ब सूत्र तथा श्रौतसूत्र के रचयिता थे। ज्यामिति के विषय में प्रमाणिक मानते हुए सारे विश्व में यूक्लिड की ही ज्यामिति पढ़ाई जाती है। मगर यह स्मरण रखना चाहिए कि महान यूनानी ज्यामितिशास्त्री यूक्लिड से पूर्व ही भारत में कई रेखागणितज्ञ ज्यामिति के महत्वपूर्ण नियमों की खोज

कर चुके थे, उन रेखागणितज्ञों में बौधायन का नाम सर्वोपरि है। उस समय भारत में रेखागणित या ज्यामिति को **शुल्व शास्त्र** भी कहा जाता था।

गणित के अनेक सिद्धान्तों के आदान प्रदान के विषय में स्पष्ट प्रमाणों के अभाव में आग्रहपूर्ण अभिमत देखने में आते हैं। इसी सिद्धान्त की प्राचीनता को तथा किसी सूत्र की विशिष्टता को कम करके देखने की प्रवृत्ति पाई जाती है। इस स्थिति में यह स्पष्ट विवेचन अतीव आवश्यक है कि अमुक सिद्धान्त अन्य देशों में प्राप्त सिद्धान्तों से कितना प्राचीन है अथवा यह कि अन्य देशों द्वारा अविष्कृत सूत्रों पर भारत ने कितनी मौलिकता या विशिष्टता प्रदान की है। इसे कुछ उदाहरणों से प्रकट करते हैं।

बौधायन के सूत्र वैदिक संस्कृत में हैं तथा धर्म, दैनिक कर्मकाण्ड, गणित आदि से सम्बन्धित हैं। वे कृष्ण यजुर्वेद के तैत्तिरीय शाखा से सम्बन्धित हैं। सूत्र ग्रन्थों में सम्भवतः ये प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। इनकी रचना सम्भवतः ८वीं-७वीं शताब्दी ईसापूर्व हुई थी।

५.६ पारिभाषिक शब्दावली

बोधायन – शूल्वसूत्र के रचयिता

वैदिक - वेदों में प्रतिपादित

गणित – गण्यते संख्यायते तद् गणितम्।

रेखागणितज्ञ – रेखागणित को जानने वाला

पाइथागोरस – बोधायन परिमेय को ही वर्तमान में पाइथागोरस प्रमेय कहा जाता है।

समकोण त्रिभुज – जिसका एक कोण ९० अंश का हो

५.७ बोध प्रश्न के उत्तर

1. क
2. ख
3. क
4. क
5. ख
6. क

५.८ सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. गणित शास्त्र की भारतीय परम्परा – मूल लेखक – भास्कराचार्य:, टिका – पं. सत्यदेव शर्मा

2. वैदिक गणित

3. ग्रहगति का क्रमिक विकास – पं. रामजन्म मिश्र

५.९ सहायक पाठ्यसामग्री

1. वैदिक गणित

2. गणित शास्त्र की भारतीय परम्परा

3. ग्रहगति का क्रमिक विकास

4. लीलावती

५.१० निबन्धात्मक प्रश्न

1. बोधायन परिमेय से आप क्या समझते है? स्पष्ट कीजिये।

2. बोधायन परिमेय का प्रतिपादन कीजिये।

3. पाइथागोरस का प्रमेय क्या है।

4. प्रमाणों द्वारा पाइथागोरस प्रमेय को सत्यापित कीजिये।

5. बोधायन का परिचय देते हुए उनके सूत्रों को लिखिये।

इकाई – ६ शून्य एवं दार्शनिक प्रणाली

इकाई की संरचना

६.१ प्रस्तावना

६.२ उद्देश्य

६.३ शून्य का परिचय एवं मूलोत्पत्ति सिद्धान्त

६.३.१ प्राचीन ग्रन्थों एवं साहित्य शास्त्र में शून्य

६.३.२ शून्य के प्रकार

६.३.३ गणित शास्त्र में शून्य

६.४ शून्य से अंकोत्पत्ति एवं महत्व

६.४.१ भारतीय अंक और अंग्रेजी अंकों का अन्तर

६.४.२ शून्य के पर्याय

६.४.३ अंक स्थान

६.४ दार्शनिक प्रणाली

६.५ सारांश

६.६ पारिभाषिक शब्दावली

६.७ बोध प्रश्नों के उत्तर

६.८ सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

६.९ सहायक पाठ्यसामग्री

६.१० निबन्धात्मक प्रश्न

६.१ प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई एमएजेवाई- 203 के तृतीय खण्ड की छठी इकाई से सम्बन्धित है। इस इकाई का शीर्षक है – शून्य एवं दार्शनिक प्रणाली। इसके पूर्व में बोधायन परिमेय संबंधी इकाई का अध्ययन कर लिया है। अब आप ज्योतिष के प्रमुख सैद्धान्तिक पक्षों में से ही एक शून्य एवं दार्शनिक प्रणाली से अवगत होने जा रहे है।

भारतीय अंकों का मूल शून्य (०) है क्योंकि शून्य से ही समस्त अंकों की उत्पत्ति हुई है। शून्य एवं दार्शनिक प्रणाली से सम्बन्धित आप विविध विषयों का अध्ययन करेंगे।

अत: आइए इस इकाई में हम सभी शून्य एवं दार्शनिक प्रणाली से सम्बन्धित गणितीय एवं उसका सैद्धान्तिक पक्ष का विस्तार से अध्ययन करते हैं।

६.२ उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप जान लेंगे कि –

- शून्य की परिभाषा क्या है।
- शून्य से कैसे सभी अंकों की उत्पत्ति हुई है।
- भारतीय अंक कौन-कौन से है।
- रोमन अंक क्या है।
- दार्शनिक प्रणाली क्या है।

६.३ शून्य का परिचय एवं मूलोत्पत्ति सिद्धान्त

आज सम्पूर्ण भारतवर्ष में अंग्रेजी अंकों का प्रचलन इतने तीव्र वेग से बढ़ा है कि प्राचीन भारतीय अंकों का धीरे-धीरे प्रयोग कम से कम होने लगा है। आजकल इन अंग्रेजी अंकों को कुछ लोग भ्रमवश 'रोमन अंक' नाम से भी अभिहित कर रहे हैं। किसी भी गणितीय प्रक्रिया और गणितीय चिन्ह को सर्वथा विस्मृत होने और लुप्त होने में दो सौ से तीन सौ वर्ष लगते हैं। अतः यदि अंग्रेजी अंकों के प्रसार और प्रयोग की यही गति और स्थिति बनी रही तो भारतीय अंकों के विलुप्त होने का खतरा

उभर पड़ेगा। व्यवहार में ऐसा इसलिए हो रहा है; क्योंकि अंग्रेजी शिक्षा के बढ़ते प्रभाव के कारण ज्यादातर लोग उन्हीं अंकों को जानते हैं जिन्हें वे कान्वेन्टों या स्कूलों में सीखते हैं। आज बैंकों, वाणिज्यिक प्रतिष्ठानों तथा छापखाने एवं आफसेट मशीन के प्रयोगों में अंग्रेजी अंकों की उपलब्धता आसान है। यहाँ तक की पादटिप्पणियों एवं वेदमंत्रों की संख्या लिखते समय भी अंग्रेजी अंकों का ही प्रयोग किया जा रहा है। यह स्थिति अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण है। अंग्रेजी अंकों को रोमन अंक भी कहना न्यायसंगत नहीं है; क्योंकि पाँचवी शताब्दी में रोम पराजित हो कर कंस्तुताइन राजा के कार्यकाल में अपना प्राचीन स्वरूप बोध विस्मृत कर चुका है। पाँचवी शताब्दी से पूर्व का रोम और उसके बाद के रोम में सभ्यतागत अनेक बदलाव आ चुके हैं।

६.३.१ प्राचीन ग्रन्थों एवं साहित्य शास्त्र में शून्य -

वेद में शून्य का प्रयोग उपलब्ध है। वहाँ किसी अनुपलब्ध वस्तु को चाहने वाले के लिये 'शून्यैषी' का प्रयोग किया गया है। मन्त्र इस प्रकार है–

शून्यैषी निर्ऋते याजगन्धोत्तिष्ठाराते प्रपत मेह संस्थाः।

(अथर्ववेद 14.2.19)

ग्रीक में इसका प्रतिरूप केन्योस् (Kenyos) शब्द प्राप्त होता है। इससे इसकी व्यापकता प्रमाणित है। अरबी भाषा के सिफ्र शब्द के द्वारा शून्य के 'खाली' अर्थ का अरबी अनुवाद किया गया है। इस सिफ्र से इंग्लिश का zero शब्द विकसित है।

वेद के पश्चात् महाभारत आदि में अभाव या खाली अर्थ में इस शब्द का नियमित रूप से प्रयोग प्राप्त होता है। आगे चलकर बौद्ध दर्शन के शून्यवाद नामक सम्प्रदाय में एक विशेष पारिभाषिक अर्थ में इसका प्रयोग प्रारम्भ हुआ। इसके प्रवर्तक महान् दार्शनिक नागार्जुन ने शून्यता को सभी दृष्टियों में सर्वश्रेष्ठ बताया[1]। इनके अनुसार इसका मौलिक अर्थ सन् भी नहीं असत् भी नहीं, दोनों भी नहीं, दोनों का प्रतिषेध भी नहीं–इस प्रकार चारों कोटियों से विनिर्मुक्त तत्त्व है; क्योंकि विश्व के किसी पदार्थ की व्याख्या इन चारों में से किसी भी कोटि में कर पाना सम्भव नहीं है। यह दर्शन शून्यता का अर्थ चारों कोटियों से विनिर्मुक्त किसी पाँचवें तत्त्व को नहीं बताता, अपितु इन्हीं चारों की अव्याख्येयता, अनिर्वचनीयता को सूचित करता है। नागार्जुन ने कहा है कि जो लोग इस शून्यता को कोई पाँचवें तरह का तत्त्व समझने लगते हैं, उन्हें समझाने के लिये हमारे पास कोई दवाई नहीं है[1]। इस प्रकार 'शून्यता' जगत् के पदार्थों को चारों कोटियों से विनिर्मुक्त सिद्ध करती है।

इस शब्द के सबसे प्राचीन अर्थ का सकी व्युत्पत्ति से अनुमान किया जा सकता है।

यद्यपि गणवार्तिककरा ने अपनी व्युत्पत्ति से इसके मौलिक अर्थ को मिटा दिया है। उन्होंने इस शब्द को किसी–किसी प्रकार सिद्ध करने के आवेश में इसे कुत्ते अर्थवाले श्वन् शब्द से हित अर्थ में यत् प्रत्यय द्वारा सिद्ध किया है[2]। यहाँ पूछा जा सकता है कि एकान्त या खाली स्थान से कुत्ते का क्या हित सिद्ध होता है!!

इस शब्द की बढ़िया व्युत्पत्ति के संकेत वैदिक साहित्य से प्राप्त होते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों तथा उपनिषदों में सृष्टि–प्रक्रिया का वर्णन करते हुए कहा है कि पहले असत् ही था, वह सत् हुआ तथा अण्ड बना। वह साल भर तक बढ़ता रहा तथा उसके बाद फूट कर रजत वर्ण की पृथिवी तथा सुवर्ण–वर्ण के द्युलोक के रूप में विभक्त हो गया[3]। इससे दूर–दूर तक खाली स्थान आकाश परिव्याप्त हो गया।

इस बढ़ने तथा सूजने आदि अर्थ में 'शून' शब्द का प्रयोग वेदों में प्राप्त है। पाणिनीय व्याकरण के अनुसार यह शब्द सूजने अर्थ वाली श्वि धातु से भूतकाल में क्त प्रत्यय होकर निर्मित होता है। वास्तव में उस अण्ड के इस सूजे हुए खाली स्थान का नाम ही शून्य अथवा आकाश है। इन वर्णनों को मिलाकर देखने से इसकी यही व्याख्या सर्वाधिक सुसंगत प्रतीत होती है।

इससे स्पष्ट है कि शून्य के विकास के लिये मूलतः आकाश के स्वरूप से प्रेरणा प्राप्त हुई है। अतः यहाँ प्रथम न्याय–वैशेषिक में परिकल्पित आकाश की अवधारणा को संक्षेप में प्रस्तुत करते हैं। वैशेषिक सूत्र में आकाश के विषय में उस समय प्रचलित दो प्रकार के मत प्रस्तुत किये गए हैं, जो इस प्रकार हैं–

प्रथम मत के अनुसार आकाश शून्यात्मक या अभाव स्वरूप है। यह इस स्वरूप वाला होकर कमरे से निष्क्रमण, उसके अन्दर प्रवेशन इत्यादि क्रियाएँ कराने का हेतु होता है[1]। यह स्थिति स्पर्श वाले भाव द्रव्यों से भिन्न है। पृथिवी आदि भाव पदार्थ जगह घेरते हैं तथा वे अपनी जगह पर किसी को आने नहीं देते। इससे विपरीत स्थिति वाला होने से आकाश अभावस्वरूप है[2]। 'खाली स्थान', 'कुछ नहीं' की प्रतीति ही आकाश की प्रतीति है।

न्याय–वैशेषिक के द्वितीय सिद्धान्त मत के अनुसार आकाश एक भाव पदार्थ है। पर वह छोटे–छोटे जगह घेरने वाले अणुओं से निर्मित नहीं, अपितु विभु है। इस प्रकार महत्परिमाण वाला होने से अनन्त है। किसी के भी महत्त्व की परिमाप जिन उपायों या उपकरणों से हो सकती है, वह उनसे भी कहीं बढ़ कर है। इस प्रकार वह अगम्य तथा अपरिभाष्य है। यह स्थिति अनन्त (infinity) के इस आधुनिक वर्णन से तुलनीय है कि अनन्त ऐसा बड़े से बड़ा है जो उस बड़े से भी बड़ा है, जितना बड़े से बड़ा हम सोच सकें[3]। अनन्त की यह अवधारणा अणु की सूक्ष्मता की अनन्तता का दूसरा छोर है[4]।

दर्शन–जगत् में इस प्रकार शून्य को भी दो प्रकार से समझने की परम्परा रही है।

साहित्य–शास्त्र में शून्य

साहित्य–शास्त्र में भी इस शब्द के दोनों अर्थों में प्रयोग प्राप्त होते हैं। प्रथम अथर्ववेद के शून्यैषी (= शून्य को चाहने वाला) जैसे शब्द 'अभाव' अर्थ को रख कर भी 'कुछ है' की प्रतीति कराते हैं। द्वितीय अर्थ का वर्णन करते हुए उपनिषद् का एक सुन्दर मन्त्र इस प्रकार है–

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।

(बृहदारण्यक उपनिषद् 5.1.1)

अर्थात् यह ऐसा पूर्ण है जिस पूर्ण में से पूर्ण को निकाल लेने पर भी पूर्ण ही बच जाता है। अनन्त का इससे बढ़िया वर्णन और क्या हो सकता है!!

भागवत के एक रोचक श्लोक में दोनों अर्थों वाले शून्य का एक साथ प्रयोग देखने को मिलता है–

यत्तद् ब्रह्म परं सूक्ष्मम् अशून्यं शून्यकल्पितम्।

अर्थात् वह परम सूक्ष्म ब्रह्म शून्य नहीं है, फिर भी शून्य के रूप में प्रकल्पित है। यहाँ पहले शून्य का अर्थ अभाव तथा दूसरे शून्य का अनन्त अर्थ है। इस प्रकार 'वह ब्रह्म शून्य या अभावस्वरूप नहीं, फिर भी शून्य या अनन्तस्वरूप है', यह इसका सूक्ष्म अर्थ है।

६.३.२ शून्य के स्वरूप

शून्य के दो स्वरूप दृष्टिगोचर होते हैं–

I. शून्य अभावस्वरूप है। पर यह ऐसा नहीं जो हमारे ज्ञान का विषय न बन सके। वास्तव में वह बोध्य है, व्याख्येय है। वह विविध कार्यों का कारण भी बन सकता है। जैसे–न्याय में घट कार्य का दण्ड, चक्र, चीवर, कुलाल के साथ 'वर्षा के अभाव' को भी कारण माना जाता है। यह वर्षाऽभाव न्यायनय में वर्षा के अभावस्वरूप होकर भी एक पदार्थ है। वेदान्त सिद्धान्त में यह वर्षा से भिन्न कोई भावान्तर स्वरूप है। दोनों ही स्थितियों में यह विविध संक्रियाओं का निष्पादक माना जाता है।

II. शून्य सर्वथा अपरिमेय या अव्याख्येय है। वह सभी कोटियों से रहित है। हम अपने दैनिक जीवन में जिन–जिन विमाओं (dimension) को जानते हैं, उनसे वह भिन्न है। पर इसका अर्थ यह नहीं कि वह किसी चतुर्थ विमा के आकार को प्राप्त कर सके। यह एक ओर अणुता के आनन्त्य को रखता है, जिसे परमाल्प कहते हैं। दूसरी ओर महत्त्व के आनन्त्य को रखने से परममहान् है। जिसका न्याय में एक उदाहरण

आकाश है। दोनों ही दशाओं में यह सर्वथा अगम्य एवं अबोध्य है। इस पर कोई क्रिया नहीं हो सकती। अथवा यों कहें कि इस पर की गई किसी संक्रिया से परिणाम में कोई भिन्नता नहीं आती। इसके लिये छोटा, बड़ा या कम, अधिक जैसे शब्दों के प्रयोग का कोई अर्थ नहीं है। दर्शनशास्त्र में इस 'अनन्त से जगत् उत्पत्ति', इसमें विलय' इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग केवल समझने का उपायमात्र है। वस्तुतः उसमें ऐसा कुछ नहीं होता।

६.३.३ गणित–शास्त्र में शून्य

यह निरूपण बहुत रोचक है कि गणित–शास्त्र में आकाश के स्वरूप से प्रेरणा प्राप्त करते हुए गणितीय संक्रियाओं द्वारा दोनों प्रकार के शून्य को प्राप्त किया गया है। इसीलिये महावीर आदि विद्वानों ने आकाश के पर्यायवाचक शब्दों को शून्य का पर्याय निरूपित किया है[1]।

संख्या–लेखन हेतु प्रथम प्रकार के शून्य का उपयोग

गणित–शास्त्र में यह शून्य अभावस्वरूप होकर भी संख्या के अन्तर्गत है। इसका अलग नाम तथा प्रतीक चिन्ह है। यह ठीक उसी प्रकार का है, जैसे न्याय में अभाव असत् स्वरूप होकर भी पदार्थ है। गणित में शून्य का प्रतीक अन्य किसी संख्या के अभाव की सूचना देता है। फिर भी वह अन्य संख्याओं के समान अपने से दाहिने या बाईं ओर की संख्याओं के मान को बदलने की क्षमता रखता है। 1 की दशगुणज तथा उसके वर्ग, घन आदि संख्याओं के लेखन में 1 से दाहिने ओर क्रमशः शून्यों की संख्या बढ़ती जाती है तथा ये शून्य क्रमशः 1 के दशगुणित तथा इसके उत्तरोत्तर वर्धमान मान की सूचना देते हैं। इसी प्रकार 1 से 10 से तथा उसके वर्ग, घन आदि से विभाजित संख्याओं के लेखन में 1 से बाईं ओर दशमलव बिन्दु एवं 1 के बीच क्रमशः शून्यों की संख्या बढ़ती जाती है तथा ये क्रमशः 1 के उत्तरोत्तर ह्रासमान मान को प्रकट करते हैं।

गणित–शास्त्र में इस प्रकार का संख्या–लेखन दशगुणोत्तर पद्धति के आधार पर विकसित है। इस पद्धति से लिखे गए प्रत्येक अंक का दशगुणित स्थानीय मान होता है। इसमें उक्त विशेषताओं वाले शून्य का तथा इसके एक सुनिश्चित प्रतीक का प्रयोग अनिवार्य है। गणित के लिये शून्य चिन्ह को प्रकट करते हुए सबसे पहला प्रयोग प्रायः 200 ई. पू. में विरचित पिंग छन्दः सूत्र में प्राप्त हुआ है[1]। इस प्रकार इस समय इसका कोई प्रतीक चिन्ह अवश्य विकसित हो गया था। इससे इस समय स्थानीय मान पद्धति द्वारा संख्या–लेखन की सूचना प्राप्त होती है। इस पद्धति का स्पष्ट संकेत ईसा की प्रथम या द्वितीय शताब्दी के योग–सूत्र व्यास–भाष्य के एक सुन्दर विवरण से प्राप्त होता है। वहाँ कहा है कि एक ही

रेखा सौ के स्थान पर 100 का दस के स्थान पर 10 का तथा वही 1 के स्थान पर 1 अर्थ प्रदान करती है[2]।

इस पद्धति से लेखन का अस्पष्ट संकेत ई.पू. 8वीं शताब्दी के निरुक्तकार यास्क के 'दश' के निर्वचन से प्राप्त होता है। यह इस प्रकार है–

दश दस्ता–निरुक्त 3.10

अर्थात् दस नाम इसलिये है; क्योंकि इस संख्या तक संख्या–लेखन के लिये अंक परिपूर्ण हो जाते हैं। इसके पश्चात् किसी भी बड़ी से बड़ी संख्या–लेखन के लिये इन्हीं अंकों की पुनरावृत्ति की जाती है[1]। यह स्थिति केवल स्थानीय मान पर आधारित लेखन–पद्धति में ही सम्भव है। अन्य किसी भी पद्धति में इससे अधिक अंकों की अनिवार्य आवश्यकता होती है। इससे यह भी प्रकट है कि निरुक्तकार ने 9 के अलावा शून्य को भी अतिरिक्त अंक के रूप में स्वीकार किया है।

वेद में आकाश या अवकाश से परिपूर्ण गोल छिद्र के लिये 'ख' का प्रयोग प्राप्त है[2]। इस आधार पर आगे चल कर इस अतिरिक्त अंक के लिये गोलाकार प्रतीक विकसित हुआ।

६.४ शून्य से अंकोत्पत्ति एवं महत्व -

अंकों का शब्दात्मक शरीर और संख्यात्मक शरीर पहली बार भारतवर्ष की धरती पर ऋषियों के हृदय में अवतरित हुआ। इसीलिए वे अंककृद् हैं। यह देश ब्रह्म और माया का चिन्तक देश है। ब्रह्मविद्या के अन्वेषण के क्रम में अंकों की उत्पत्ति हुयी है ऐसा हम साधिकार कह सकते हैं; क्योंकि भारतवर्ष की आर्षविद्या के उत्स ग्रन्थ वेद हैं। 'आकाश' और 'समुद्र' वेदान्तज्ञान में उदाहरण के तौर पर अत्यन्त प्रसिद्ध और प्रयुक्त हैं। आकाश अनादि है; अनन्त है, महाबिलम् है। समुद्र की तरंगें माया की तरह तरंगायित होती हैं। आकाश को शून्य कहा गया है। यहीं से अंकों में शून्य का समावेश होता है। स्वतंत्ररूप से शून्य महत्त्वहीन था और है; परन्तु महान् भारतीय गणितज्ञों एवं ऋषियों की दृष्टि में वह उत्पादक अंक है।

एक	द्वि	त्रि	चतुः	पंच	षट्	सप्त	अष्ट	नव	शून्यम्
1	2	3	4	5	6	7	8	9	0

सम्पूर्ण विश्व में ऋषियों द्वारा अन्वेषित अंकों की जानकारी धीरे धीरे पहुँची। ऋषि वैज्ञानिकों ने शून्य, नौ अंक तथा स्थानमान का अन्वेषण ईसा के पूर्व वेद एवं वेदांककाल में कर लिया था। जो

आकाश को जानता है वह शून्य को जानता है। ऋषियों ने वैदिक संहिताओं में अंकों की स्थिति को दर्शाया है। उनके लिए आकाश शून्य, वृत्त या विन्दु था। पृथ्वी क्षैतिज रेखा थी।

शून्य से अंकोत्पत्ति-

शून्य का आरम्भिक स्वरूप बिन्दु की तरह या लघुवृत्त की तरह रहा है। इनमें से पहले कौन-सा रूप प्रचलित था यह कहना कठिन है। आकाश को यदि चित्र रूप में उपनिबद्ध करना हो तो उसे शून्यांक से ही किया जा सकता है। अतः प्रचलित लघुवृत्त (0) को ही शून्य मानें तो अंकों की उत्पत्ति निम्नलिखित रूप में कल्पित हो सकती है-

अंकों के निर्माण में शून्य, अर्धशून्य और रेखा का प्रयोग किया गया था। शून्य आकाश का वाचक है और रेखा क्षितिज का। आकाश और क्षितिज के नौ प्रकार के सम्मेलन से नौ अंकों की उत्पत्ति हुयी। देश और काल के महामिलन से द्वैतरूपी अंकों की उत्पत्ति हुयी है। ब्राह्मी, खरोष्ट्री एवं देवनागरी आदि सभी लिपियों में अंकों की स्थिति शून्य और रेखा से ही प्रकट हुई है।

'शून्य' का महत्त्व'-

निःसंदेह शून्य की अवधारणा एवं उत्पत्ति गणित, खगोल और विज्ञान जगत् के लिए एक ईश्वरीय वरदान लेकर पृथ्वी पर आयी।

ईसा से पूर्ववर्तीमुनि 'पाणिनि' के पूर्ववर्ती या समकालीन शाकल्यऋषि ने वृत्त के 360 अंशों की चर्चा की है और 'ज्या' का मान बतलाया है। इससे यह सिद्ध होता है कि शून्य अंक भारतवर्ष में बहुत पहले ज्ञात हो चुका था। शून्य के ज्ञान के बिना वृत्त और उसके अंश की परिकल्पना नहीं की जा सकती थी। शून्य के महत्त्व को हम कुछ बिन्दुओं के माध्यम से समझ सकते हैं-

- शून्य आकाश की तरह व्यापक और उत्पादक है।
- शून्य एक निष्क्रिय गणित प्रक्रिया है जो अंकों की अनन्त सक्रियता को रूपायित करता है।
- शून्य से ही सारे अंक निकले हैं।
- शून्य वैदिक ज्ञान-विज्ञान की कुक्षी से अवतरित हो कर वैश्विक गणित प्रक्रिया को जन्म देता है।
- शून्य एक ऐसा बिन्दु है जिससे सिन्धु बनता है।
- शून्य दर्शन (वैदिक) और गणित दोनों का वर्ण्य विषय है।

- शून्य विश्व की आकृति का परिचायक है चाहे उसका स्वरूप बिन्दु की तरह हो या वृत्त की तरह।
- 'शून्य आकाश का वाचक है और रेखा पृथ्वी का' शून्य और रेखा यानि आकाश और पृथ्वी के महामिलन से अंकों की उत्पत्ति हुयी।

६.४.१ भारतीय अंक और अंग्रेजी अंक का अन्तर-

भारतीय अंक और अंग्रेजी अंक के सैद्धान्तिक अन्तर को समझना आवश्यक है। यद्यपि भारतवर्ष का ही अंक (गणित) अरब और यूरोप में धीरे धीरे हजार बारह सौ वर्षों में व्यवसाय के माध्यम से पहुँचा था तथापि अंक संकेत में फेर बदल भी कालान्तर में हो गया।

भारतीय अंक	१	२	३	४	५	६	७	८	९
अंग्रेजी अंक	1	2	3	4	5	6	7	8	9

भारतीय अंक में एक की उत्पत्ति आज भी शून्य को दर्शा रही है; जबकि अंग्रेजी अंक एक रेखा मात्र को दिखा रहा है। भारतीय अंकों में 4, 5, 7 और 9 ऊर्ध्वगामी हैं; जबकि अंग्रेजी अंक का 4, 5 समानान्तरगामी और 9 अधोगामी है। 7 भी अधोगामी है। भारतीय अंक 4, 5 अधः से ऊर्ध्व चेतना को रेखांकित करता है।

अंकों की समानता-

भारतीय 6 अंक तथा 3 अंक से अंग्रेजी के 6 एवं 3 अंक संपूर्णतः मेल खाते हैं। अंग्रेजी अंकों में सर्वथा दुर्गति 7 और 9 की है। ये सूक्ष्म स्तर पर हानिकारक तथा अशुभ हो गये हैं। इनका प्रयोग किसी शुभकार्य में नहीं किया जा सकता है।

रोम अंक-

रोम अंक दार्शनिक विचारों से युक्त हैं। इनका स्वरूप निम्नलिखित है-

प पप पपप पअ अ अप अपप अपपप पग ग

यहाँ लघुवृत्त वाले शून्य (0) का प्रयोग नहीं है। यहाँ बिन्दु वाले शून्य (.) का प्रयोग हुआ है। नौ और दश अंक तिर्यक् चेतना वाले हैं। शेष सभी अंक ऊर्ध्व चेतना वाले हैं।

तंत्र में अंक प्रयोग-

भारतवर्ष के ''आगम'' में यंत्र बनाने की प्रक्रिया प्राचीन काल से ही प्रचलित है। यंत्र बनाने में यदि अंग्रेजी अंकों का प्रयोग किया जायेगा तो यह सुनिश्चित है कि उनका प्रभाव नहीं प्राप्त किया जा सकता। अंक सात और नौ ऊपर्ध्वगमन को अधःगमन में बल देंगे। अतः ऐतिहासिक एवं अदृश्यप्रभाव उत्पादक अंकों को भारतीय लिपि में ही लिखना श्रेयस्कर है। अंग्रेजी अंकों को बहुप्रचारित कर देने मात्र से उनकी प्रभावहीनता को दूर नहीं किया जा सकता। साहित्य में प्रयुक्त कूट अंक और अंकों के स्वरूप से उत्पन्न साहित्यिक अभिव्यंजना भी तब मर जायेगी जब हम भारतीय लिपि में अंकों को लिखना बन्द कर देंगे। वे मुहावरे भी विफल हो जायेंगे जो मैत्री को तीरसठ (63) और शत्रुता या विमुखता को छत्तीस (36) के रूप में स्थापित करते हैं।

यजुर्वेद में अंक

1. एका च में तिस्त्रश्चमे तिस्त्रश्च्चमे पंचचमेपपंचचमे सप्तचमे सप्तचमे नवचमे नवचमऽएकादशचमऽएकादशचमे त्रयोदशचमे त्रयोदशचमे पंचदशचमे पंचदशचमे सप्तदशचमे सप्तदशचमे नवदशचमे नवदशचमऽएकविंशतिश्चमऽ-एकविंशतिश्चमे त्रयोविंशतिश्चमे त्रयोविंशतिश्चमे पंचविंशतिश्श्चमे पंचविंशतिश्चमे सप्तविंशतिश्चमे सप्तविंशतिश्चमे नवविंशतिश्चमे नवविंशतिश्चमऽएकत्रिंशच्चमऽएकत्रिंशच्चमे त्रयस्त्रिंशच्चमे यज्ञेन कल्प्पन्ताम्।

2. चतस्त्रश्चमेष्टौचमेष्टौचमे द्वादशचमेद्वादशचमे षोडशचमेषोडशचमे विंशतिश्चमेविंशति श्चमेचतुर्विंशतिश्चमे चतुर्विंशतिश्चमेष्टाविंशति-श्चमेष्टाविंशतिश्चमे द्वात्रिंशच्चमे द्वात्रिंशच्चमे षट्त्रिंशच्चमेषट्त्रिंशच्चमे चत्वारिंशच्चमे चत्वारिंशच्चमे चतुश्चत्वारिंशच्चमे चतुश्चत्वारिं-शच्चमेष्टाचत्वारिंशच्चमे यज्ञेन कल्प्पन्ताम्।।

६.४.२ शून्य के पर्याय

खम्, गगन, आकाश, अम्बर, अभ्र, वियत् व्योम, अंतरिक्ष, नभ, पूर्णम्, रन्ध्र, विष्णुपद, जलधरपथ आदि पर्यायवाची शब्द 'शून्य' के लिए प्रयुक्त हुये हैं तो संख्या के लिए अंक भी कुछ ही वर्षों के अन्दर ढूँढ़ लिये गये होंगे। अतः भारतवर्ष में अंकोत्पत्ति का इतिहास उतना ही पुराना है जितना वेदों का काल प्राचीन है।

६.४.३ अंकस्थान

यजुर्वेद संहिता के सत्तरहवें अध्याय में विशाल संख्या को व्यवस्थित कर उनकी अंकस्थान

संज्ञा निर्धारित की गई है। यह निम्नलिखित रूप में है-

एक, दश, शत, सहस्त्र, दश सहस्त्र, अयुत, दश अयुत, नियुत, दश नियुत, प्रयुत, दश प्रयुत, अंर्बुद, दश अर्बुद, समुद्र, दश समुद्र, मध्य, दश मध्य, अन्त, दश अन्त, परार्धा।

यहाँ 1,00,00,00,00,00,00,00,00,00,0 अंक स्थान तक संज्ञा का निर्धारण हुआ है।

इससे सिद्ध होता है कि वेद काल में ही 20 अंक स्थान तक की गिनती सुनिश्चित हो चुकी थी। संज्ञा के निर्धारण में बाद में काफी फेर बदल भी हुआ है; पर 20 अंक स्थान से अधिक संज्ञा बढ़ाने की चेष्टा किसी भी गणितज्ञ द्वारा नहीं की गई।

अंकों में 'कोटि' शब्द का प्रयोग हुआ तो ज्योतिष और ज्यामिति में भी भुज और कोटि का प्रचलन दिखलाई दिया।

भास्कराचार्य की लीलावती में 18 अंक स्थान तक की संज्ञा दी गयी है; जो निम्नलिखित है-

एक-दश-शत-सहस्त्रा-ऽयुत-लक्ष-प्रयुत-कोटयः क्रमशः।
अर्बुदम्-अब्जं-खर्व-निखर्व-पहापद्य-शंखवस्तस्मात्।।
जलधिश्चान्त्यं मध्यं परार्धमिति दशगुकोत्तराः संज्ञाः।
संख्याया स्थानानां व्यवहारार्थं कृताः पूर्वैः।।

अंक या संख्या का स्थान निर्धारण व्यवहार के लिए पूर्वाचार्यों ने किया है। ये हैं- एक, दश, शत, सहस्त्र, अयुत, लक्ष, प्रयुत, कोटि, अर्बुद, अब्ज, खर्व, निखर्व, महापंच, शंकु, जलधि, अन्त्य, मध्य, परार्धा। ये कुल 18 स्थान हैं। हिन्दु गणित में व्यवहार में 20 अंक स्थान हमेशा प्रचलित रहे हैं। इनकी वर्तमान-कालिकी स्थानसंज्ञा निम्नवत् है-

१	एक	(इकाई)	१
२	दश	(दहाई)	१0
३	शत	(सैकड़ा)	१00
४	सहस्त्र	(हजार, सहस्त्रार)	१000
५	दश सहस्त्र	(दश हजार)	१0000
६	लक्ष	(लाख)	१00000
७	दश लक्ष	(दश लाख)	१000000
८	कोटि	(करोड़)	१0000000

९	दशकोटि	(दश करोड़)	१00000000
१0	अर्बुद	(अरब)	१000000000
११	दश अर्बुद	(दश अरब)	१0000000000
१२	खर्व	(खरब)	१00000000000
१३	दश खर्व	(दश खरब)	१000000000000
१४	नील	(नील)	१0000000000000
१५	दश नील	(दश नील)	१00000000000000
१६	पद्य	(पद्य)	१000000000000000
१७	दशपद्य	(दश पद्य)	१0000000000000000
१८	शंख	(शंख)	१00000000000000000
१९	दश शंख	(दश शंख)	१000000000000000000
२0	महा शंख	(महा शंख)	१0000000000000000000

बाद में जलधि (समुद्र), मध्य और अन्त्य की संज्ञा को बदल कर नील, पद्य, शंख कर दिया गया है। वैदिक शब्द 'परार्ध' श्रेष्ठ शब्द है। इसमें 'अर्धस्य पारम्' का भाव निहित है, अर्थात् लक्ष्यप्राप्ति। अंक स्थान की पूर्णता का वाचक है परार्ध। शंख जलधि से उत्पन्न है; पूर्णता का वाचक नहीं है।

वैदिक ज्ञान समृद्धि में न्यूनता और अपूर्णता खोजने वाले इतिहासकारों के द्वारा यह घोषित करना कि 'शून्य बहुत बाद में खोजा गया' एक मूर्खतापूर्ण विद्वेषभाव का परिचायक है। भारतवर्ष में अंकों की परम्परा वैदिक ज्ञान की धारा से ही पुष्ट हुयी है। अंकों का सनातन संस्कृति में इतना समादर है कि ये ब्रह्म, रुद्र, विष्णु, शक्ति आदि के अर्थ में भी रुढ़ हो गये। अपने अंकों को बचाना, उन्हें जीवित रखना अपनी संस्कृति को जीवित रखने के तुल्य है।

६.५ दार्शनिक प्रणाली

गणितीय संक्रियाओं से प्रथम प्रकार के शून्य की उपलब्धि

सर्वप्रथम 628 ई. के महान् गणितज्ञ ब्रह्मगुप्त ने गणितीय संक्रियाओं द्वारा इस प्रथम अभावरूप शून्य को उपलब्ध करने का यह प्रकार बताया है–

धनयोर्धनमृणमृणयोर्धनर्णयोरन्तरं समैक्यं खम्।

(ब्राह्मस्फुट–सिद्धान्त 18.30)

अर्थात् दो समान धन संख्याओं में से एक धन संख्या का अन्तर दो समान ऋण संख्याओं में से एक ऋण संख्या का अन्तर तथा क्रमशः धन, ऋण चिन्ह वाली दो समान संख्याओं के योग का परिणाम 'ख' अथवा शून्य होता है। इस प्रकार–

$+5 - (+5) = 0$

$-5 - (-5) = 0$

$+5 + (-5) = 0$

यह शून्य अन्य संख्याओं के साथ गणितीय संक्रिया द्वारा अनेक परिणाम उपस्थित करता है।

ब्रह्मगुप्त के पश्चात् त्रिशतिकाकार श्रीधराचार्य ने गुणन की संक्रियाओं द्वारा इस प्रकार के शून्य को प्राप्त करने का यह उपाय बताया है–

खस्य गुणनादिके खं संगुणने खेन च खमेव।

(त्रिशतिका सूत्र 8)

अर्थात् शून्य को किसी राशि से गुणा इत्यादि करने पर या शून्य से किसी राशि को गुणित करने पर परिणाम शून्य ही होता है। इस प्रकार उन्होंने दो परिस्थितियों की संकल्पना की है तथा उन दोनों से एक ही परिणाम प्राप्त किये हैं। जैसे–

$0 \times 5 = 0$ सही है; क्योंकि $\frac{0}{5} = 0$

इस गुणन के सही सिद्ध होने पर गुणन में क्रम विनिमेय गुण लागू होने के कारण $5 \times 0 = 0$ भी सिद्ध होता है।

यहाँ त्रिशतिकाकार ने आदि पद के प्रयोग से यह प्रकट किया है कि शून्य का वर्ग, वर्गमूल, घन, घनमूल इत्यादि भी शून्य होता है। भास्कराचार्य का भी ऐसा ही मानना है[1]। अतः–

$0^2 = \sqrt{0}, 0^3 = \sqrt[3]{0} = 0$।

साथ ही यहाँ त्रिशतिकाकार ने 'आदि' पद से यह भी ध्वनित किया है कि शून्य को किसी राशि से भाग देने पर भी उसका परिणाम शून्य होता है। इस तथ्य को हम पूर्वोक्त रीति से विपरीत क्रम से सही सिद्ध कर सकते हैं–

$\frac{0}{5} = 0$ सही है; क्योंकि $0 \times 5 = 0$

इसी प्रकार $\frac{0}{-5} = 0$; क्योंकि $0 \times -5 = 0$

पर त्रिशतिकाकार ने शून्य से किसी राशि को भाग देने पर उसके परिणाम के विषय में सावधानीपूर्वक कुछ नहीं कहा है। सम्भव है त्रिशतिकाकार को इसके परिणाम के अपरिभाष्य होने का आभास रहा हो। आधुनिक गणित में इस संक्रिया का प्रतिषेध किया जाता है[1]; क्योंकि यह संक्रिया हमें एक गलत निष्कर्ष की ओर प्रेरित करती है। यदि हम इस संक्रिया को करते हुए $\frac{5}{0} = 0$ ऐसा कहें तो पूर्वोक्त रीति से यह कहना होगा कि $0 \times 0 = 5$ जो कि सर्वथा गलत है। सभी प्राचीन या अद्यतन विद्वान् 0×0 या $0^2 = 0$ ही मानते हैं, जैसे ऊपर दिखाया गया है। अतः यह संक्रिया प्रतिषद्ध है।

पर महावीराचार्य आदि कुछ विद्वानों ने शून्य से किसी राशि को भाग देने का परिणाम शून्य बताया है[2]। इसे आधुनिक गणित में उपरिलिखित कारण से स्वीकार नहीं किया जाता।

इस प्रकार शून्य के अभाव सूचक होने से भारतीय गणित में 'अंक' शब्द 9 अर्थ को प्रकट करता है[3]। पर जैसा कि ऊपर कहा गया कि महर्षि यास्क ने शून्य के अलग प्रतीक चिन्ह होने, गणितीय संक्रियाओं में भाग लेने, दशगुणोत्तर पद्धति में स्थानीय मान निर्धारण हेतु इसका उपयोग होने से इसे 9 से अतिरिक्त अन्तिम अंक के रूप में स्वीकार किया है।

उपरिलिखित सभी संक्रियाओं से अभावरूप शून्य की प्राप्ति होती है तथापि यह विविध संक्रियाओं से सम्बद्ध होकर अनेक प्रकार के परिणाम उपलब्ध करा सकता है। अतः यह प्रथम प्रकार का शून्य है।

गणितीय संक्रियाओं से द्वितीय प्रकार के शून्य की उपलब्धि

सर्वप्रथम ब्रह्मगुप्त ने यह भी बताया कि शून्य से विभाजन की संक्रिया से उसका परिणाम 'अनन्त' प्राप्त होता है। इसका उन्होंने पारिभाषिक रूप से 'तच्छेद' नाम दिया। श्लोक इस प्रकार है–

खोद्धृतमृणं धनं वा तच्छेदम्। (ब्रा.स्फु.सि. 18.35)

कोई धन संख्या या ऋण संख्या ख अर्थात् शून्य से विभक्त हो तो उसका परिणाम तच्छेद या अनन्त प्राप्त होता है।

इसका अनुसरण करते हुए भास्कराचार्य ने अलग–अलग शब्दों में यही तथ्य प्रकट किया है–

खहारो भवेत् खेन भक्तश्च राशिः।

(भास्करीय बीज गणित, श्लोक 3)

खभाजितो राशि खहरः स्यात्।

(लीलावती, शून्य परिकर्म श्लोक 1)

अर्थात् ख या शून्य से विभाजित राशि खहर या अनन्त या परममहान् होती है। इस प्रकार यहाँ अनन्त को खहर यह अन्वर्थ पारिभाषिक नाम दिया है।

लीलावती के टीकाकार रंगनाथ आदि ने इसकी उत्पत्ति यह बताई है कि किसी भी संख्या को अल्प, अल्पतर, अल्पतम से भाग देने पर उसका भागफल क्रमशः महत्, महत्तम होता है। अतः 'परमाल्प' माने जाने वाले शून्य से भाग का परिणाम अवश्य ही परममहान् होगा, जो कि अनन्त है[1]।

यह स्थिति बहुत विचित्र है। 1 से नीचे उत्तरोत्तर दशमलव संख्याओं के द्वारा हम शून्य के समीप, समीपतर पहुँचते हैं। यह संख्या शून्य के जितना समीप होती है, उससे विभाजित राशि का भागफल उतना ही अधिक होता है। जैसे–

$$\frac{5}{.5} = 10, \frac{5}{0.1} = 50, \frac{5}{0.01} = 500, \frac{5}{0.001} = 5000$$

यह प्रक्रिया कभी रुकती नहीं। अतः निश्चय ही परमाल्प से विभाजित करने का परिणाम परममहान् या अनन्त होगा।

इस सम्पूर्ण परिस्थिति को ध्यान में रखकर भास्कराचार्य ने शून्य से विभाजित संख्या को पारिभाषिक अन्वर्थ 'खहर' नाम दिया है तथा इसे अन्यत्र 'अनन्त' के रूप में निरूपित किया है। यहाँ निश्चय ही 'ख' का अर्थ अभावरूप शून्य नहीं, अपितु 'परमाल्प संख्या' है। किसी संख्या से पूर्व दशमलव बिन्दु के बीच शून्यों के बढ़ाने की कोई सीमा नहीं हो सकती। इस प्रक्रिया में हम 'अनन्त परमाल्प' को प्राप्त करते हैं। यह धनात्मक या भाव संख्या है। इससे विभाजित करने पर पूर्वोक्त प्रक्रिया से 'अनन्त परममहान्' को प्राप्त करते हैं।

भास्कराचार्य भली भाँति जानते थे कि अभावरूप शून्य से विभाजित करना परिभाष्य नहीं है। अतः उन्होंने से संक्रिया का वह परिणाम नहीं बताया जिसे महावीराचार्य आदि ने माना था। उन्होंने जो भी परिणाम बताया है, वह परमाल्प अर्थ वाले 'ख' के प्रति सुसंगत है। अतः आधुनिक गणित की भाषा में उनका आशय यह है कि धनात्मक मूल्य वाली शून्य की

ओर अग्रसर परमाल्प संख्या से किसी राशि को विभाजित करने पर उसका परिणाम परममहान् या अनन्त होता है। इस स्थिति में 5 को 0 से विभाजित करने का आशय आधुनिक संकेत में इस प्रकार होगा–

इस अनन्त की विशेषता को उन्होंने इस प्रकार प्रकट किया है–

अस्मिन् विकारः खहरे न राशावपि प्रविष्टेष्वपि निःसृतेषु।
बहुष्वपि स्याल्लयसृष्टिकालेऽनन्तेऽच्युते भूतगणेषु यद्वत।।

(भास्करीय बीज–गणित, श्लोक 4)

अर्थात् इस खहर या अनन्त संख्या में चाहे कोई भी संख्या प्रविष्ट या निःसृत हो, इसमें कोई विकार नहीं होता। जिस प्रकार प्रलय काल में अनन्त परमेश्वर में पदार्थों के विलीन होने पर अथवा सृष्टि काल में उससे पदार्थों के उद्भूत होने पर उस अच्युत या अनन्त में कोई विकार नहीं आता। गणितशास्त्र में भी इस अनन्त मेंर किसी भी संख्या के जोड़ने या घटाने पर वह संख्या पूर्ववत् अनन्त बनी रहती है।

इसके साथ ही उन्होंने 'परमाल्प' के साथ इस गणितीय संक्रिया का भी उल्लेख किया है–

शून्ये गुणके जाते खं हारश्चेत् पुनस्तदा राशिः।

अविकृत एव ज्ञेयस्तथैव खेनोनितश्च युतः।।

(लीलावती, शून्यपरिकर्म, श्लोक 2)

अर्थात् यदि किसी राशि को शून्य से गुणा तथा उसी से विभाजित किया जावे तो वह राशि उसी प्रकार अविकृत या अपरिवर्तित बनी रहती है। जैसे किसी राशि में शून्य को जोड़ने या उसमें से शून्य को घटाने पर होता है।

इसके लिये उनके द्वारा प्रस्तुत उदाहरण को सरल करने पर इस प्रकार लिखते हैं[1]–

$$\frac{9x \times 0}{2 \times 0} = 63 \quad \Rightarrow x = 14$$

उनके आशय को अद्यतन संकेत लिपि मेंर इस प्रकार प्रकट करते हैं–

$$\ldots\ldots\ldots\ldots\ldots\ldots\ldots\ldots \frac{9x}{2} \times \frac{h}{h} = 63 \quad \Rightarrow x = 14$$

परमाल्प के साथ ये दोनों गणितीय संक्रियाएँ सर्वथा समुचित हैं। ऊपर देखा गया कि किसी राशि को अल्पतर, अल्पतम से विभाजित करने पर उसका परिणाम वर्धमान क्रम में

अधिकतर, अधिकतम होता है। साथ ही यह भी सच है कि अल्पतर या महत्तर किसी भी क्रम की ओर अग्रसर संख्या को उसी अल्पतर या महत्तर से विभाजित करने पर उसका परिणाम सदा 1 होता है। इससे किसी भी राशि को गुणित करने पर उस राशि पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अतः प्रस्तुत संक्रिया से वह राशि अपरिवर्तित रूप से 63 बनी रहती है।

इस अध्याय में ऊपर उल्लिखित बृहदारण्यक उपनिषद् 5.1.1 के मन्त्र में इसी अनन्त या पूर्ण का निरूपण है। उस अनन्त में किसी के भी योग या व्यवकलन से वह अविकृत या पूर्ण बना रहता है। वास्तव में वेदान्त सिद्धान्त की यह बहुत सुन्दर गणितीय व्याख्या है। उस अनन्त के सामने सागर की बूँदें या बालू के कणों को प्रकट करने वाली विशाल संख्याएँ सर्वथा तुच्छ हैं। वस्तुतः उस अनन्त के साथ अपादान, अधिकरण आदि कारकों का प्रयोग सर्वथा निरर्थक है। हम केवल अपने दैनिक अभ्यास वश ऐसा प्रयोग करते हैं।

यह बहुत सुखद एवं आनन्द का विषय है कि भारतीय मनीषा ने वेदान्त से गणित शास्त्र को तथा गणित से वेदान्त सिद्धान्त को सम्पुष्ट किया है।

संख्या–शब्दों के विकास का दाशमिक आधार

वेदों में संख्या–शब्दों का क्रम तथा उनकी व्युत्पत्तियों से विदित होता है कि ये शब्द मूलतः दाशमिक आधार पर अनेक पद्धतियों द्वारा विकसित किये गए हैं। इन पद्धतियों का क्रमशः निरूपण इस प्रकार है–

1. दशगुणोत्तर पद्धति

यजुर्वेद 17.2 के पूर्वोल्लिखित मन्त्र में दश, शत, सहस्त्र आदि सभी अगली संख्याएँ पिछली संख्याओं के सापेक्ष दशगुणित मान को प्रकट करती हैं। महर्षि यास्क की व्युत्पत्ति से प्रकट है कि ये शब्द इसी अवधारणा से परिचालित हैं। एक निर्वचन इस प्रकार है–

शतं दश दशतः–निरुक्त 3.10

अर्थात् दस गुणित दस के कारण शत नाम है। इस प्रकार 10 **x** 10 = 100 यह संक्रिया यहाँ सन्निहित है।

2. दशैकादिगुणोत्तर पद्धति

पाणिनि ने विंशति, त्रिंशत् आदि का क्रमशः उल्लेख किया है। वेद में भी इनका अलग–अलग उल्लेख है। ये संख्याएँ 10 का 2, 3 आदि के साथ क्रमशः गुणनफल के द्वारा विकसित है। निरुक्तकार के निर्वचन से यह प्रकट है–

विंशतिर्द्विर्दशतः–निरुक्त 3.10

अर्थात् 10 का 2 बार गुणित होने से विंशति नाम है। अतः इस शब्द में 10 x 2 = 20 संक्रिया अन्तर्निहित है। आगे के शब्दों के लिये भी व्याख्याकारों ने समकक्ष व्युत्पत्तियाँ दी हैं[1]।

3. दशैकादि–गुणयोगोत्तर पद्धति

इसके उदाहरण एकविंशति, त्रयोविंशति आदि हैं। ये शब्द दस का एक आदि के साथ गुणनफल का एक आदि के साथ योग से विकसित हैं। व्याकरण में द्वन्द्व समास द्वारा इन्हें अनुशासित करते हुए इन संक्रियाओं का संकेत दिया है। इस प्रकार पंचविंशति में 5 + (10 x 2) संक्रिया अन्तर्निहित है। इस क्रम को आगे बढ़ाते हुए वेद में शतैकादि–गुणयोगोत्तर पद्धति के अनुसार 720 के लिये 'सप्त शतानि विंशतिः' जैसे प्रयोग भी प्राप्त हैं[2]।

संख्याओं के इस वैज्ञानिक क्रम में गणित–शास्त्र के क्रमचय (permutation) तथा आवर्तन (repetition) के बढ़िया उदाहरण प्राप्त होते हैं। आगे चलकर भारतीय गणितर में 'अंक पाश' के अन्तर्गत इनका बहुत विकास किया गया।

4. दशैकादियोगोत्तर पद्धति

यजुर्वेद के एक मन्त्र में एकादश, त्रयोदश आदि विषम संख्याओं का क्रमशः उल्लेख प्राप्त है[1]। ये सभी 10 के 1 आदि के साथ योग से निर्मित हुई हैं।

तृतीय चतुर्थ उपभेद केर द्विविध प्रकार

वेद में 'योग का क्रम–विनिमेय गुण' (Commutative law of addition) नामक गणितीय नियम के अनुसार तृतीय उपभेद की संख्याओं के लिये दो प्रकार के सम्बोधन प्रदान किये हैं–

(क) एकादिपूर्व दशाद्युत्तर

इसके उदाहरण पूर्वोल्लिखित मन्त्र में एकादश, त्रयोदश आदि हैं। संस्कृत की संख्या–माला प्रायः इस पद्धति का अनुसरण करते हुए निर्मित है। इंग्लिश में भी fifteen, sixteen आदि में इस पद्धति के चिन्ह देखे जा सकते हैं।

इनमें भी नवपूर्व संख्याओं के लिये पुनः दो प्रकार के प्रयोग विकसित हुए। प्रथम के लिये वेद में नवविंशति, नवाशीति, नवनवति आदि उदाहरण प्राप्त हैं। इसका अनुसरण करते हुए हिन्दी में नवासी, निन्यानवे जैसे प्रयोग प्रचलित हुए हैं।

दूसरे प्रकार के प्रयोग 'ऊन' शब्द के द्वारा विकसित किये गए हैं। वेद में पूर्ण के विपरीत न्यून अर्थ में ऊन का प्रयोग प्राप्त है[2]। इसके आधार पर 'एकोनविंशति' जैसे प्रयोग भी वेद में वर्तमान हैं। इसका अनुसरण करते हुए हिन्दी में उन्नीस, उनतीस आदि शब्द विकसित हैं।

आगे चलकर पाणिनि ने 'एकान्नविंशतिः' प्रयोग की भी सूचना दी है। इसका आसान विग्रह 'एकात् न विंशतिः' अर्थात् एक के कारण बीस नहीं यह हो सकता है। इस स्थिति में इसमें 20 − 1 = 19 यह व्यवकलन की संक्रिया अन्तर्निहित है। यहाँ व्याकरण में नियम है कि इस प्रकार प्रसज्य प्रतिषेध से निर्मित एक शब्द समस्त होकर संज्ञावाचक नहीं बन सकता। इस व्याकरणिक विवशता केर कारण पाणिनि ने इस शब्द को अदुक् आगम द्वारा अनुशासित किया है[1]।

(ख) दशादि पूर्व एकाद्युत्तर

इस विधा को प्रकट करने के लिये वेद का एक मन्त्रांश इस प्रकार है–

जघान नवतीर्नव–ऋग्वेद 1.184.13

यहाँ दशनवगुणित संख्या को पहले तथा नव का बाद में प्रयोग किया गया है। इग्लिश की संख्या–माला में प्रायः इस विधा का अनुसरण करते हुए **twenty one** आदि संख्याएँ विकसित हैं।

इस विवरण से प्रकट है कि भारतीय संख्या–माला का क्रम, उनका नाम तथा व्युत्पत्तियाँ अत्यन्त वैज्ञानिक हैं।

बोध प्रश्न : -

1. वेदों के अनुसार अनुपलब्ध वस्तुओं को चाहने वाले को क्या कहते हैं।
   क. चिन्तक ख. शून्यैषी ग. जैनी घ. वैदिक
2. समस्त अंकों की उत्पत्ति किससे हुई है।
   क. आकाश से ख. पृथ्वी से ग. ० से घ. उपर्युक्त सभी
3. पूर्णमिदः पूर्णमिदं ..... 0 श्लोक किसका है।

क. वृहदारण्यकोपनिषद ख. इशोपनिषद ग. केनोपनिषद घ. कठोपनिषद

4. निम्न में आकाश का अर्थ है -

क. शून्य ख. अनन्त ग. असीमित घ. सभी

5. सहस्र का अर्थ होता है।

क. हजार ख. लाख ग. करोड़ घ. अरब

6. अर्बुद का शाब्दिक अर्थ होता है-

क. अरब ख. खरब ग. करोड़ घ.हजार

६.५ सारांश

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आपने जान लिया है आज सम्पूर्ण भारतवर्ष में अंग्रेजी अंकों का प्रचलन इतने तीव्र वेग से बढ़ा है कि प्राचीन भारतीय अंकों का धीरे-धीरे प्रयोग कम से कम होने लगा है। आजकल इन अंग्रेजी अंकों को कुछ लोग भ्रमवश 'रोमन अंक' नाम से भी अभिहित कर रहे हैं। किसी भी गणितीय प्रक्रिया और गणितीय चिन्ह को सर्वथा विस्मृत होने और लुप्त होने में दो सौ से तीन सौ वर्ष लगते हैं। अतः यदि अंग्रेजी अंकों के प्रसार और प्रयोग की यही गति और स्थिति बनी रही तो भारतीय अंकों के विलुप्त होने का खतरा उभर पड़ेगा। व्यवहार में ऐसा इसलिए हो रहा है; क्योंकि अंग्रेजी शिक्षा के बढ़ते प्रभाव के कारण ज्यादातर लोग उन्हीं अंकों को जानते हैं जिन्हें वे कान्वेन्टों या स्कूलों में सीखते हैं। आज बैंकों, वाणिज्यिक प्रतिष्ठानों तथा छापखाने एवं आफसेट मशीन के प्रयोगों में अंग्रेजी अंकों की उपलब्धता आसान है। यहाँ तक की पादटिप्पणियों एवं वेदमंत्रों की संख्या लिखते समय भी अंग्रेजी अंकों का ही प्रयोग किया जा रहा है। यह स्थिति अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण है। अंग्रेजी अंकों को रोमन अंक भी कहना न्यायसंगत नहीं है; क्योंकि पाँचवी शताब्दी में रोम पराजित हो कर कंस्तुताइन राजा के कार्यकाल में अपना प्राचीन स्वरूप बोध विस्मृत कर चुका है। पाँचवी शताब्दी से पूर्व का रोम और उसके बाद के रोम में सभ्यतागत अनेक

बदलाव आ चुके हैं। शून्य समस्त अंकों की उत्पत्ति का मूल है।

वेद में शून्य का प्रयोग उपलब्ध है। वहाँ किसी अनुपलब्ध वस्तु को चाहने वाले के लिये 'शून्यैषी' का प्रयोग किया गया है।

६.६ पारिभाषिक शब्दावली

शून्य – ० को कहते है। समस्त अंकों की उत्पत्ति इसी से हुई है।

शून्यैषी - अनुपलब्ध वस्तु को चाहने वाले को शून्यैषी कहते है।

अंक – ०,१,२,३ ..... आदि को अंक कहते है।

शतकम् – जो चलता नहीं अर्थात् स्थिर

सहस्र – हजार

लक्ष – लाख

अर्बुद – अरब

खर्बुद – खरब

६.७ बोध प्रश्नों के उत्तर

1. ख
2. ग
3. क
4. घ
5. क
6. क

६.८ सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. ज्योतिष शास्त्र – डॉ. कामेश्वर उपाध्याय
2. गणित शास्त्र की भारतीय परम्परा -
3. ग्रहगति का क्रमिक विकास – पं. रामजन्म मिश्र
4. वैदिक गणित

६.९ सहायक पाठ्यसामग्री

1. ज्योतिष शास्त्र – डॉ. कामेश्वर उपाध्याय
2. गणित शास्त्र की भारतीय परम्परा -
3. ग्रहगति का क्रमिक विकास – पं. रामजन्म मिश्र

4. वैदिक गणित

5. जैन दर्शन

६.१० निबन्धात्मक प्रश्न

1. शून्य से आप क्या समझते है? स्पष्ट कीजिये।

2. वेदों एवं साहित्यों में प्रतिपादित शून्य का वर्णन कीजिये।

3. शून्य की महत्ता प्रतिपादित कीजिये।

4. अंको की उत्पत्ति पर प्रकाश डालिये।

5. शून्य एवं दार्शनिक प्रणाली का प्रतिपादन कीजिये।

खण्ड - 4
अष्टक वर्ग विवेचन

इकाई - 1 अष्टकवर्ग की अवधारणा

इकाई की संरचना

१.१ प्रस्तावना

१.२ उद्देश्य

१.३ अष्टकवर्ग परिचय

१.४ अष्टक वर्ग की अवधारणा

१.५ सारांश

१.६ पारिभाषिक शब्दावली

१.७ बोध प्रश्नों के उत्तर

१.८ सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१.९ सहायक पाठ्यसामग्री

१.१० निबन्धात्मक प्रश्न

१.१ प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई एमएजेवाई- 203 के चतुर्थ खण्ड की पहली इकाई से सम्बन्धित है। इस इकाई का शीर्षक है – अष्टक वर्ग की अवधारणा। इसके पूर्व की इकाईयों में आपने सिद्धान्त ज्योतिष के कई सिद्धान्तों का अध्ययन कर लिया है। अब आप ज्योतिष के प्रमुख गणितीय अवयव अष्टक वर्ग से अवगत होने जा रहे है।

सूर्यादि समस्त ग्रहों का अष्टक वर्ग साधन बतलाया गया है। ग्रहों के अष्टक वर्ग क्या है। उसका गणितीय साधन कैसे किया जाता है। उसका फलित पक्ष क्या है। उपयुक्त सभी विषय आपको इस इकाई में मिलेंगे।

अत: आइए इस इकाई में हम सभी अष्टक वर्ग की अवधारणा से सम्बन्धित गणितीय एवं उसका सैद्धान्तिक पक्ष का विस्तार से अध्ययन करते हैं।

१.२ उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप जान लेंगे कि –

- अष्टक वर्ग की परिभाषा क्या है।
- अष्टक वर्ग का साधन कैसे किया जाता है।
- अष्टक वर्ग की अवधारणा क्या है।
- अष्टक वर्ग का फलित पक्ष कैसा है।
- सूर्यादिक समस्त ग्रहों के अष्टक वर्ग से परिचित हो जायेंगे।

१.३ अष्टकवर्ग परिचय

जन्माङ्ग चक्र व्यक्ति के जन्मकालिक गगनमण्डल का ऐसा मानचित्र होता है जो तत्कालीन ग्रहस्थिति को दर्शाता है। व्यक्ति निरन्तर परिवर्तनशील ग्रहस्थिति, जिसे गोचर कहते हैं, से भी प्रभावित होता है। इष्ट समय में ग्रहस्थिति को दर्शाने वाला गगनमण्डल का मानचित्र गोचरचक्र या गोचरकुण्डली के नाम से जाना जाता है। जन्माङ्ग में कोई ग्रह यदि शुभद स्थिति में हो और गोचरकुण्डली में भी

सुखद स्थिति में हो तो उस ग्रह का पूर्ण शुभ फल जातक को प्राप्त होता है। किन्तु यदि उक्त ग्रह गोचरकुण्डली में शुभद स्थिति में नहीं है तो उस ग्रह के फल में न्यूनता आती है या नेष्ट फल को स्पष्टता से जानने के लिए **अष्टकवर्ग** का निरूपण पूर्वाचार्यों द्वारा किया गया है।

ग्रह अपनी गति से अविराम चलते हुए द्वादश राशियों को संयमित करते हैं। जन्म के समय जिन राशियों में वे स्थित होते हैं उसके आगे चलते हुए कुछ राशियों में वे शुभ फल और कुछ राशियों में नेष्ट फल देते है। जिन राशियों में वे शुभ फल देते हैं उसे बिन्दु (०) के द्वारा और जिनमें नेष्ट फल देते हैं उसे रेखा (।) के द्वारा चिन्हित करने की प्रथा है। पराशरादि कतिपय आचार्यों ने इसके विपरीत शुभप्रद राशि में रेखा में (।) और पापफलद राशियों में बिन्दु (०) चिन्ह अंकित करने का निर्देश किया है। जातकपारिजात ग्रन्थ में शुभ स्थान में बिन्दु (०) और अशुभ स्थान में रेखा (।) चिह्न लगाने का निर्देश आचार्य ने किया है। जैसे सूर्य अपनी राशि में अपनी राशि से दूसरी, चौथी, सातवीं, आठवीं, नवीं, दसवीं और ग्यारहवीं राशि में शुभ फल देता है। अतः इन राशियों में रेखा (।) चिन्ह लगाना चाहिए। इसी प्रकार अन्य ग्रहों के शुभाशुभ फलानुसार बिन्दु और रेखा लगाने से अष्टकवर्ग चक्र तैयार होता है।

अब यहाँ सूर्यादि सप्त ग्रह और लग्न इन आठों के वर्ग का विचार करने के कारण ही फलादेश की इस पद्धति को **'अष्टकवर्ग'** कहते हैं।

सर्वप्रथम लघुजातक में वराहमिहिराचार्य द्वारा उल्लिखित ग्रहों के अष्टकवर्ग को हम यहाँ समझते है -

सूर्याष्टक वर्ग –

केन्द्रायाष्टद्विनवस्वर्कः स्वादार्किभौमतश्च शुभः।
षट्सप्तान्त्येषु सितात् षडायधीधर्मगो जीवात्।।
उपचयगोऽर्कश्चन्द्रादुपचयनवमान्त्यधीगतः सौम्यात्।
लग्नादुपचयबन्धुव्ययस्थितः शोभनः प्रोक्तः।।

अर्थात् सूर्य, अपने स्थान एवं शनि और मंगल से १। ४।७।१०।११।८।२।९ इन स्थानों में शुभ होता है। रवि शुक्र से ६।७।१२ स्थानों में शुभ, गुरु से ६।११।५।९ स्थानों में शुभ, चन्द्रमा से उपचय ३।६।११।१० स्थानों में शुभ, बुध से ३।६।११।१०।९।१२।५ स्थानों में शुभ तथा लग्न से ३।६।११।१०।४।१२ स्थानों में शुभ होता है।

चन्द्राष्टक वर्ग –

शश्युपचयेषु लग्नात्साद्यमुनिः स्वात्कुजात्स्वनवधीषु।

सूर्यात् साष्टस्मरगस्त्रिषडायसुतेषु सूर्यसुतात्।।
ज्ञात केन्द्रत्रिसुतायाष्टगो गुरोर्व्ययायमृत्युकेन्द्रेषु।
त्रिचतु: सुतनवदशमद्युनायगश्चन्द्रमा: शुक्रात्।।

अर्थात् लग्न से ३।६।११।१० स्थानों में चन्द्रमा शुभ होता है। चन्द्रमा अपने स्थान से ३।६।११।१०।१।७ स्थानों में शुभ, भौम से ३।६।११।१०।२।९।५ स्थानों में शुभ, सूर्य से ३।६।११।१०।८।७ स्थानों में शुभ, शनि से ३।६।११।५ इन स्थानों में शुभ, बुध से १।४।७।१०।३।५।११।८ स्थानों में शुभ, वृहस्पति से १२।११।८।१।४।७।१० स्थानों में एवं शुक्र से ३।४।५।९।१०।७।११ स्थानों में शुभ होता है।

भौमाष्टक वर्ग –

भौम: स्वादायस्वाष्टकेन्द्रगस्त्रयायषट्सुतेषु बुधात्।
जीवाद् दशाय शत्रु व्ययेष्विनादुपचय सुतेषु।।
उदयादुपचयतुनुषु त्रिषडायेष्विन्दुत: समो दशम:।
भृगुतोऽन्त्यषडष्टायेष्वसितात् केन्द्रायनववसुषु।।

भौम अपने स्थान से ११।२।८।१।४।७।१० स्थानों में शुभ, बुध से ३।११।६।५ स्थानों में शुभ, वृहस्पति से १०।११।६।१२ स्थानों में शुभ, सूर्य से ३।६।११।१०।५ स्थानों में शुभ, लग्न से ३।६।११।१०।१ स्थानों में शुभ और चन्द्रमा से ३।६।११ स्थानों में रहने पर शुभ होता है। चन्द्रमा से भौम दशम स्थान में हो तो सम होता है। शुक्र से १२।६।८।११ स्थानों में शुभ और शनि से १।४।७।१०।११।९।८ स्थानों में भौम स्थित रहने पर शुभ होता है।

बुधाष्टक वर्ग –

सौम्योऽन्त्यषण्णवायात्मजेष्विनात् स्वात् त्रितदुदशयुतेषु।
चन्द्रादद्विरिपुदशायाष्टसुखगत: स्वात् सादिषु विलग्नात्।।
प्रथमसुखायद्विनिधनधर्मेषु सितात् त्रिधीसमेतेषु।
साशास्मरेषु सौरारयोर्व्ययायरिपुवसुषु गुरो:।।

श्लोकार्थ है कि रवि से १२।६।९।११।५ स्थानों में बुध शुभ होता है। बुध अपने स्थान से १२।६।९।११।५।३।१।१० स्थानों में शुभ, चन्द्रमा से २।६।१०।११।८।४ स्थानों में शुभ, लग्न से २।६।१०।१।८।४।१ स्थानों में शुभ, शुक्र से १।४।११।२।८।९।३।५ स्थानों में शुभ, शनि एवं भौम से १।४।११।२।८।९।३।५।१०।७ स्थानों में शुभ, तथा गुरु से १२।१।६।८ स्थानों में स्थित रहने पर शुभ होता है।

गुर्वष्टक वर्ग –

जीवो भौमाद् द्वयायाष्टकेन्द्रगोऽर्कात् सधर्मसहजेषु।
स्वात् सत्रिकेषु शुक्रान्नवदशलाभस्वधीरिपुषु।।
शशिनः स्वरत्रिकोणार्थलाभगस्त्रिरिपुधीव्ययेयु यमात्।
नवदिक्सुखाद्यधीस्वायशत्रुषु ज्ञात् सकामगो लग्नात्।।

भौम से २।१।८।१।४।७।१० स्थानों में वृहस्पति स्थित रहने पर शुभ होता है। सूर्य से २।१।८।१।४।७।१०।९।३ स्थानों में, गुरु अपने स्थान से २।१।८।१।४।७।१०।३ स्थानों में, शुक्र से ९।१०।११।२।५।६ स्थानों में , चन्द्रमा से ७।९।५।२।११ स्थानों में, शनि से ३।५।६।१२ स्थानों में, बुध से ९।१०।४।१।५।२।११।६ स्थानों में तथा लग्न से ९।१०।४।१।५।२।११।६।७ स्थानों में स्थित रहने पर वृहस्पति शुभ होता है।

शुक्राष्टक वर्ग –

शुक्रो लग्नादासुतनवाष्टलाभेषु सव्वयश्चन्द्रात्।
स्वात् सदिगसितात् त्रिसुखात्मजाष्टदिग्धर्मलाभेषु।।
वस्वन्त्यायेष्वर्कान्नवदिग्लाभाष्टधीस्थितो जीवात्।
ज्ञात् त्रिसुतनवायारिष्वायसुतापोक्लिमेषु कुजात्।।

लग्न से १।२।३।४।५।९।८।११ स्थानों में स्थित शुक्र शुभ होता है। चन्द्रमा से १।२।३।४।५।९।।११।१२ स्थानों में, शुक्र अपने स्थान से १।२।३।४।५।९।८।११।० स्थानों में, शनि से ३।४।५।८।१०।९।११ स्थानों में, सूर्य से ८।१२।११ स्थानों में, वृहस्पति से ९।१०।११।८।५ स्थानों में, बुध से ३।५।९।११।६ स्थानों में तथा भौम से ११।५।३।६।९।१२ स्थानों में स्थित शुक्र शुभ होता है।

शन्यष्टकवर्ग –

स्वात् सौरिस्त्रिसुतायारिगः कुजादन्त्यकर्मसहितेषु।
स्वायाष्टकेन्द्रगोऽर्काच्छुक्रात् षष्ठान्त्यलाभेषु।।
त्रिषडायगः शशांकादुदयात् ससुखाद्यकर्मगोऽथ गुरोः।
सुतषट्व्ययायगो ज्ञात् व्ययारिपुदिंगनवाष्टस्थः।।

शनि अपने स्थान से ३।५।११।६ स्थानों में शुभ होता है। भौम ३।५।११।६।१२।१० स्थानों में, रवि २।११।८।१।४।७।१० स्थानों में, शुक्र ६।१२।११ स्थानों में, चन्द्रमा ३।६।११ स्थानों में, लग्न

३।६।१।४।१।१० स्थानों में, वृहस्पति ५।६।१२।१ स्थानों में तथा बुध १२।११।६।१०।९।८ स्थानों में स्थित शनि शुभ होता है।

अष्टक वर्ग फल –

स्थानेष्वेतेषु शुभा: शेषेष्वहिता भवन्ति चाष्टानाम्।
अशुभशुभविशेषफलं ग्रहा: प्रयच्छन्ति चारगता:।।

अर्थात् पूर्व में बतलाये गये स्थानों में स्थित ग्रह शुभ और शेष स्थानों में ग्रह अशुभ होते हैं। इस प्रकार आठों स्थानों से शुभ और अशुभ को चिह्नित कर जिस स्थान में अशुभ ग्रह अधिक हों, उस स्थान में चारवश ग्रह जाते हैं, तो अशुभ फल एवं जिस स्थान में शुभ ग्रह अधिक हों उस स्थान में चारवश ग्रह जाते हैं,तो शुभ फल प्रदान करते हैं।

वृहत्पराशरहोराशास्त्र ग्रन्थ के अनुसार अष्टक वर्ग विचार -

जिस प्रकार लग्न तथा चन्द्रमा से ग्रहों के द्वादश भावस्थ ग्रहों का शुभाशुभ फल कहा गया है, उसी प्रकार अन्य ग्रहों से भी लग्नादि द्वादश भावों के शुभाशुभ फल होते हैं। इसीलिए सूर्यादि ७ ग्रह तथा लग्न- इन आठों के क्रम से करणसंज्ञक अशुभ स्थान को बिन्दु से तथा स्थानसंज्ञक शुभ भाव को रेखा से उपलक्षित कर निम्नानुसार फल बताना चाहिए।

सूर्य के करण (अशुभ स्थान)

तनुस्वायुस्त्रिरिष्फेषु पंच कामे सुखोऽर्णवा:।
अरौ भाग्ये त्रय: पुत्रे षट् करौ खे भवे च भू:।।

सूर्य से 1, 2, 8, 3, 12 भावों में पाँच ग्रह करणकारक होते हैं। इसी प्रकार 7, 4 भाव में 4 ग्रह, 6, 9 भाव में 3 ग्रह, 5 भाव में 6 ग्रह, 10 में 2 ग्रह और 11 भाव में 1 ग्रह करण-(बिन्दु)-प्रद होते हैं।

और स्पष्ट रूप से कहते हैं -

लग्नेदु-जीव-शुक्र-ज्ञास्तनौ स्वे मरणेऽपि च।

रवि-भौमार्कि-चन्द्रार्या व्यये ज्ञेन्दुसितार्यका:।।
सुखे होरेन्दुशुक्राश्च धर्मेऽर्कार्किकुजा अरौ।
होराज्ञार्येन्दव: कामे भवे दैत्येन्द्रपूजित:।।

सहजेऽर्कार्किशुक्रार्यभौमाः खे गुरु-भार्गवौ।

सुतेऽर्कार्कीनदु-लग्नार-शुक्राः स्युः करणं रवेः।।

सूर्य के 1, 2, 8 भावों में लग्न, चन्द्र, गुरु, शुक्र और बुध-ये 5 ग्रह तथा द्वादश भाव में सूर्य, मंगल, शनि, चन्द्र और गुरु-ये 5 ग्रह, चतुर्थ भाव में बुध, चन्द्र, शुक्र और गुरु-ये 4 ग्रह, नवम स्थान में लग्न, चन्द्र और शुक्र-ये 3 ग्रह, षष्ठ भाव में रवि, शनि और मंगल-ये 3 ग्रह, सप्तम में लग्न, बुध, गुरु और चन्द्र-ये 4 ग्रह, एकादश में केवल शुक्र, तृतीय स्थान में सूर्य, शनि, शुक्र, गुरु और मंगल-ये 5 ग्रह, दशम स्थान में गुरु और शुक्र 2 ग्रह एवं पंचम भाव में सूर्य, शनि, चन्द्र, लग्न, मंगल और शुक्र-ये 6 ग्रह करण-(बिन्दु)-कारक होते हैं।

उदाहरण-अष्टक वर्ग में शुभाशुभ का ज्ञान करने हेतु 14 तिर्यक् रेखा एवं 10 खड़ी रेखा करने पर 117 कोष्ठ वाला चक्र बनेगा। ऊपर तिर्यक् कोष्ठ में सूर्यादि 7 ग्रहों को लग्न सहित अंकित करें तथा नीचे बाँयें तरफ ऊर्ध्वाधः कोष्ठ में क्रम से 1 से 12 स्थान लिखकर उक्त श्लोक के अनुसार जिस-जिस स्थान में जो-जो ग्रह करणकारक कहा गया है, उस-उस स्थान में उस ग्रह के सामने बिन्दु लिखने से पूर्वकथित करण स्पष्टतया अवगत हो जायेगा। अर्थात् जिस ग्रह के नीचे जिन भावों में बिन्दु पड़ेंगे उस ग्रह से अष्टक वर्ग वाला ग्रह अपनी गति के अनुसार जब-जब उन भावों में जायेगा तब-तब अनिष्ट फल प्राप्त होग, साथ ही शेष स्थानों में गतिवश जब जायेगा तब शुभफल देने वाला होगा।

सूर्याष्टक चक्र में शुभाशुभ स्थान बोधक चक्र

भाव	सू.	चं.	मं.	बु.	बृ.	शु.	श.	ल.	बिन्दु सं.
1		0		0	0	0		0	5
2		0		0	0	0		0	5

भाव	सू.	चं.	मं.	बु.	बृ.	शु.	श.	ल.	बिन्दु सं.
3	0		0		0	0	0		5
4		0		0	0	0			4
5	0	0	0			0	0	0	6
6	0		0				0		3
7		0		0	0			0	4
8		0		0	0	0		0	5
9		0				0		0	3

10					0	0			2
11						0			1
12	0	0	0		0		0		5

सूर्य के अष्टक वर्ग में शुभाशुभ-ज्ञान हेतु चक्र का अवलोकर करें: जैसे सूर्य के सामने 3, 4, 6, 12 स्थानों में बिन्दु पड़े हैं, इसलिए ये 4 स्थान अशुभकारक हैं, अर्थात् जन्मकाल में सूर्य जहाँ है वहाँ से गिनकर इन स्थानों में सूर्य जब-जब गोचर से जायेगा, तब-तब अशुभ होगा। शेष 1, 2, 4, 7, 8, 9, 10, 11 स्थान में सूर्य जब-जब गोचर से जायेगा तब तब शुभ फलकारक होगा। सूर्य के समान ही मंगल एवं शनि का भी फल होता है, अर्थात् 3, 5, 6, 12 स्थानों में अशुभ और शेष स्थानों में शुभ फलकारक होता है। इसी प्रकार चन्द्रमा से सूर्य 1, 2, 4, 5, 7, 8, 9, 12 स्थानों में अशुभ एवं शेष स्थानों में शुभ होता है। इसी प्रकार अन्य ग्रहों से भी बिन्दुस्थान अशुभ एवं शेष स्थान शुभ जानना चाहिए।

चन्द्रमा से करणसंख्या तथा करणप्रद ग्रह

भाग्यस्वयोश्च षड् वेश्ममृतिहोरासु पंच च।
मानदुश्चिक्ययोरेकः सुते वेदा अरिस्त्रियोः।।
त्रयो व्ययेष्टावाये च शून्यं शीतकरस्य तु।
होरार्कारार्कि-भृगवोऽगांज्ञार्केन्द्वार्कि-भार्गवाः।।
जीवोऽर्कार्कीन्दुलग्नारा होरेन्दु-गुरु-भास्कराः।
सितज्ञार्याः कुजतनुमन्दास्ते सितशीतगू।।
होरार्कारार्किविज्जीवाः शनिः खं सकलाः क्रमात्।।

चन्द्रमा के 9, 2 स्थान में 6 ग्रह; 4, 8, 1 स्थान में 5 ग्रह; 10, 3 स्थान में 1 ग्रह; 5 स्थान में 4 ग्रह; 6, 3 स्थान में 3 ग्रह; 12 स्थान में 8 ग्रह एवं 11 स्थान में शून्य अर्थात् सभी ग्रह करणप्रद होते हैं। जैसे प्रथम स्थान में सूर्य, लग्न, मंगल, शनि और शुक्र-ये 5 ग्रह; 2 स्थान में गुरु, रवि, शनि, चन्द्र, लग्न और मंगल-ये 6 ग्रह; तृतीय स्थान में केवल गुरु; चतुर्थ स्थान में रवि, शनि, चन्द्र, लग्न और मंगल-ये पाँच, ग्रह; पंचम स्थान में लग्न, चन्द्र, गुरु और सूर्य- ये 4 ग्रह; षष्ठ में शुक्र, बुध और गुरु-ये 3 ग्रह; सप्तम में मंगल, लग्न और शनि-ये 3 ग्रह; अष्टम में शुक्र, चन्द्र, लग्न, रवि, मंगल और शनि-ये 6 ग्रह; नवम स्थान में लग्न, रवि, मंगल, बुध और गुरु-ये छः ग्रह; दशम स्थान में केवल शनि, एकादश स्थान में शून्य ग्रह और द्वादश स्थान में सभी ग्रह बिन्दुप्रद होते हैं। उक्त स्थानों के अतिरिक्त स्थान रेखाप्रद होते हैं।

चन्द्रकरणप्रद चक्र

भाव	सू.	चं.	मं.	बु.	वृ.	शु.	श.	ल.	योग
3	0		0			0	0	0	5
2	0	0		0		0	0	0	6
3					0				1
4	0	0	0					0	4
5	0	0			0			0	4
6				0	0	0			3
7			0				0	0	3
8		0	0			0	0	0	5
9	0		0	0	0		0	0	6
10							0		1
11									शून्य
12	0	0	0	0	0	0	0	0	8

इस प्रकार उक्त चक्र को देखने से स्पष्ट अवगत होता है कि जन्मकुण्डली में सूर्य जहाँ बैठा हो वहाँ से 1, 2, 4, 5, 9, 12 स्थानों में जब-जब चन्द्रमा जायेगा तब-तब अशुभ और इनसे भिन्न स्थानों में जब चन्द्रमा जायेगा तब शुभ फलकारक होगा। बुध जहाँ बैठा हो वहाँ से जब चन्द्रमा 1, 2, 4, 7, 8, 9, 10, 12 स्थानों में जायेगा तब अशुभ और इनसे भिन्न स्थानों में शुभ होगा। इसी प्रकार से अन्य ग्रहों से भी विचार कर शुभाशुभ फल जानना चाहिए।

भौम करणसंख्या तथा करणप्रद ग्रह

व्ययवेश्मसुतस्त्रीषु षट् सप्त धनधर्मयोः।।
होरामृत्व्वोः शरा वेदा विक्रमे खे त्रयः क्षते।
द्वौ भवे शून्यमेवं स्यात् करणं भूमिजस्य तु।
कुजस्यार्केन्दुविज्जीवासता लग्नशनी च तु।
सितारगुरुमन्दाः स्युर्धर्मोक्तेषु कुजं विना।।
चन्द्रबुधगुरुशुक्रार्किलग्नानि कुजभास्करौ।
ज्ञेन्द्वर्कसितलग्नार्या एषु शुक्रं विना ततः।।
विना शनिं सप्त धर्मे सितेन्दुज्ञा वियत्ततः।
अर्कार्किज्ञेन्दुलग्नाराः करणं प्रोच्यते क्रमात्।।

मंगल से 12, 4, 5, 6 स्थानों में 6 ग्रह; 2, 9 स्थानों में 7 ग्रह; 1, 8 स्थानों में 5 ग्रह; 3 स्थान में 4 ग्रह; दशम में 3 ग्रह; षष्ठ में 2 ग्रह और 11 स्थान में शून्य ग्रह करणप्रद होते हैं।

जैसे प्रथम स्थान में सूर्य, चन्द्र, बुध, गुरु और शुक्र-ये 5 ग्रह; द्वितीय स्थान में लग्न, शनि, सूर्य, चन्द्र, बुध, गुरु और शुक्र-ये 7 ग्रह; तृतीय म शुक्र, मंगल, गुरु और शनि-ये 4 ग्रह; चतुर्थ और नवम में कथित ग्रहों में से मंगल को छोड़कर शेष ग्रह अर्थात् रवि, चन्द्र, बुध, गुरु, शुक्र और लग्न-ये 6 ग्रह; पंचम म चन्द्र, मंगल, गुरु, शुक्र, शनि और लग्न-ये 5 ग्रह; षष्ठ स्थान में मंगल और शनि-ये 2 ग्रह; सप्तम स्थान में बुध, चन्द्र, रवि, शुक्र, लग्न और गुरु-ये 6 ग्रह; अष्टम में सप्तम में कथित शुक्र को छोड़कर शेष सभी ग्रह; नवम स्थान में शनि को छोड़कर शेष सभी ग्रह अर्थात् सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, गुरु, शुक्र और लग्न-ये 7 ग्रह; दशम स्थान में शुक्र, चन्द्र और बुध-ये 3 ग्रह; एकादश में शून्य ग्रह अर्थात् एक भी नहीं एवं द्वादश स्थान में रवि, शनि, बुध, चन्द्र, लग्न और मंगल-ये 6 ग्रह करण बिन्दुकारक होते हैं।

भौमस्पष्टार्थ चक्र

भाव	सू.	चं.	मं.	बु.	वृ.	शु.	श.	ल.	योग
1	0	0		0	0	0			5
2	0	0		0	0	0	0	0	7
3			0		0	0	0		4
4	0	0		0	0	0		0	6
5		0	0		0	0	0	0	6
6			0				0		2
7	0	0		0	0	0		0	6
8	0	0		0	0			0	5
9	0	0	0	0	0	0		0	7
10		0		0		0			3
11									शून्य
12	0	0	0	0			0	0	6

भौम स्पष्टार्थ चक्र देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि जन्मा... चक्र में सूर्यनिष्ठ राशि से 1, 2, 4, 7, 8, 9, 12 स्थानों में गोचर से जब-जब मंगल जायेगा तब-तब अशुभ फलकारक होगा एवं इससे भिन्न स्थानों में जब-जब मंगल जायेगा तब-तब शुभ फलकारक होगा। इसी प्रकार अन्य ग्रहों का भी जानना चाहिए।

बुध-करणसंख्या और ग्रह

तनुस्वगृहकर्मारिधर्मेष्वग्निर्मृतौ करौ।

भ्रातृस्त्रियो रसा लाभे शून्यं पुत्रे व्यये शराः।।
बुधस्यर्केन्दुगुरवो गुरुसूर्यबुधाः क्रमात्।
लग्नार्कारार्किचन्द्रार्या ज्ञार्कार्या हि बुधस्य तु।।
जीवारेन्द्रार्किलग्नानि शुक्रमत्रधरासुताः।
ज्ञेन्दुलग्नार्कशुक्रार्या ज्ञार्कौ जीवेन्दुलग्नकाः।।
अर्कार्यशुक्राः शून्यं च होरेन्द्वारार्किभार्गवाः।।

बुध से 1, 2, 4, 10, 6, 9 स्थानों में 3 ग्रह; 8 म 2 ग्रह; तृतीय एवं सप्तम स्थान में 6 ग्रह; एकादश में शून्य ग्रह एवं 5, 12 स्थान में 5 ग्रह करण होते हैं। जैसे- प्रथम में सूर्य, चन्द्र और गुरु-ये 3 ग्रह; द्वितीय स्थान में गुरु, शुक्र और बुध-ये 3 ग्रह; तृतीय स्थान में लग्न, सूर्य, मंगल, शनि, चन्द्र और गुरु-ये 6 ग्रह; चतुर्थ स्थान में बुध, सूर्य और गुरु-ये 3 ग्रह; पंचम में गुरु, मंगल, चन्द्र, शनि और लग्न-ये 5 ग्रह; षष्ठ में शुक्र, शनि और मंगल-ये 3 ग्रह; सप्तम में बुध, चन्द्र, लग्न, रवि, शुक्र और गुरु-ये 6 ग्रह; अष्टम में बुध एवं रवि-2 ग्रह; नवम में गुरु, चन्द्र और लग्न-ये 3 ग्रह; दशम में रवि, गुरु और शुक्र-ये 3 ग्रह; एकादश में शून्य ग्रह एवं द्वादश में लग्न, चन्द्र, मंगल, शनि और शुक्र-ये 5 ग्रह करण (बिन्दु) कारक होते हैं।

बुधस्पष्टार्थ चक्र

भाव	सू.	चं.	मं.	बु.	वृ.	शु.	श.	ल.	योग
1	0	0			0				3
2	0			0	0				3
3	0	0	0		0		0	0	6
4	0			0	0				3
5		0	0		0		0	0	5
6			0			0	0		3
7	0	0		0	0	0		0	6
8	0			0					2
9		0			0			0	3
10	0				0	0			3
11									शून्य
12		0	0			0	0	0	5

इस बुधस्पष्टार्थ चक्र से स्पष्ट अवगत होता है कि जन्मसमय में सूर्य जिस स्थान में बैठा हो वहाँ से 1, 2, 3, 4, 7, 8, 10 स्थानों में बुध जब-जब जायेगा तब-तब अशुभकारक समय रहेगा एवं इससे भिन्न

स्थानों में बुध गोचर से जब-जब जायेगा तब-तब शुभकारक समय रहेगा। इसी प्रकार अन्य ग्रहों का भी जानना चाहिए।।

गुरु के करण संख्या और ग्रह

रूपं धनाययोः खे द्वौ व्यये सप्त क्षतेऽर्णवाः।।
मृतिविक्रमयोः पंच गुरोः शेषेषु वह्नयः।
लग्ने शुक्रेन्दुमन्दाः स्वे आये मन्दश्च विक्रमें।।
लग्नारेन्दुज्ञभृगवः सुतेकार्यकुजा गृहे।
शुक्रमन्देन्दवो द्यूने बुध-शुक्र-शनैश्चराः।।
जीवारार्केन्दवः शत्रौ सर्वे मन्दं विना व्यये।
कर्मणीन्दुशनी धर्मे मन्दारगुरवो मृतौ।।
लग्नार्किसितचन्द्रज्ञाः करणं च गुरोरिदम्।।

गुरु से द्वितीय एवं एकादश स्थान में 1 ग्रह, दशम में 2 ग्रह, द्वादश, में 7 ग्रह, षष्ठ स्थान में 4 ग्रह, अष्टम एवं तृतीय स्थान में 5 ग्रह तथा शेष स्थानों में 3 ग्रह करण होते हैं। जैसे गुरु से 1 स्थान में शुक्र, चन्द्र एवं शनि-ये 3 ग्रह; द्वितीय तथा आय स्थान में केवल शनि ग्रह; तृतीय स्थान में मंगल, चन्द्र, शुक्र, लग्न और बुध-ये 5 ग्रह; पंचम स्थान में सूर्य, गुरु और मंगल-ये 3 ग्रह; गृह (चतुर्थ) स्थान में शुक्र, शनि और चन्द्र-ये 3 ग्रह; सप्तम स्थान में बुध, शुक्र और शनि-ये 3 ग्रह; षष्ठ स्थान में गुरु, मंगल, सूर्य और चन्द्र-ये 4 ग्रह; द्वादश स्थान में शनि को छोड़कर शेष सभी ग्रह; दशम स्थान में चन्द्र और शनि-ये 2 ग्रह; नवम में शनि, मंगल और गुरु-ये 3 ग्रह तथा अष्टम स्थान मं लग्न, शनि, शुक्र, चन्द्र और बुध-ये 5 ग्रह करणकारक होते हैं।

स्पष्टार्थ गुरुकरणचक्र

भाव	सू.	चं.	मं.	बु.	वृ.	शु.	श.	ल.	योग
1		0				0	0		3
2							0		1
3		0	0	0		0		0	5
4		0				0	0		3
5	0		0		0				3
6	0	0	0		0				4
7				0		0	0		3
8		0		0		0	0	0	5
9			0		0		0		3

10		0					0		2
11							0		1
12	0	0	0	0	0	0		0	7

इस चक्र के अनुसार जिस ग्रह से जिस स्थान में शून्य पड़े हैं, उस स्थान में गोचर से गुरु जाने पर अशुभ और अन्य स्थान में जाने पर शुभ फलकारक होता है।।

शुक्र करण संख्या तथा ग्रह

सुतायुर्विक्रमेष्वक्षि तनुस्वव्ययखेष्विषुः।।
अष्टौ स्त्रियामरौ षड् भूर्धर्मे मित्रेऽक्षि खं भवे।
लग्ने स्वेऽर्कारविज्जीवमन्दाः सर्वे च कामभे।।
अर्कार्यौ विक्रमस्थाने सुतेऽर्कारौ शुभे रविः।
सुखेऽर्कबुधजीवाः स्युर्भौमज्ञौ मृतिभे द्विज!।।
शुक्रार्केन्द्वार्किलग्नार्याः शत्रौ शून्यं भवे व्यये।
होरार्किबुधशुक्रार्यास्तन्वारज्ञेन्द्विनाश्च खे।।

पंचम, अष्टम एवं तृतीय स्थान में 2 ग्रह; प्रथम, द्वितीय, द्वादश एवं दशम में 5 ग्रह; सप्तम में 8 ग्रह, षष्ठ में 6 ग्रह, नवम में 1 ग्रह, चतुर्थ स्थान में 3 ग्रह एवं एकादश में शून्य ग्रह करण-(बिन्दु)-कारक होते हैं। जैसे शुक्र से 1, 2 भाव में सूर्य, मंगल, बुध, गुरु और शनि-ये 5 ग्रह; सप्तम में समस्त ग्रह; तृतीय में सूर्य और गुरु-ये 2 ग्रह; पंचम में रवि और मंगल-ये 2 ग्रह; नवम में केवल सूर्य ग्रह; चतुर्थ में सूर्य, बुध और गुरु-ये 3 ग्रह; अष्टम स्थान में मंगल और बुध-ये 2 ग्रह; षष्ठ भाव में शुक्र, रवि, चन्द्र, शनि, लग्न और गुरु-ये 6 ग्रह; एकादश स्थान में शून्य ग्रह; द्वादश स्थान में लग्न, शनि, बुध, शुक्र और गुरु-ये 5 ग्रह तथा दशम स्थान में लग्न, मंगल, बुध, चन्द्र और सूर्य-ये 5 ग्रह करण-(बिन्दु)-कारक होते हैं।

शुक्र -करण बोधक चक्र

भाव	सू.	चं.	मं.	बु.	वृ.	शु.	श.	ल.	योग
1	0		0	0	0		0		5
2	0		0	0	0		0		5
3	0				0				2
4	0			0	0				3
5	0		0						2
6	0	0			0	0	0	0	6

7	0	0	0	0	0	0	0	0	8
8				0					2
9	0		0						1
10	0	0	0	0				0	5
11									शून्य
12				0	0	0	0	0	5

इस चक्र से यह जानना चाहिए कि बिन्दुयत स्थान अशुभ और बिन्दुरहित स्थान शुभ होते हैं। ग्रह अपने गतिवश सभी स्थानों में भ्रमण करते हैं।

शनि-करणसंख्या और ग्रह

स्वस्त्रीधर्मेषु सप्ताऽङ्गं मृतिहोरागृहेषु च।
अज्ञाभ्रातृव्यये वेदा रूपं शत्रौ सुते शराः।।
आये शून्यं शनेरेवं करणं प्रोच्यते बुधैः।
गृहे तनौ च लग्नार्कौ स्वस्त्रियोश्च रविं विना।।
हित्वा धर्मे बुधं माने लग्नाररविचन्द्रजान्।
ततो भ्रातरि जीवार्कबुधशुक्राः क्षते रविः।।
व्यये लग्नेदुमन्दार्काः सितार्केन्दुज्ञलग्नकाः।
सुते मृतौ बुधार्कौ च हित्वाऽऽये खं शनेर्विदः।।

शनि से द्वितीय, सप्तम एवं नवम में 7 ग्रह; अष्टम, लग्न एवं चतुर्थ स्थान में 6 ग्रह; दशम, तृतीय एवं द्वादश में 4 ग्रह; षष्ठ में 1 ग्रह; पंचम में 5 ग्रह एवं एकादश में शून्य ग्रह-इस प्रकार शनि के करण (बिन्दु) हैं। जैसे शनि से 4, 1 स्थान में रवि को छोड़ कर शेष सभी ग्रह; नवम में बुध को छोड़कर शेष सभी ग्रह; दशम में लग्न, मंगल, रवि और बुध-ये 4 ग्रह, तृतीय में गुरु, रवि, बुध और शुक्र-ये 4 ग्रह; षष्ठ स्थान में केवल रवि; द्वादश में लग्न, चन्द्र, शनि और रवि-ये 4 ग्रह; पंचम में शुक्र, रवि, चन्द्र, बुध और लग्न-ये 5 ग्रह; अष्टम में बुध और रवि को छोड़करर शेष सभी ग्रह करण होते हैं तथा एकादश में शून्य ग्रह करणप्रद होते हैं।

शनि स्पष्टार्थबोधक चक्र

भाव	सू.	चं.	मं.	बु.	वृ.	शु.	श.	ल.	योग
1		0	0	0	0	0	0		6
2		0	0	0	0	0	0	0	7
3	0			0	0	0			4

4		0	0	0	0	0	0		6
5	0	0		0		0		0	5
6	0								1
7		0	0	0	0	0	0	0	7
8		0	0		0	0	0	0	6
9	0	0	0		0	0	0	0	7
10		0			0	0	0		4
11									शून्य
12	0	0					0	0	**4**

इस चक्र से बिन्दुयुत स्थान अशुभ एवं बिन्दुरहित स्थान शुभ होते हैं।

इस प्रकार ग्रन्थकर्ता ने 'उक्तान्ये स्थानदातारः' कहकर बिन्दुप्रद स्थान से भिन्न स्थान रेखाप्रद शुभ स्थल को सूचित कर दिया है।

अब यहाँ सामान्य बुद्धि वालों की सुगमता के लिए रेखाप्रद स्थानों को भी कह रहे हैं।

सूर्य के रेखाप्रद ग्रह और स्थान

उक्ताऽन्यो स्थानदातार इति स्थानं विदुर्बुधाः।
अथ स्थानग्रहान् वक्ष्ये सुखबोधय सूरिणाम्।।
स्वायुस्तनुषु मन्दारसूर्या जीवबुधौ सुते।
विक्रमे ज्ञेन्दुलग्नानि लग्नार्कार्किकुजा गृहे।।
ते च ज्ञेन्दू खभे चाऽऽये सर्वे शुक्रं विना व्यये।
लग्नशुक्रबुधाः शत्रौ ते च जीवसुधाकरौ।।
द्यूनेऽर्कारार्किशुक्राश्च धर्मेऽर्कारार्किविदुरुः।।

पूर्वोक्त करण-(बिन्दु)-स्थान से ही अन्य स्थान (रेखाप्रद) भी विद्वानों को जानना चाहिए; फिर भी अब मैं पण्डितों की सुगमता के लिए रेखाप्रद स्थानों को कहता हूँ। सूर्य के द्वितीय, अष्टम एवं लग्नस्थान में शनि, मंगल एवं सूर्य; पंचम में गुरु एवं बुध; तृतीय में बुध, चन्द्र एवं लग्न; चतुर्थ में लग्न, सूर्य, शनि एवं मंगल; दशम में लग्न, सूर्य, शनि, मंगल, बुध एवं चन्द्रमा; एकादश में शुक्र को छोड़कर शेष सभी ग्रह; द्वादश में लग्न, शुक्र एवं बुध; षष्ठ में लग्न, शुक्र, बुध तथा गुरु एवं चन्द्रमा; सप्तम में सूर्य, मंगल, शनि एवं शुक्र तथा नवम में सूर्य, मंगल, शनि, बुध और गुरु-ये सभी रेखाप्रद होते हैं।

सूर्य के रेखाबोधक चक्र

भाव	सू.	चं.	मं.	बु.	वृ.	शु.	श.	ल.	योग
1	।		।				।		3
2	।		।				।		3
3		।		।				।	3
4	।		।				।	।	4
5				।	।				2
6		।		।	।	।		।	5
7	।		।				।		3
8	।		।				।		3
9	।		।	।	।		।		5
10	।	।	।	।			।	।	6
11	।	।	।	।		।	।	।	7
12				।	।	।			3

रेखाप्रद स्थान

सू.	चं.	मं.	बु.	वृ.	शु.	श.	ल.
1	3	1	3	5	6	1	3
2	6	2	5	6	7	2	4
4	10	4	6	9	12	4	6
7	11	7	9	11	0	7	10
8	0	8	10	0	0	8	11
9	0	9	11	0	0	0	12
10	0	10	12	0	0	10	0
11	0	11	0	0	0	11	0
0	0	0	0	0	0	0	0

चन्द्रमा के रेखाकारक ग्रह और स्थान

ज्ञेन्दुजीवाः कुजार्यौ ज्ञार्केन्द्वारार्कितनूशनाः।।
जीवशुक्रबुधा भौमबुधशुक्रशनैश्चराः।
रवीन्द्वारार्किलग्नानि रवीन्द्वर्यज्ञभार्गवाः।।
अर्कज्ञजीवाः शुक्रेन्दू ते च तौ लग्नभूसुतौ।
सर्वे शून्यं क्रमात्प्रोक्तं स्थानं शीतकरस्य च।।

चन्द्रमा से प्रथम स्थान में बुध, चन्द्र एवं गुरु; द्वितीय में मंगल एवं गुरु; तृतीय में बुध, रवि, चन्द्र, मंगल, शनि, लग्न एवं शुक्र; चतुर्थ में गुरु, शुक्र एवं बुध; पंचम में मंगल, बुध, शुक्र एवं शनि; षष्ठ में रवि, चन्द्र, मंगल, शनि एवं लग्न; सप्तम में सूर्य, चन्द्र, गुरु, बुध और शुक्र; अष्टम स्थान में रवि, बुध एवं गुरु; नवम स्थान में शुक्र एवं चन्द्र; दशम में सूर्य, बुध, गुरु, शुक्र, चन्द्र, लग्न तथा मंगल एवं एकादश स्थान में सभी ग्रह रेखाप्रद होते हैं। द्वादश स्थान में कोई भी ग्रह रेखाप्रद नहीं होता।

चन्द्रमा के रेखाबोधक चक्र

स्थान	सू.	चं.	मं.	बु.	बृ.	शु.	श.	ल.	योग
1		।		।	।				3
2			।		।				2
3	।	।	।	।		।	।	।	7
4				।	।	।			3
5			।	।		।	।		4
6	।	।	।				।	।	5
7	।	।		।	।	।			5
8	।			।	।				3
9		।				।			2
10	।	।	।	।	।	।		।	7
11	।	।	।	।	।	।	।	।	8
12									शून्य

चन्द्र के रेखाप्रद स्थान

सू.	चं.	मं.	बु.	वृ.	शु.	श.	ल.
3	1	2	1	1	3	3	3
6	3	3	3	2	4	5	6
7	6	5	4	4	5	6	10
8	7	6	5	7	7	11	11
10	9	10	7	8	9	0	0
11	10	11	8	10	10	0	0
0	11	0	10	11	11	0	0
0	0	0	11	0	0	0	0
0	0	0	0	0	0	0	0

मंगल के रेखाप्रद ग्रह और स्थान

लग्नमन्दकुजा भौमो होराज्ञेन्दुदिनाधिपाः।

मन्दारौ ज्ञरवी ज्ञेन्दुजीवार्कतनुभार्गवाः।।

मन्दारौ तौसितश्चार्किः कुजार्कार्यार्किलग्नकाः।

सर्वे गुरुसितौ स्थानं भौमस्यैवं बिदुर्बुधाः।।

मंगल के प्रथम स्थान में लग्न, शनि और मंगल; द्वितीय में केवल मंगल; तृतीय स्थान में लग्न, बुध, चन्द्र और सूर्य; चतुर्थ में शनि एवं मंगल; पंचम में बुध एवं रवि; षष्ठ में बुध, चन्द्र, गुरु, सूर्य, लग्न एवं शुक्र; सप्तम में शनि एवं मंगल; अष्टम में शनि, मंगल और शुक्र; नवम में केवल शनि; दशम में मंगल, सूर्य, गुरु, शनि एवं लग्न; एकादश में समस्त ग्रह एवं द्वादश स्थान में गुरु और शुक्र-ये ग्रह रेखाकारक होते हैं।

मंगल के रेखाबोधक चक्र

स्थान	सू.	चं.	मं.	बु.	बृ.	शु.	श.	ल.	योग
1							।	।	3
2			।						1
3	।	।		।				।	4
4			।				।		2
5	।			।					2
6	।	।		।	।	।		।	6
7			।				।		2
8			।			।	।		3
9							।		1
10	।		।		।		।	।	5
11	।	।	।	।	।	।	।	।	8
12									शून्य

मंगल के रेखाप्रद स्थान

सू.	चं.	मं.	बु.	वृ.	शु.	श.	ल.
3	3	1	3	6	6	1	1
5	6	2	5	10	8	4	3
6	11	4	6	11	11	7	6
10	0	7	11	12	12	8	10
11	0	8	0	0	0	9	11
0	0	10	0	0	0	10	0
0	0	11	0	0	0	11	0

बुधाष्टक वर्ग में रेखाप्रद ग्रह और स्थान

लग्नमन्दारशुक्रज्ञ लग्नारेन्दुसितार्कजाः।

शुक्रज्ञौ लग्नचन्द्रार्किसिताराज्ञार्कभार्गवाः।।
जीवज्ञार्केन्दुलग्नानि भूमिपुत्रशनैश्चरौ।
तौ च लग्नेन्दुशुक्रार्या मन्दारार्कज्ञभार्गवाः।।
लग्नमन्दारविच्चन्द्राः सर्वे जीवभास्कराः।।

स्वाश्रित स्थान से प्रथम में लग्न, शनि, मंगल, शुक्र एवं बुध; द्वितीय स्थान में लग्न, मंगल, चन्द्र, शुक्र और शनि; तृतीय में शुक्र एवं बुध; चतुर्थ में लग्न, चन्द्र, शनि, शुक्र एवं मंगल; पंचम में बुध, सूर्य एवं शुक्र; षष्ठ स्थान में गुरु, बुध, सूर्य, चन्द्र एवं लग्न; सप्तम में मंगल शनि; अष्टम में मंगल, शनि, लग्न, चन्द्र, शुक्र एवं गुरु; नवम में शनि, मंगल, सूर्य, बुध एवं शुक्र; दशम में लग्न, शनि, मंगल, बुध एवं चन्द्र; एकादश में समस्त ग्रह तथा द्वादश में गुरु, बुध और सूर्य-ये ग्रह रेखाप्रद होते हैं।

बुध के रेखाबोधक चक्र

स्थान	सूर्य	चन्द्र	मंगल	बुध	गुरु	शुक्र	शनि	लग्न	योग
1			।	।		।	।	।	5
2		।	।			।	।	।	5
3				।		।			2
4		।	।			।	।	।	5
5	।			।		।			3
6	।	।		।	।			।	5
7			।				।		2
8		।	।		।	।	।	।	6
9	।		।	।		।	।		5
10		।	।	।			।	।	5
11	।	।	।	।	।	।	।	।	8
12	।			।	।				3

बुध के रेखाप्रद स्थान

सू.	चं.	मं.	बु.	वृ.	शु.	श.	ल.
4	2	1	1	6	1	1	1
6	4	2	3	8	2	2	2
9	6	4	5	11	3	4	4
11	8	7	6	12	4	7	6
12	10	8	9	0	5	8	8
0	11	9	10	0	8	9	10

0	0	10	11	0	9	10	11
0	0	11	12	0	11	11	0

गुरु के रेखाप्रद ग्रह और स्थान

गुरोर्लग्ने सुखे जीवलग्नारार्कबुधा धने।।
चन्द्रशुक्रौ च दुश्चक्ये मन्दार्यार्काः शनिर्व्यये।
सुते शुक्रेन्दुलग्नज्ञमन्दाश्चन्द्रं विना त्वरौ।।
लग्नारार्याऽर्केन्दवोऽस्ते मृतौ जीवार्कभूसुताः।
धर्मे शुक्रार्कलग्नेन्दुबुधा मन्दं विनाऽऽयभे।।
माने गुरुबुधारार्कशुक्रहोरास्तथा विदुः।।

गुरु के अष्टक वर्ग में अपने-अपने आश्रित स्थान से प्रथम तथा चतुर्थ स्थानों में गुरु, लग्न, मंगल, रवि एवं बुध; द्वितीय में गुरु, लग्न, मंगल, रवि, बुध, चन्द्र और शुक्र; तृतीय में शनि, गुरु एवं रवि; द्वादश स्थान में केवल शनि; पंचम में शुक्र, चन्द्र, लग्न, बुध एवं शनि; षष्ठ स्थान में पंचम स्थान में कथित ग्रहों में से चन्द्रमा को छोड़कर शेष सभी ग्रह; सप्तम स्थान में लग्न, मंगल, गुरु, रवि एवं चन्द्रमा; अष्टम में गुरु, रवि एवं मंगल; नवम स्थान में शुक्र, रवि, लग्न, चन्द्र एवं बुध; एकादश में शनि को छोड़कर शेष सभी ग्रह तथा दशम में गुरु, बुध, मंगल, रवि, शुक्र और लग्न-ये रेखाप्रद होते हैं।

गुरु के रेखाबोधक चक्र

स्थान	सू.	चं.	मं.	बु.	बृ.	शु.	श.	ल.	योग
1	।		।	।	।			।	5
2	।	।	।	।	।	।		।	7
3	।				।		।		3
4	।		।	।	।			।	5
5		।		।		।	।	।	5
6				।		।	।	।	4
7	।	।	।		।			।	5
8	।		।		।				3
9	।	।		।		।		।	5
10	।		।	।	।	।		।	6
11	।	।	।	।	।	।		।	7
12							।		1

गुरु के रेखाप्रद स्थान

सू.	चं.	मं.	बु.	वृ.	शु.	श.	ल.
1	2	1	1	1	2	3	1
2	5	2	2	2	5	5	2
3	7	4	4	3	6	6	4
4	9	7	5	4	9	12	5
7	11	8	6	7	10	0	6
8	0	10	9	8	11	0	7
9	0	11	10	10	0	0	9
10	0	0	11	11	0	0	10
11	0	0	0	0	0	0	11

शुक्र के रेखाप्रद ग्रह और स्थान

लग्नशुक्रेन्दवस्ते ते ज्ञार्क्यारास्ते ज्ञवर्जिताः।।
सुतभे लग्नशशिजशशांकर्यार्किभार्गवाः।
ज्ञारौ शून्यं सिताऽर्केन्दुगुरुलग्नशनैश्चराः।।
सर्वे रविं विना शुक्रगुरुमनाश्च मानभे।
सर्वे कुजेन्दुरवयः क्रमाद् भृगुसुतस्य च।।

शुक्र के अष्टक वर्ग में अपने-अपने आश्रित स्थान से प्रथम-द्वितीय में लग्न, शुक्र एवं चन्द्रमा; तृतीय स्थान में लग्न, शुक्र, चन्द्रमा और बुध, शनि, मंगल; चतुर्थ स्थान में लग्न, शुक्र, चन्द्रमा, शनि एवं मंगल; पंचम स्थान में लग्न, बुध, चन्द्रमा, गुरु, शनि एवं शुक्र; षष्ठ स्थान में बुध एवं मंगल; सप्तम में शून्य (कोई नहीं); अष्टम में शुक्र, सूर्य, चन्द्रमा, गुरु, लग्न और शनि; नवम भाव में रवि को छोड़कर शेष समस्त ग्रह; दशम में शुक्र, गुरु, शनि; एकादश में सभी ग्रह एवं द्वादश में मंगल, चन्द्रमा और रवि रेखाप्रद होते हैं।

शुक्र के रेखाबोधक चक्र

स्थान	सू.	चं.	मं.	बु.	बृ.	शु.	श.	ल.	योग
1		।				।		।	3
2		।				।		।	3
3		।	।	।		।	।	।	6
4		।	।			।	।	।	5
5		।		।	।	।	।	।	6
6			।	।					2
7									शून्य

8	।	।			।	।	।	।	6
9		।	।	।	।	।	।	।	7
10					।	।	।		3
11	।	।	।	।	।	।	।	।	7
12	।	।	।						3

शुक्र के रेखाप्रद स्थान

सू.	चं.	मं.	बु.	वृ.	शु.	श.	ल.
8	1	3	3	5	1	3	1
11	2	4	5	8	2	4	2
12	3	6	6	9	3	5	3
0	4	9	9	10	4	8	4
0	5	11	11	11	5	9	5
0	8	12	0	0	8	10	8
0	9	0	0	0	9	11	9
0	11	0	0	0	10	0	11
0	12	0	0	0	11	0	0

शन्यष्टक वर्ग में रेखाप्रद ग्रह और स्थान

शने रवितनू सूर्यो लग्नेन्दुकुजसूर्यजाः।
लग्नार्कौ जीवमन्दाराः सर्वे सूर्यं विना क्षते।।
अर्कोऽर्कज्ञौ बुधोऽर्कारतनुज्ञाः सकलास्ततः।
कुजज्ञगुरुशुक्राश्च क्रमात् स्थानमिदं विदुः।।

शन्यष्टक वर्ग में प्रथम स्थान में रवि एवं लग्न; द्वितीय में सूर्य; तृतीय में लग्न, चन्द्र, मंगल एवं शनि; चतुर्थ में लग्न एवं सूर्य; पंचम में गुरु, शनि एवं मंगल; षष्ठ में सूर्य के अतिरिक्त सभी ग्रह; सप्तम में सूर्य; अष्टम में रवि एवं बुध; नवम में बुध; दशम में रवि, मंगल, लग्न एवं बुध; एकादश में समस्त ग्रह एवं द्वादश में मंगल, बुध, गुरु और शुक्र रेखाप्रद होते हैं।

शन्यष्टक में रेखाबोधक चक्र

स्थान	सू.	चं.	मं.	बु.	बृ.	शु.	श.	ल.	योग
1	।							।	2
2	।								1
3		।	।				।	।	4
4	।							।	2
5			।		।		।		3
6		।	।	।	।	।	।	।	7
7	।								1

8	।			।					2
9				।					1
10	।		।	।				।	4
11	।	।	।	।	।	।	।	।	8
12			।	।	।	।			4

रेखाप्रद स्थान

सू.	चं.	मं.	बु.	वृ.	शु.	श.	ल.
1	3	3	6	5	6	3	1
2	6	5	8	6	11	5	3
4	11	6	9	11	12	6	4
7	0	10	10	12	0	11	6
8	0	11	11	0	0	0	10
10	0	12	12	0	0	0	11
11	0	0	0	0	0	0	0

लग्न की बिन्दुसंख्या तथा बिन्दुप्रद ग्रह

तनौ तुर्ये च वह्निः स्याद् दुश्चक्ये द्वौ धने शराः।
बुद्धिमृत्युंकरिःफेषु षट् खेशक्षतराशिषु।।
रूपं स्त्रियां गुरुं त्यक्त्वा लग्नस्य करणं त्विदम्।
होरासूर्येन्दवो लग्ने लग्नारेन्द्विनसूर्यजाः।।
गुरुज्ञौ लग्नचन्द्रारा लसूचंमंबुसौरयः।
क्षते शुक्रस्तथा चैकः कामे सर्वे गुरुं विना।।
मृतौ भृगुबुधौ त्यक्त्वा धर्मे गुरुसितौ विना।
कर्मण्याये तथा शुक्रो व्यये सूर्येन्दुवर्जिताः।।

लग्न से प्रथम तथा चतुर्थ में तीन, तृतीय स्थान में दो, द्वितीय में पाँच, पंचम-अष्टम-नवम एवं व्यय में छः, दशम-एकादश तथा षष्ठ भाव में एक एवं सप्तम भाव में गुरु के अतिरिक्त शेष सभी ग्रह करणप्रद होते हैं। जैसे प्रथम भाव में लग्न, सूर्य, चन्द्रमा द्वितीय में लग्न भौम, चन्द्रमा, शनि, सूर्य; तृतीय में गुरु, बुध; चतुर्थ में लग्न, चन्द्र, मंगल; पंचम में लग्न, सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, शनि; षष्ठ में शुक्र; सप्तम में गुरु के अतिरिक्त शेष समस्त ग्रह; अष्टम में शुक्र और बुध के अतिरिक्त सभी ग्रह; धर्मभाव में गुरु एवं शुक्र का त्याग कर शेष समस्त ग्रह; दशम एवं एकादश दोनों में केवल शुक्र एवं व्ययभाव में सूर्य-चन्द्रमा को छोड़कर शेष ग्रह करणप्रद होते हैं।

लग्न के बिन्दुबोधक चक्र

भाव	सू.	चं.	मं.	बु.	बृ.	शु.	श.	ल.	योग
1	0	0						0	3

2	0	0	0				0	0	5
3				0	0				2
4		0	0					0	3
5	0	0	0	0			0	0	6
6						0			1
7	0	0	0	0		0	0	0	7
8	0	0	0		0		0	0	6
9	0	0	0	0			0	0	6
10						0			1
11						0			1
12			0	0	0	0	0	0	6

इस चक्र से यह स्पष्ट हो जाता है कि जिन ग्रहों से जिन-जिन भावों में शून्य पड़े हैं, वह स्थान अशुभप्रद एवं शेष स्थान शुभप्रद हैं।

लग्नाष्टक वर्ग के भावों में रेखा-(शुभ)-प्रद स्थान

लग्नस्येदं तु संप्रोक्त करणं द्विजपुङ्गव!।
अथ स्थानं प्रवक्ष्यामि लग्नस्य द्विजपुङ्गव!।।
आर्किज्ञशुक्रगुर्वाराः सौम्यदेवेज्यभार्गवाः।
हित्सा सौम्यगुरु शेषाः सुज्ञेज्यभृगुसूर्यजाः।।
तथा जीवभृगू बुद्धौ सर्वे शुक्रं विना क्षते।
जीव एकस्तथा द्यूने मृतौ सौम्यभृगू तथा।।
धर्मे गुरुसितावेव खे भवे शुक्रमन्तरा।
सूर्य-चन्द्रौ तथा रिष्फे स्थानं लग्नस्य कीर्तितम्।।

हे द्विज! इससे लग्नाष्टक वर्ग के सभी करणों (बिन्दुप्रद) को बताया गया है। अब मैं रेखाओं (शुभप्रद स्थानों) को कह रहा हूँ। प्रथम भाव में शनि, बुध, मंगल, गुरु तथा शुक्र रेखा-(शुभ)-प्रद हैं। द्वितीय में बुध, गुरु एवं शुक्र रेखाप्रद हैं। तृतीय भाव में बुध, गुरु के अतिरिक्त शेष सभी ग्रह; चतुर्थ में सूर्य, बुध, गुरु, शुक्र और शनि तथा पंचम भाव में गुरु तथा शुक्र रेखाप्रद हैं। षष्ठ भाव मेंर शुक्र को छोड़कर शेष सभी ग्रह रेखाप्रद हैं। सप्तम में केवल गुरु; अष्टम भाव में बुध एवं शुक्र; धर्म-(नवम)-भाव में गुरु-शुक्र एवं दशम तथा एकादश भाव में शुक्र को छोड़कर शेष समस्त ग्रह और व्यय भाव में सूर्य एवं चन्द्र रेखा-(शुभ)-प्रद होते हैं।

लग्नाष्टक वर्ग में रेखाबोधक चक्र

भा.	सू.	चं.	मं.	बु.	बृ.	शु.	श.	ल.	योग
1			।	।	।	।	।		5

2				।	।	।			3
3	।	।	।			।	।	।	6
4	।			।	।	।	।		5
5					।	।			2
6	।	।	।	।	।		।	।	7
7					।				1
8				।		।			2
9					।	।			2
10	।	।	।	।	।		।	।	7
11	।	।	।	।	।		।	।	7
12	।	।							2

अष्टम वर्गों के माध्यम से ग्रहों का शुभाशुभ स्थान अवगत करना हो तो जन्माङ्ग चक्रस्थ ग्रहों के स्थान से अष्टक वर्ग में जितने शुभकारक स्थान निर्दिष्ट हैं, उनमें रेखा (।) तथा अशुभ स्थान में बिन्दु (0) रखने से शुभाशुभबोधक रेखा-बिन्दु रखें, इस तरह लग्नसहित सभी ग्रहों के अष्टक वर्ग कुण्डली सम्पन्न होंगे।

उदाहरण-सूर्याष्टक वर्ग में सूर्य से 1।2।4।7।8।9।10।11 स्थान रेखा-(शुभ)-प्रद होते हैं, अतः कुण्डली में स्थित सूर्य से इन स्थानों में रेखा होंगे; शेष 3।5।6।12 भावों में बिन्दु होंगे। इसी प्रकार चन्द्रमा से 3।6।10।11 में रेखा एवं शेष में शून्य; मंगल से 1।2।4।7।8।9।10।11 में रेखा, शेष में बिन्दु; बुध से 3।5।6।9।10।11।12 में रेखा एवं शेष में बिन्दु; गुरु से 5, 6, 9, 11 में रेखा, शेष बिन्दु; शुक्र से 6, 7, 12 में रेखा एवं शेष में बिन्दु; शनि से 1।2।4।7।8।9।10।11 में रेखा तथा शेष में बिन्दु एवं लग्न से 3।4।6।10।11।12 में रेखा और शेष में बिन्दु रखने से सूर्याष्टक वर्गकुण्डली हो जायेगी। नीचे **जन्माङ्ग चक्र द्रष्टव्य है** -

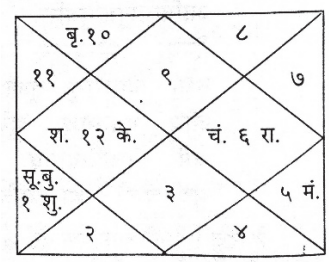

॥ जन्मकुण्डली ॥

चन्द्राष्टक वर्ग

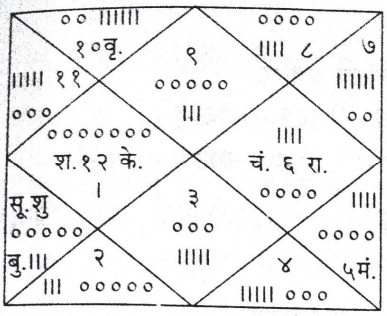

भौमाष्टक वर्ग

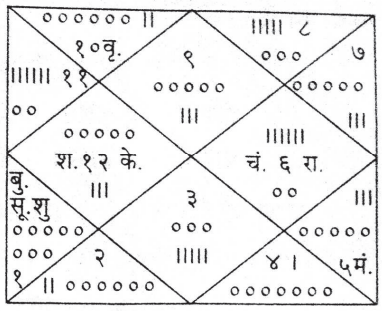

बुधाष्टक वर्ग

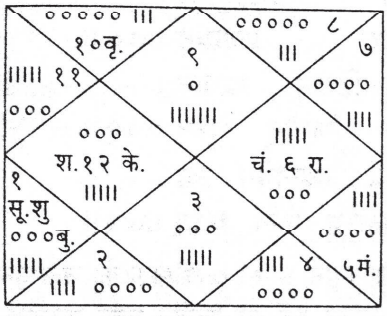

गुर्वष्टक वर्ग

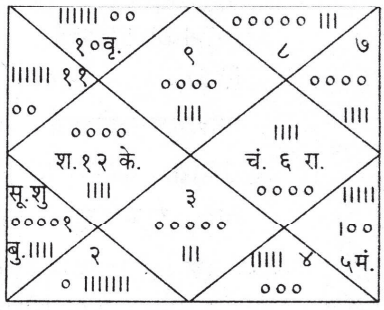

शुक्राष्टक वर्ग

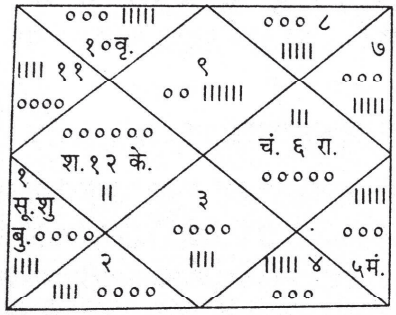

शन्यष्टक वर्ग

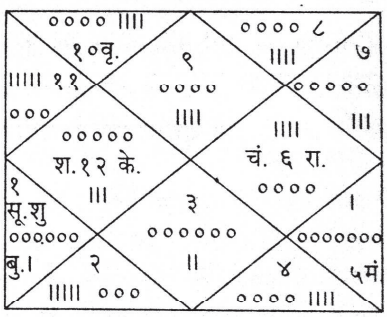

लग्नाष्टक वर्ग

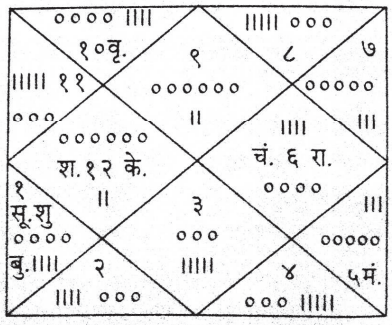

उपर्युक्त कुण्डलियों में शुभ भावद्योतक रेखायें और अशुभ भावद्योतक शून्य प्रदर्शित किये गये हैं।

करण तथा बिन्दु-परिचय प्रकार

करणं बिन्दुवत् लेख्यं स्थानं रेखास्वरूपकम्।
करणं त्वशुभदं प्रोक्तं स्थानं शुभफलप्रदम्।।

करण को बिन्दुरूप (0) तथा स्थान को रेखाकार म लिखना चाहिए। करण (बिन्दु) को अशुभप्रद और स्थान (रेखा) को शुभप्रद जानना चाहिए।

करण, रेखान्यास हेतु चक्रस्वरूप

दशरेखा लिखेदूर्ध्वास्तिर्यग् रेखाश्चतुर्दश।
नगेशकोष्ठसंयुक्तं चक्रमेवं प्रजायते।।
तिर्यगष्टसु कोष्ठेषु विलग्नसहितान् खगान्।
आद्येषुर्ध्वाधरेष्वेवं भावसंख्या लिखेद् बुधः।।
यथोक्तं विन्यसेत् तत्र करणं स्थानमेव वा।
ततः शुभाऽशुभं ज्ञात्वा जातकस्य फलं वदेत्।।

उर्ध्वाधः दस रेखा लिखकर तिरछी 14 रेखा रखने से 117 कोष्ठक का चक्र बन जायेगा। ऊपर के समस्त तिरछे कोष्ठकों में लग्नसहित ग्रहों को लिखें। प्रथम ऊर्ध्वाधः कोष्ठक में द्वादश भाव संख्या रखें, फिर पूर्वोक्त प्रकार से बिन्दु तथा रेखा रखने के पश्चात् शुभाशुभ का ज्ञान कर जातक का फल कहना चाहिए।

बोध प्रश्न : -

1. अष्टक वर्ग में वर्गों की संख्या कितनी होती हैं।

   क. ४ ख. ५ ग. ८ घ. ७

2. अष्टकवर्ग में सूर्यादि सप्तग्रह के अतिरिक्त निम्न में कौन है -

   क. राशि ख. लग्न ग. नक्षत्र घ. कोष्ठक

3. ग्रह जिन राशियों में शुभफल देते है, उन्हें जातकपारिजात के अनुसार किस चिह्न से प्रदर्शित करते हैं।

   क. (०) ख. (।) ग. (।।) घ. कोई नहीं

4. पराशर के अनुसार ग्रह जिन राशियों में शुभ फल देते हैं, उन्हें किस बिन्दु द्वारा लिखते हैं -

क. (०) ख. (।) ग. (।।) घ. कोई नहीं

5. जातकपारिजात के अनुसार लग्नाष्टकवर्गांक कितने होते है-

क. ४८ ख. ४९ ग. ४७ घ. ३११

6. पराशर ने अष्टक वर्ग को निम्न में किस प्रकार से बतलाया है-

क. बिन्दु रेखा प्रद ख. ० ग. ।। घ.उपयुक्त सभी

१.५ सारांश

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आपने जान लिया है जन्माङ्ग चक्र व्यक्ति के जन्मकालिक गगनमण्डल का ऐसा मानचित्र होता है जो तत्कालीन ग्रहस्थिति को दर्शाता है। व्यक्ति निरन्तर परिवर्तनशील ग्रहस्थिति, जिसे गोचर कहते हैं, से भी प्रभावित होता है। इष्ट समय में ग्रहस्थिति को दर्शाने वाला गगनमण्डल का मानचित्र गोचरचक्र या गोचरकुण्डली के नाम से जाना जाता है। जन्माङ्ग में कोई ग्रह यदि शुभद स्थिति में हो और गोचरकुण्डली में भी सुखद स्थिति में हो तो उस ग्रह का पूर्ण शुभ फल जातक को प्राप्त होता है। किन्तु यदि उक्त ग्रह गोचरकुण्डली में शुभद स्थिति में नहीं है तो उस ग्रह के फल में न्यूनता आती है या नेष्ट फल को स्पष्टता से जानने के लिए **अष्टकवर्ग** का निरूपण पूर्वाचार्यों द्वारा किया गया है।

ग्रह अपनी गति से अविराम चलते हुए द्वादश राशियों को संयमित करते हैं। जन्म के समय जिन राशियों में वे स्थित होते हैं उसके आगे चलते हुए कुछ राशियों में वे शुभ फल और कुछ राशियों में नेष्ट फल देते है। जिन राशियों में वे शुभ फल देते हैं उसे बिन्दु (०) के द्वारा और जिनमें नेष्ट फल देते हैं उसे रेखा (।) के द्वारा चिन्हित करने की प्रथा है। पराशरादि कतिपय आचार्यों ने इसके विपरीत शुभप्रद राशि में रेखा में (।) और पापफलद राशियों में बिन्दु (०) चिन्ह अंकित करने का निर्देश किया है। जातकपारिजात ग्रन्थ में शुभ स्थान में बिन्दु (०) और अशुभ स्थान में रेखा (।) चिह्न लगाने का निर्देश आचार्य ने किया है। जैसे सूर्य अपनी राशि में अपनी राशि से दूसरी, चौथी, सातवीं, आठवीं, नवीं, दसवीं और ग्यारहवीं राशि में शुभ फल देता है। अतः इन राशियों में रेखा (।) चिन्ह लगाना चाहिए। इसी प्रकार अन्य ग्रहों के शुभाशुभ फलानुसार बिन्दु और रेखा लगाने से अष्टकवर्ग चक्र तैयार होता है।

अब यहाँ सूर्यादि सप्त ग्रह और लग्न इन आठों के वर्ग का विचार करने के कारण ही फलादेश की इस पद्धति को **'अष्टकवर्ग'** कहते हैं।

१.६ पारिभाषिक शब्दावली

अष्ट – ८

भौम - मंगल

भृगु – शुक्र

अविराम – जिस पर विराम नहीं लगता

शुभद – शुभ फल देने वाला

गगनमण्डल – आकाश मण्डल

सुखद – सुख देने वाला

शुभाशुभ – शुभ और अशुभ

१.७ बोध प्रश्नों के उत्तर

1. ग
2. ख
3. क
4. ख
5. ख
6. क

१.८ सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. जातकपारिजात – अष्टकवर्गाध्याय:
2. वृहत्पराशरहोराशास्त्र – अष्टकवर्गाध्याय:
3. लघुजातक – अष्टकवर्गाध्याय:
4. वृहज्जातक - अष्टकवर्गाध्याय:
5. फलदीपिका – अष्टकवर्गाध्याय:

१.९ सहायक पाठ्यसामग्री

1. जातकपारिजात – मूल लेखक – आचार्य वैद्यनाथ, टीकाकार – हरिशंकर पाठक
2. वृहत्पराशरहोराशास्त्र – मूल लेखक – पराशर, टीकाकार – पं. पद्मनाभ शर्मा
3. लघुजातक – मूल लेखक – वराहमिहिर, टीकाकार – डॉ. कमलाकान्त पाण्डेय
4. वृहज्जातक - मूल लेखक – वराहमिहिर, टीकाकार – डॉ. सत्येन्द्र मिश्र
5. फलदीपिका – मूल लेखक – मन्त्रेश्वर, टीकाकार – गोपेश कुमार ओझा

१.१० निबन्धात्मक प्रश्न

1. अष्टक वर्ग से आप क्या समझते है? स्पष्ट कीजिये।
2. लघुजातक के अनुसार अष्टकवर्ग का वर्णन कीजिये।
3. वृहत्पराशरहोराशास्त्र के अनुसार अष्टकवर्ग को प्रतिपादित कीजिये।
4. अष्टक वर्ग के प्रयोजन पर प्रकाश डालिये।
5. सोदाहरण अष्टकवर्ग का प्रतिपादन कीजिये।

इकाई - २ भिन्नाष्टक वर्ग निर्माण

इकाई की संरचना

२.१ प्रस्तावना

२.२ उद्देश्य

२.३ भिन्नाष्टक वर्ग परिचय

२.४ भिन्नाष्टक वर्ग निर्माण

२.५ सारांश

२.६ पारिभाषिक शब्दावली

२.७ बोध प्रश्नों के उत्तर

२.८ सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

२.९ सहायक पाठ्यसामग्री

२.१० निबन्धात्मक प्रश्न

२.१ प्रस्तावना

MAJY-203 के चतुर्थ खण्डान्तर्गत यह दूसरी इकाई है जिसका शीर्षक है – भिन्नाष्टक वर्ग। इससे पूर्व की इकाई में आपने अष्टकवर्ग का अध्ययन कर लिया है। अब आप उससे भिन्न अर्थात् भिन्नाष्टक वर्ग का अध्ययन करने जा रहे हैं।

लग्न सहि सूर्यादि सप्त ग्रहों के सहित चक्र को लिख कर उनमें कथित इन आठों के शुभ स्थानों पर बिन्दु अंकित करने से सभी ग्रहों के अलग-अलग अष्टकवर्ग होते हैं। इनको '**भिन्नाष्टकवर्ग**' कहते हैं।

अत: आइए अब हम सब भिन्नाष्टक वर्ग का इस इकाई में अध्ययन करते हैं।

२.२ उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप जान जायेंगे कि –

- भिन्नाष्टक वर्ग क्या है।
- अष्टक वर्ग से कैसे भिन्नाष्टक वर्ग का निर्माण किया जाता है।
- भिन्नाष्टक वर्ग में विशेष क्या होता है।
- भिन्नाष्टक वर्ग का महत्व क्या है।

२.३ भिन्नाष्टक वर्ग परिचय

लग्न सहित सूर्यादि सप्त ग्रहों के सहित चक्र को लिख कर उनमें कथित इन आठों के शुभ स्थानों पर बिन्दु अंकित करने से सभी ग्रहों के अलग-अलग अष्टकवर्ग होते हैं। इनको '**भिन्नाष्टकवर्ग**' कहते हैं। प्रत्येक ग्रह के बिन्दुओं की संकलित संख्या इस प्रकार हैं -

सूर्य-४७	बुध-५४	शनि-३९
चन्द्र-४९	बृहस्पति-४६	
भौम-३९	शुक्र-५२	

भिन्नाष्टक वर्ग में ग्रहों के समस्त बिन्दुओं का योग ३३७ होता है। सर्वाष्टक वर्ग को समुदाय कहते है। जैसा कि आचार्य वैद्यनाथ जी ने स्वग्रन्थ जातकपारिजात में कहा है –

चक्रं विलिख्य सह लग्नदिवकाराद्यै:।
सूर्यादिलग्नभवनान्तवियच्चराणाम्।।
वाक्याष्टकोपगतवर्णनियोजिताश्चेद्
भिन्नाष्टवर्गजनिताखिलबिन्दव: स्यु:।।
देवो धवो धीगवशस्तमो रमा धूलि: क्रमादुष्णकरादिबिन्दव:।
सालोलसंख्या: समुदायबिन्दव: सर्वाष्टवर्ग: समुदायसंज्ञक:।।

अब आपको यह भी जानना चाहिए कि जिन राशियों में बिन्दुओं की संख्या अधिक हो उन राशियों के संक्रमण काल में ग्रह शुभ फल देते हैं। जो राशियाँ बिन्दु की अपेक्षा अधिक रेखाओं से संयुक्त हों उनके संक्रमण काल में ग्रह कष्टप्रद होते हैं।

उदाहरणार्थ निम्न चक्र देखिए –

सूर्याष्टकवर्ग-कोष्ठक

	६	७	८	९	१०	११	१२	१	२	३	४	५
सू.	×०	०	।	०	।	।	०	०	०	०	०	।
चं.	०	०	।	×।	।	०	।	।	०	।	।	।
मं.	०	।	×०	०	।	०	।	।	०	०	०	०
बु.	×।	।	०	।	०	०	।	।	०	०	०	०
बृ.	०	।	०	।	×।	।	।	।	०	०	।	।
शु.	।	०	×।	।	।	।	।	०	०	।	।	।
श.	०	०	०	०	०	।	×०	०	।	०	।	।
ल.	×।	।	०	०	।	०	।	।	।	०	०	०
योग	५	४	५	४	२	४	२	३	६	६	४	३

बिन्दुयोग = ४८

आड़ी और खड़ी रेखाओं से चक्र का निर्माण करना चाहिए। आड़ी रेखा में तेरह कोष्ठक और रखड़ी रेखा में 9 कोष्ठक बनाने से चक्र में कुल 130 कोष्ठक होंगे जिसमें 10 पंक्तियाँ और 13 कालम होंगे। शीर्ष पंक्ति के कोष्ठकों में जिस ग्रह का अष्टकवर्ग बना रहे हों उसकी राशि से प्रारम्भ कर द्वादश राशियों के सूचक अंकों को तथा प्रथम कालम में उस ग्रह से प्रारम्भ कर लग्न सहित सातों ग्रहों के

नाम लिखें। जो ग्रह जिस राशि में स्थित हो उस राशि के नीचे और ग्रह के सामने वाले कोष्ठक को × चिन्ह से चिन्हित करें। जैसे संलग्न जन्मा... में सूर्य और बुध कन्या राशि में स्थित हैं। इसलिए कन्या राशि के नीचे और सूर्य के सामने के कोष्ठक में × चिन्ह अंकित है और उसी कालम में बुध के सामने के कोष्ठक में भी वैसा ही चिन्ह अंकित है। भौम वृश्चिक राशि में स्थित है। इसलिए भौम के सामने वृश्चिक राशि के नीचे वाले कोष्ठक में भी × चिन्ह अंकित है। इसी प्रकार अन्य ग्रहों की स्थिति को प्रदर्शित करना चाहिए। अनन्तर ग्रहस्थितियों को प्रदर्शित कर ग्रहाधितिष्ठित राशि से ततद् ग्रहों के पूर्वाक्त अष्टकवर्गा... के अनुसार ० और । चिन्हों को गिनकर अंकित करने से ग्रह का अष्टकवर्ग तैयार होता है। जैसे सूर्य की स्थिति को प्रगट करने वाला चिन्ह × कन्या के नीचे अंकित है। सूर्य 1, 2, 4, 7, 8, 9, 10,

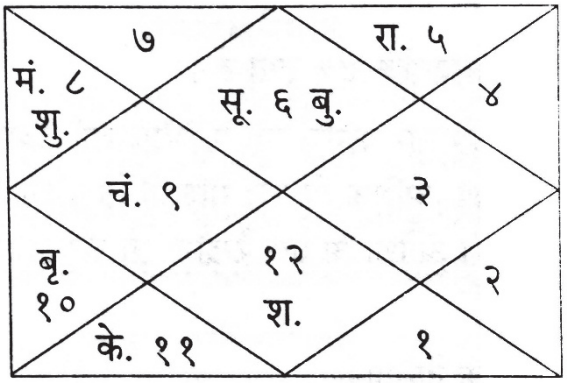

जन्माङ्गचक्र

11वीं राशियों में शुभद होता है इसलिए कन्या, तुला, धनु, मीन, मेष, वृष, मिथुन और कर्क राशियों के नीचे के कोष्ठकों में बिन्दु (०) और अशुभ राशियों 3, 5, 6 और 12वीं राशियों वृश्चिक, मकर, कुम्भ और सिंह राशियों के नीचे के कोष्ठकों में रेखा (।) चिन्ह अंकित किया गया है। इसी प्रकार सभी ग्रहों के कथित अष्टकवर्गा... के अनुसार बिन्दु और रेखा चिन्ह सभी कोष्ठकों में अंकित करना चाहिए। इस प्रकार अन्य ग्रहों और लग्न के अष्टकवर्ग तैयार होते हैं।

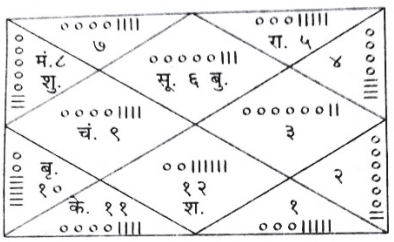

सूर्याष्टकवर्ग चक्र (४८)

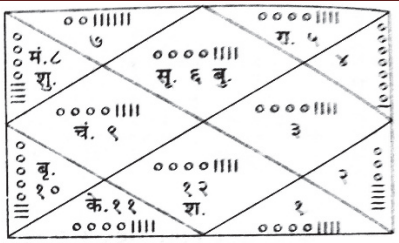

सोमाष्टकवर्ग चक्र (४९)

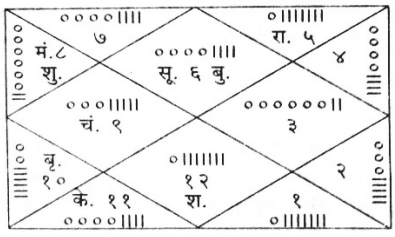

भौमाष्टकवर्ग चक्र (३९)

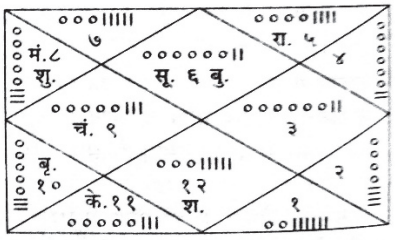

बुधाष्टकवर्ग चक्र (५४)

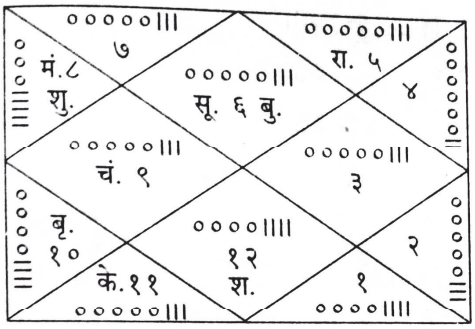

गुर्वष्टकवर्ग चक्र (५६)

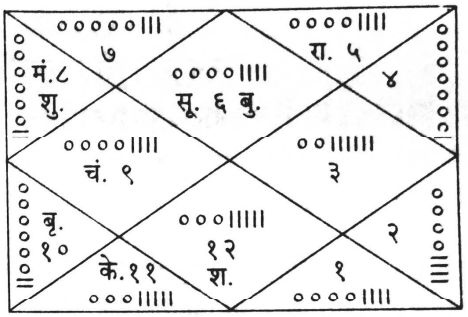

भृग्वष्टकवर्ग चक्र (५२)

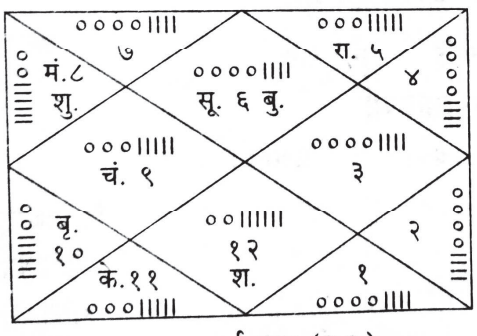

शन्यष्टकवर्ग चक्र (३९)

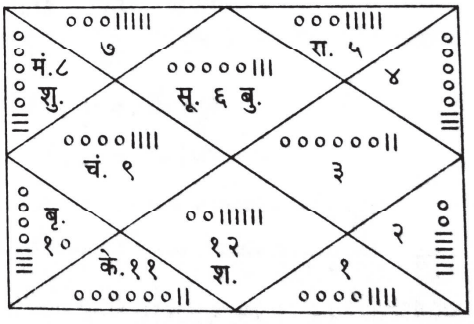

लग्नाष्टकवर्ग चक्र (४९)

अब यहाँ भिन्नाष्टक वर्ग के फल कथन का वर्णन करते हैं।

मेषादियदगृहगता वसुसंख्ययाता
स्तद्भावपुष्टिबलवृद्धिकरा भवन्ति।।
षट्पंचसप्तसहितानि शुभप्रदानि
त्रिद्वयेकबिन्दुयुतभानि न शोभनानि।।

अर्थात् आठ बिन्दुओं से युक्त राशियाँ जिन भावों में हो उन भावों की वृद्धि होती है। ५,६,७ बिन्दुओं से युक्त राशियाँ जिन भावों में स्थित हों उन भावों का फल शुभप्रद होता है। जिन भावों में १,२,३ बिन्दुओं से युक्त राशियाँ स्थित हों उन भावों के फल की हानि होती है।

मिश्रं फलं भवति सागरबिन्दुयोगे
रोगापवादभयदा यदि शून्यभावा:।।
एकादिबिन्दुयुतभानुसुखग्रहाणां
भिन्नाष्टवर्गजनि सर्वफलं प्रवच्मि।।

श्लोक का अर्थ है कि जिस भाव में चार बिन्दुओं से युक्त राशि स्थित हो उस भाव के मिश्रित फल अर्थात् शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के फल जातक को प्राप्त होते हैं। किसी ग्रह के अष्टकवर्ग के जिस भाव में बिन्दु रहित राशि स्थित हो तो गोचर से उक्त ग्रह द्वारा उस राशि के संक्रमण काल में अत्यन्त अनिष्ट फल रोगापवाद भय आदि होते हैं। यह अष्टकवर्ग के सामान्य फल है।

करोति नानाविधरोगदु:खभयाटनादीनि च सैकबिन्दु:।
द्विको मनस्तापनृपालचोरकृतापवादाशननाशनानि।।

एक बिन्दु सहित राशि में जब अष्टकवर्ग सम्बन्धित ग्रह संक्रमण करता है तो जातक को अनेक व्याधियों से कष्ट, सन्ताप, भय, यात्रा से कष्ट आदि का फल होता है। दो बिन्दयुक्त राशि के सम्बन्धित ग्रह द्वारा संक्रमण काल में मानसिक सन्ताप, राजा, चोर से भय, अपवाद, भोज्य पदार्थों का अभाव होता है।

त्रिकस्त्वसंचारकृशावलम्ब्कलेवरव्याकुलमानसानि
सुखासुखार्थ व्ययवित्तलाभफलप्रद: सागरबिन्दुक: स्यात्।।

तीन बिन्दुओं से युक्त राशि के संक्रमण काल में मार्गावरोध, शारीरिक दौर्बल्य और मानसिक व्याकुलता होती है। चार बिन्दओं से युक्त राशि के संक्रमण काल में सुख-दु:ख, धन की हानि और लाभ आदि अर्थात् मिश्रित फल देते हैं।

सहस्रलाभसुतलालनसाधुसंग
विद्याधनानि कुरूते च सपंचबिन्दुः।।
षड्बिन्दुकस्तु नवमोहनरूपशील
संग्रामजिद्धनयशोबलवाहनानि।।

यदि पाँच बिन्दु युक्त राशि संक्रमित हो तो उस अवधि में सुन्दर वस्त्रों का लाभ, पुत्र के लालन-पालन का सुख, सत्संगादि का तथा विद्या-धनादि का सुख होता है। छः बिन्दुओं से संयुक्त राशि के संक्रमण काल में शारीरिक सौन्दर्य और स्वाभाविक शील में वृद्धि, संग्राम में विजय, तथा धन यश बल की वृद्धि और वाहनादि का सुख प्राप्त होता है।

ससप्तबिन्दुस्तुरगादियानसेनाधनप्राभवशोभनानि
बिन्द्वष्टकः सप्तगुणाभिरामराजप्रतापं प्रकटीकरोति।।

इसका अर्थ है कि सात बिन्दुओं से युक्त राशि के संक्रमण काल में अश्वादि से युक्त वाहन का सुख तथा सेना, धन, प्रभाव और सुन्दर वाहनों का लाभ होता है। आठ बिन्दुओं से युक्त राशि यदि संक्रमित हो तो राजा के सात गुणों-स्वामित्व, अमात्य, मित्र, कोश, राष्ट्र, दुर्ग और सेना से युक्त राजा होता है।

स्वोच्चमित्रादिवर्गस्थाः केन्द्रादिबलसंयुताः।
अनिष्टफलदाः सर्वे स्वल्पबिन्दुयुता यदि।।

अर्थात् अपनी उच्चराशि अथवा मित्रराशि के वर्ग में स्थित ग्रह भी गोचर से जब अल्प बिन्दुओं से युक्त राशि को संक्रमित करते हैं तब जातक को अनिष्ट फल देते हैं।

दुष्टस्थान स्थिता ये च ये च नीचारिभांशगाः।
ते सर्वे शुभदा नित्यमधिबिन्दुयुता यदि।।

अर्थात् ग्रह चाहें दुःस्थान में हो अथवा अपनी नीच राशि या शत्रु राशि के नवांश मं हो वे भी गोचर से जब अधिक बिन्दुओं से युक्त राशि का संक्रमण करते हैं तब उक्त राशि जिस भाव में स्थित हो उस भाव की वृद्धि करते हैं।

बोध प्रश्न : -

1. निम्न में भिन्नाष्टक वर्ग किसका नहीं होता हैं।

क. सूर्य ख. चन्द्र ग. मंगल घ. राहु

2. भिन्नाष्टकवर्ग में सूर्य की बिन्दु संख्या कितनी है।

क. ४७ ख. ३७ ग. ३२ घ. ४९

3. भिन्नाष्टकवर्ग में ग्रहों की कुल बिन्दु संख्या है।

क. ३०० ख. ४४२ ग. ३३७ घ. २३७

4. शनि का बिन्दु संकलित संख्या है।

क. ३७ ख. ३८ ग. ३९ घ. ४०

5. निम्न में सूर्यादि सप्त ग्रहों का होता है।

क. अष्टक वर्ग ख. भिन्नाष्टक वर्ग ग. समुदयाष्टक वर्ग घ. सभी

6. अपनी उच्चराशि में गोचर से जब अल्प बिन्दुओं से युक्त राशि को ग्रह संक्रमित करते है तो क्या फल होता है।

क. शुभ ख. अशुभ ग. वृद्धि घ.उपयुक्त सभी

२.५ सारांश

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आपने जान लिया है लग्न सहित सूर्यादि सप्त ग्रहों के सहित चक्र को लिख कर उनमें कथित इन आठों के शुभ स्थानों पर बिन्दु अंकित करने से सभी ग्रहों के अलग-अलग अष्टकवर्ग होते हैं। इनको '**भिन्नाष्टकवर्ग**' कहते हैं। प्रत्येक ग्रह के बिन्दुओं की संकलित संख्या इस प्रकार हैं -

सूर्य-४७	बुध-५४	शनि-३९
चन्द्र-४९	बृहस्पति-४६	
भौम-३९	शुक्र-५२	

भिन्नाष्टक वर्ग में ग्रहों के समस्त बिन्दुओं का योग ३३७ होता है। सर्वाष्टक वर्ग को समुदाय कहते है। जिन राशियों में बिन्दुओं की संख्या अधिक हो उन राशियों के संक्रमण काल में ग्रह शुभ फल देते हैं। जो राशियाँ बिन्दु की अपेक्षा अधिक रेखाओं से संयुक्त हों उनके संक्रमण काल में ग्रह कष्टप्रद होते हैं।

इस प्रकार अष्टकवर्ग की परम्परा में भिन्नाष्टक वर्ग का गणितीय तथा शुभाशुभ फलों को आचार्यों द्वारा कहा गया है।

२.६ पारिभाषिक शब्दावली

दिनकर – सूर्य

बाण - ५

भृगु – शुक्र

निजगृहे – अपने घर में

उच्चराशिगत – उच्च राशि में गया हुआ

चिरंजीवी – दीर्घायु

संक्रमण – परिवर्तन

शुभाशुभ – शुभ और अशुभ

२.७ बोध प्रश्नों के उत्तर

1. घ
2. क
3. ग
4. ग
5. घ
6. ख

२.८ सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. जातकपारिजात – अष्टकवर्गाध्याय:
2. वृहत्पराशरहोराशास्त्र – अष्टकवर्गाध्याय:
3. लघुजातक – अष्टकवर्गाध्याय:
4. वृहज्जातक - अष्टकवर्गाध्याय:
5. फलदीपिका – अष्टकवर्गाध्याय:

२.९ सहायक पाठ्यसामग्री

1. जातकपारिजात – मूल लेखक – आचार्य वैद्यनाथ, टीकाकार – हरिशंकर पाठक

2. वृहत्पराशरहोराशास्त्र – मूल लेखक – पराशर, टीकाकार – पं. पद्मनाभ शर्मा
3. लघुजातक – मूल लेखक – वराहमिहिर, टीकाकार – डॉ. कमलाकान्त पाण्डेय
4. वृहज्जातक - मूल लेखक – वराहमिहिर, टीकाकार – डॉ. सत्येन्द्र मिश्र
5. फलदीपिका – मूल लेखक – मन्त्रेश्वर, टीकाकार – गोपेश कुमार ओझा

२.१० निबन्धात्मक प्रश्न

1. भिन्नाष्टक वर्ग से आप क्या समझते है? स्पष्ट कीजिये।
2. सोदाहरण भिन्नाष्टक वर्ग का वर्णन कीजिये।
3. सूर्यादि ग्रहों का भिन्नाष्टक वर्ग साधन कीजिये।
4. भिन्नाष्टक वर्ग का शुभाशुभ फल लिखिये।
5. अष्टक वर्ग और भिन्नाष्टक वर्ग में क्या साम्यता है। बतलाइए।

इकाई - ३ समुदयाष्टक वर्ग निर्माण विधि

इकाई की संरचना

३.१ प्रस्तावना

३.२ उद्देश्य

३.३ समुदयाष्टक वर्ग परिचय

३.४ समुदयाष्टक वर्ग निर्माण विधि

३.५ सारांश

३.६ पारिभाषिक शब्दावली

३.७ बोध प्रश्नों के उत्तर

३.८ सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

३.९ सहायक पाठ्यसामग्री

३.१० निबन्धात्मक प्रश्न

३.१ प्रस्तावना

MAJY-203 के चतुर्थ खण्डान्तर्गत यह तीसरी इकाई है जिसका शीर्षक है – समुदयाष्टक वर्ग। इससे पूर्व की इकाई में आपने अष्टकवर्ग का अध्ययन कर लिया है। अब आप उससे भिन्न अर्थात् भिन्नाष्टक वर्ग का अध्ययन करने जा रहे हैं।

सर्वाष्टकवर्ग को समुदाय कहते हैं। आठ बिन्दुओं (सर्वाधिक) से युक्त राशियाँ जिन भावों में हों उन भावों की वृद्धि होती हैं। 4, 6 और 7 बिन्दुओं से युक्त राशियाँ जिन भावों में स्थित हों उन भावों का फल शुभप्रद होता है।

अत: आइए अब हम सब समुदायाष्टक वर्ग का इस इकाई में अध्ययन करते हैं।

३.२ उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप जान जायेंगे कि –

- समुदायाष्टक वर्ग क्या है।
- अष्टक वर्ग से कैसे समुदायाष्टक वर्ग का निर्माण किया जाता है।
- समुदायाष्टक वर्ग में विशेष क्या होता है।
- समुदायाष्टक वर्ग का महत्व क्या है।

३.३ समुदयाष्टक वर्ग परिचय

अष्टक वर्ग और भिन्नाष्टक वर्ग के अध्ययन के पश्चात् आप को यह भी जानना चाहिए कि सर्वाष्टकवर्ग क्या होता है? अत: सर्वप्रथम इसकी परिभाषा समझते है। सर्वाष्टकवर्ग को **समुदाय** कहते हैं। आठ बिन्दुओं (सर्वाधिक) से युक्त राशियाँ जिन भावों में हों उन भावों की वृद्धि होती हैं। 4, 6 और 7 बिन्दुओं से युक्त राशियाँ जिन भावों में स्थित हों उन भावों का फल शुभप्रद होता है। जिन भावों में 1, 2 या 3 बिन्दुओं से युक्त राशियाँ स्थित हों उन भावों का फल की हानी होती है।

समुदयाष्टक वर्ग को बताते हुए आचार्य पराशर जी स्वग्रन्थ वृहत्पराशरहोराशास्त्र में कहते है कि -

मूल श्लोकः -

द्वादशारं लिखेच्चक्रे जन्मलग्नादिभैर्युतम्।
सर्वाष्टकफलान्यत्र संयोज्य प्रतिभं न्यसेत्।।
समुदायाभिधानोऽयमष्टवर्गः प्रकथ्यते।
अतः फलानि जातानां विज्ञेयानि द्विजोत्तम!।।

द्वादश कोष्ठ की कुण्डली लिखकर उस चक्र में लग्न से लेकर द्वादशपर्यन्त सभी भाव लिखकर उसमें पूर्वसाधित समस्त ग्रहों के अष्टक वर्ग में प्रत्येक राशियों की जितनी रेखाएँ हों, सबका योग कर प्रत्येक राशि में लिखना चाहिए। इसको **समुदायाष्टक** कहा जाता है। नीचे दिए गए चक्र के माध्यम से जातक का शुभाशुभ फल जानना चाहिए।।

समुदायाष्टकवर्ग चक्र

राशियाँ / ग्रह	मेष	वृष	मिथुन	कर्क	सिंह	कन्या	तुला	वृश्चिक	धनु	मकर	कुम्भ	मीन	योग
सूर्य	३	६	६	४	३	५	४	५	४	२	४	२	४८
चन्द्रमा	४	३	४	७	४	४	२	४	४	५	४	४	४९
मंगल	१	३	६	४	१	४	४	६	३	२	४	१	३९
बुध	२	४	६	६	४	६	३	५	५	५	५	३	५४
बृहस्पति	४	५	५	६	५	५	५	३	५	४	५	४	५६
शुक्र	४	४	२	७	४	४	५	६	४	६	३	३	५२
शनि	४	४	४	४	३	४	४	२	३	२	३	२	३९
योग	२२	२९	३३	३८	२४	३२	२७	३१	२८	२६	२८	१९	३३७
लग्न	४	२	६	५	३	५	३	५	४	४	६	२	

समुदाय-रेखाफल

त्रिंशाधिकफला ये स्यू राशयस्ते शुभप्रदाः।
पंचविंशादि-त्रिंशान्तफला मध्यफला स्मृताः।।
अतः क्षीणफला ये ते राशयः कष्टदुःखदा।
शुभे श्रेष्ठफलान् राशीन् योजयेन्मतिमान्नरः।।

कष्टराशीन् सुकार्येषु वर्जयेद् द्विजसत्तम!।
श्रेष्ठराशिगतः खेटः शुभोऽन्यत्राऽशुभप्रदः।।

समुदायाष्टक वर्ग में जिस राशि में 30 या उससे अधिक रेखा हो, वह राशि शुभप्रद होती है। जिस राशि में 25 से 30 के मध्य रेखायें हों, वह राशि मध्यम एवं जिस राशि में 25 से न्यून रेखा हो, वह राशि अधम मानी जाती है। अधम राशि दुःख तथा कष्टप्रद होती है। अतः जिस कार्य में जिस ग्रह का बल निर्धारित है, वह ग्रह जब श्रेष्ठ राशि में प्राप्त हो, उसी समय उस कार्य को करना चाहिए। साधारणतया चन्द्रमा सभी कार्यों में ग्राह्य है; अतः चन्द्रमा जब अधिक से अधिक रेखा वाली राशि में प्राप्त हो, तभी शुभ कार्य करने चाहिए। अर्थात् शुभ राशि में चन्द्र के रहने पर कार्य सुसम्पन्न, मध्यम राशि में मध्यम एवं अधम राशि में चन्द्रमा रहने पर अनिष्टकारक होता है। इसी प्रकार विवाहादि शुभ कार्य में गुरु, भूमि, नेतृत्वसम्बन्धी कार्य मंगल इत्यादि अन्य ग्रहों को भी जानका जब अधिक रेखा वाली राशि में सम्बन्धित ग्रह प्राप्त हो, तभी कार्यारम्भ करना चाहिए।

रेखानुसार भावफल

तन्वादि-व्ययपर्यनतं दृष्ट्वा भावफलानि वै।
अधिके शोभनं ज्ञेयं हीने हानिं विनिर्दिशेत्।
मध्ये मध्यफलं ब्रूयाद् तत्तदावसमुदवम्।।

लग्न में द्वादश भावपर्यन्त राशियों की रेखा देखकर भावफल जानना चाहिए अर्थात् जिसमें समुदायाष्टक वर्ग में 30 से अधिक रेखा हो, उस भाव की वृद्धि, जिसमें 25 से कम रेखा योग हो उसमें हानि तथा जिस समुदायाष्टक वर्ग में 25-30 रेखा हो तो उस भाव का मध्यम फल जानना चाहिए।

पुनः विशिष्ट फल

मध्यात् फलाधिको लाभो लाभात् क्षीणगतो व्ययः।
लग्नं फलाधिकं यस्य भोगवानर्थवान् हि सः।
विपरीतेन दारिद्रयं भवत्येव न संशयः।।

जिस जातक के समुदायाष्टक वर्ग में दशम भाव से एकादश भाव में अधिक रेखा हो तथा द्वादश भाव में कम रेखा हो एवं लग्न में रेखा संख्या अधिक हो तो वह व्यक्ति भोगवान् एवं अर्थवान् होता है। इससे विपरीत समुदायाष्टक वर्ग में रेखाक्रम हो तो वह जातक दुःखी एवं दरिद्र होता है।

दशावस्था फल

दशावदिह भावानां कृत्वा खण्डत्रयं बुधः।

पश्येत् पापसमारूढं खण्डे कष्टकरं वदेत्।।
सौम्यैर्युक्तं शुभं ब्रूयान्मिश्रैर्मिश्रफलं यथा।
क्रमाद् बाल्याद्यवस्थासु खण्डत्रयफलं वदेत्।।

लग्न से व्यय भावपर्यन्त समान 3 खण्ड करके शुभाशुभ फल देखना चाहिए। जिस भाग में पापग्रह अधिक हो, वह भाग (अवस्था) कष्टकारक; जिस खण्ड में शुभ ग्रह अधिक हो, वह अवस्था सुखकारक और जिस भाग में मिश्रित (अशुभ, शुभ) ग्रह हो, वह अवस्था मिश्रित अर्थात् कभी सुखकारक एवं कभी दुःखकारक होती है।

विभागक्रम से इस प्रकार हैं-लग्न से चतुर्थ भावपर्यन्त बाल्यावस्था, पंचम भाव से अष्टम भाव तक युवावस्था एवं नवम भाव से द्वादश भाव तक वृद्धावस्था जाननी चाहिए। इस प्रकार जातक को किस अवस्था में अधिक सुख, किस अवस्था में दुःख एवं किसमें सम रहेगा, आदि का विचार सरलता से अवगत किया जा सकता है।

उदाहरण- यहाँ धनु लग्न है। धनु लग्न में सूर्याष्टक वर्ग में 3 रेखा, चन्द्राष्टक वर्ग में 3 रेखा, भौमाष्टक वर्ग में 3 रेखा, बुधाष्टक वर्ग में 7 रेखा, जीवाष्टक वर्ग में 4 रेखा, शुक्राष्टक वर्ग में 6 रेखा, शून्यष्टक वर्ग में 4 रेखा तथा लग्नाष्टक वर्ग में 2 रेखा हैं। इन सबका योग 32 हुआ; यह समुदायाष्टक वर्ग में लग्नाभाव (धन) में संख्या हुई। इस प्रकार धनभाव के आठों वर्ग के योग 33 हुए, इसे द्वितीय भाव में स्थापित किया। तृतीय भाव में आठों वर्ग के योग 41 हुए, यह तृतीय भाव की रेखासंख्या हुई। चतुर्थ भाव में आठों वर्ग का योग 24 हुआ, यह चतुर्थ भाव की रेखासंख्या हुई। इसी प्रकार पंचम भाव की रेखासंख्या 24, षष्ठ भाव की रेखासंख्या 34, सप्तम भाव की रेखासंख्या 35, अष्टम भाव की रेखासंख्या 31, नवम भाव की रेखासंख्या 28, दशम भाव की रेखासंख्या 35, एकादश भाव की रेखासंख्या 32, द्वादश भाव की रेखासंख्या 32-इस तरह समुदायाष्टक वर्ग कुण्डली में न्यास कर बाल्य, यौवन, वार्धक्य की अवस्था, धन-धान्य, शारीरिक सुख, यश-अपयश इत्यादि का विचार करना चाहिए।

यहाँ नीचे चक्र में तनुभाव में 32 रेखा पड़ी है; अतः शारीरिक सुख उत्तम एवं धनभाव में 33 रेखा पड़ी है, अतः आर्थिक स्थिति अच्छी रहेगी। दर्शित चक्र में लग्न, धन, पराक्रम, शत्रु, स्त्री, आयु, कर्म तथा आयभाव में 30 से अधिक रेखायें हैं, अतः इन भावों से सम्बन्धित फल उत्तम रहेगा। धर्मभाव

में 28 रेखा है, अतः धार्मिक कृत्यसम्बन्धी कार्य मध्यम होंगे। भूमि, मातृ, विद्या, पुत्रादि से सम्बन्धित भाव में 25 से अल्प रेखा पड़ने के कारण इन वस्तुओं में अधम रहेगा।

समुदयाष्टक वर्ग चक्र

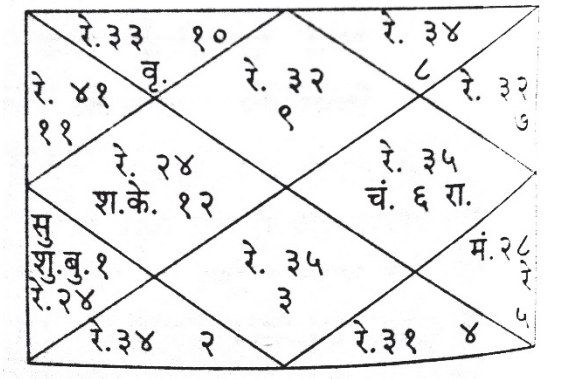

शान्तिसहित रेखाफल

रेखाभिः सप्तभिर्युक्ते मासे मृत्युभयं नृणाम्।
सुवर्णं विंशतिपलं दद्यात् द्वौ तिलपर्वतौ।।
रेखाभिरष्टभिर्युक्ते मासे मृत्युवशो नरः।
असत्फलविनाशाय दद्यात् कर्पूरजां तुलाम्।।
रेखाभिर्नवभिर्युक्ते मासे सर्पभयं वदेत्।
अश्वैश्चतुर्भिः संयुक्तं रथं दद्याच्छुभाप्तये।।
रेखाभिर्दशभिर्युक्ते मासे शस्त्रभयं तथा।
दद्याच्छुभफलावाप्त्यै कवचं वज्रसंयुतम्।।
अभिशापभयं यत्र रेखा रुद्रसमा द्विज।
दिक्पलस्वर्णघटितां प्रदद्यात् प्रतिमां विधोः।।
युक्ते द्वादशरेखाभिर्जले मृत्युभयं वदेत्।
सशस्यभूमिं विप्राय दत्वा शुभफलं भवेत्।।
विश्वप्रमितरेखाभिर्व्याघ्रान्मृत्युभयं तथा।
विष्णोर्हिरण्यगर्भस्य दानं कुर्याच्छुभाप्तये।।

शक्रप्रमितरेखाभिर्युक्ते मासे मृतेर्भयम्।
वराहप्रतिमां दद्यात् कनकेन विनिर्मिताम्।।
तिथिभिश्च नृपाद् भीतिर्दद्यात् तत्र गजं द्विज!।
रिष्टं षोडशभिर्दद्यात् मूर्तिं कल्पतरोस्तथा।।
सप्तेन्दुभिर्व्याधिभयं दद्याद् धेनुं गुडं तथा।
कलहोऽष्टेन्दुभिर्दद्याद् रत्नगोभूहिरण्यकम्।।
अङ्कन्दुभिः प्रवासः स्याच्छान्त कुर्यात् विधानतः।
विंशत्या बुद्धिनाशः स्याद् गणंशं तत्र पूजयेत्।।
रोगपीडैकविंशत्या दद्यात् धान्यस्य पर्वतम्।
यमाश्वभिर्बन्धुपीडा दद्यादादर्शकं द्विज!।।
त्रयोविंशतिसंयुक्ते मासे क्लेशमवाप्नुयात्।
सौवर्णों प्रतिमां दद्याद्रवेः सप्तपलैर्बुधः।।
वेदाश्विभिर्बन्धुहीनो दद्याद् गोदशकं नृपः।
सर्वरोगविनाशार्थं जपहोमादिकं चरेत्।।
धीहानिः पंचविंशत्या पूज्या वागीश्वरो तदा।
षड्विंशत्याऽर्थहानिः स्यात्स्वर्णं दद्याद् विचक्षणः।।
तथा च सप्तविंशत्या श्रीसूक्तं तत्र संचपेत्।
अष्टविंशतिसंयुक्ते मासे हानिश्च सर्वथा।।
सूर्यहोमश्च विधिना कर्तव्यः शुभकांक्षिभिः।
एकोनत्रिंशता चापि चिन्ताव्याकुलितो भवेत्।।
घृतवस्त्रसुवर्णानि तत्र दद्यात् विचक्षणः।
त्रिंशता पूर्णधान्याग्निरिति जातकनिर्णयः।।

समुदायाष्टक वर्ग में जिस राशि में 1 से 7 तक रेखा हो, उस माह में (यानी उस राशि में सूर्य के जाने पर) मरणतुल्य कष्ट या मृत्यु का भय रहता है, उस दोष की शान्ति के लिए 20 तोला सुवर्ण तथा तिल के 2 पर्वत (तिल के पर्वताकार 2 ढेर) दान करना चाहिए। जिस राशि में 8 रेखा हो उस माह में भी मृत्यु की आशंका रहती है। उस दोष के शमन हेतु कर्पूर का तुला दान करना चाहिए। जिसमें 9 रेखा हो, उस माह में सर्पभय रहता है, उसकी शान्ति के लिए चार अश्वयुक्त रथ दान करना चाहिए। जिस

राशि में 10 रेखा हो, उस माह में शस्त्रभय होता है, अतः शुभ फल की प्राप्ति हेतु वज्रयुक्त कवचन दान करना चाहिए। जिस राशि में 11 रेखा हो, उस माह में मिथ्यापवाद (दोषारोपण) का भय रहता है, उक्त दोष की शान्ति के लिए 10 पल सुवर्ण से निर्मित चन्द्रमा का दान करना चाहिए। जिस राशि में 12 रेखा हो उस माह में जल से मृत्यु का भय रहता है, उस दोष के शमन हेतु धान्यसहित भूमि का दान करना चाहिए। जिस राशि में 13 रेखा हो, उस माह में व्याघ्र से मृत्यु का भय रहता है, उसके लिए हिरण्ययुक्त विष्णु (अर्थात् जिसके मध्य भाग में सुवर्ण हो यानी (शालीग्राम) का दान करना चाहिए। जिस राशि में 14 रेखा हो, उस माह में मृत्यु की आशंका रहती है, उसके लिए सुवर्णनिर्मित वराह की प्रतिमा दान करनी चाहिए। जिस राशि में 14 रेखा हो, उस माह में राजभय रहता है, उसकी शान्ति के लिए हाथी का दान करना चाहिए। जिस राशि में 16 रेखा हो, उस माह में अरिष्ट का भय रहता है, उस दोष की शान्ति हेतु सुवर्णनिर्मित कल्पतरु का दान करना चाहिए। जिसमें 17 रेखा हो, उसमें व्याधि का भय रहता है, उसकी शान्ति के लिए धेनु तथा गुड़ का दान करना चाहिए। जिस राशि में 18 रेखा हो, उस माह में कलह का भय रहता है, उसकी शान्ति के लिए रत्न, गौ, भूमि एवं सुवर्ण का दान करना चाहिए। जिस राशि में 19 रेखा हो उस माह में प्रवास (देशान्तर में रहने) का भय रहता है, उसकी शान्ति के लिए शास्त्रोक्त विधान का आश्रय लेना चाहिए। जिस राशि में 20 रेखा हो, उस माह में बुद्धिनाश का भय होता है, इसकी शान्ति हेतु गणेश का पूजन करना चाहिए। जिस राशि में 21 रेखा हो उस माह में रोग एवं पीड़ा का भय रहता है, उसकी शान्ति के लिए धान्यपर्वत का दान करना चाहिए। जिस राशि में 22 रेखा हो, उस मास में अपने बन्धु-बान्धवों को पीड़ा होती है, उसकी शान्ति के लिए सुवर्ण का दान करना चाहिए। जिस राशि में 23 रेखा हो, उस मास में क्लेश का भय रहता है, उसकी शान्ति के लिए 7 पल सुवर्ण से निर्मित सूर्य की प्रतिमा बनाकर दान करनी चाहिए। जिस राशि में 24 रेखा हो, उस मास में बन्धुहीनता का भय रहता है, उसकी शान्ति के लिए गोदान करना चाहिए तथा सभी रोगों के विनाश के लिए जप-होमादि करना चाहिए। जिस राशि में 25 रेखा हो, उस मास में बुद्धि की हानि होती है, इसकी शान्ति हेतु सरस्वती का पूजन करना चाहिए। जिस राशि में 26 रेखा हो, उस माह में अर्थ की हानि होती है, उसकी शान्ति के लिए सुवर्ण का दान करना चाहिए। जिसमें 27 रेखा हो, उसमें द्रव्य की हानि होती है, इसमें श्रीसूक्त का जप करना चाहिए। 28 रेखा वाली राशि में सभी प्रकार की हानि होती है, इसकी शान्ति के लिए सूर्य का होम करना चाहिए। जिस राशि में 29 रेखा हो उस माह में मानसिक चिन्ता होती है, इसकी शान्ति के लिए घृत, वस्त्र और सुवर्ण का दान करना चाहिए। जिस राशि में 30 रेखा हो उस माह में धन-धान्य की पूर्ण प्राप्ति होती है।

विशेष- यहाँ पर सूर्य प्रत्येक वर्ष प्रति राशि पर जाता है, तो क्या प्रति वर्ष तत्तद् माह में अरिष्टकारक होता है? नहीं, ऐसा है कि जिस वर्ष में गुरु उस राशि में हो और सूर्य जब उस राशि में जाय तथा चन्द्रमा भी उस राशि में जिस दिन प्राप्त हो, उसी समय पूर्वोक्त फल की प्राप्ति होगी; अन्य समय में नहीं होगी।

30 से अधिक रेखाओं के शुभ फल

त्रिंशाधिकामी रेखाभिर्धनपुत्रसुखाप्तयः।
चत्वारिंशाधिकाभिश्च पुण्यश्रीरुपचीयते।।

जिस राशि में 30 से अधिक रेखा हो तो उस राशि के गुरु वर्ष तथा सौर मास एवं चन्द्रमा के भी उस राशि में प्राप्त होने पर धन, पुत्र और विभिन्न प्रकार के सुख की प्राप्ति होती है। जिस राशि में 40 से अधिक रेखा हो तो उस वर्ष, माह और चान्द्रनक्षत्र में आर्थिक वृद्धि के साथ-साथ पुण्य, सम्पत्ति और प्रतिष्ठा की अभिनव वृद्धि होती है।

अष्टक वर्ग में विशेषता

अष्टवर्गेण ये शुद्धास्ते शुद्धाः सर्वकर्मसु।
अतोऽष्टवर्गसंशुद्धिरन्वेष्या सर्वकर्मसु।।
तावद् गोचरमन्वेष्यं यावत्र प्राप्यतेऽष्टकम्।
अष्टवर्गे तु सम्प्राप्ते गोचरं विफलं भवेत्।।

जो राशि अष्टक वर्ग से शुद्ध हो वह राशि सभी शुभ कार्यों में शुद्ध होती है। अन्यत्र सभी शुभ कृत्यों में अष्टक वर्ग की शुद्धि का अन्वेषण करना चाहिए। अष्टक वर्ग शुद्धि के अभाव में गोचर शुद्ध को देखना चाहिए। अष्टक वर्ग शुद्धि प्राप्त हो तो गोचर शुद्धि विफल हो जाती है।

विशेष- निष्कर्ष यह निकलता है कि गोचर शुद्धि से अष्टक वर्ग की शुद्धि प्रबल है। अतः शुभ कृत्यों में ग्रह का बलाबल देखने के लिए अष्टक वर्ग शुद्धि ही प्रत्यक्ष मार्ग है।

बोध प्रश्न : -

1. सर्वाष्टक वर्ग को निम्न में कहते हैं।

   क. अष्टक ख. समुदाय ग. भिन्न घ. कोई नहीं

2. अष्ट बिन्दुओं से युक्त राशियाँ जिन भावों में हो उन भावों का क्या फल होता है।

   क. हानि ख. लाभ ग. वृद्धि घ. समृद्धि

3. ४,६,७ बिन्दुओं से युक्त राशियाँ जिन भावों में हो उन भावों का फल क्या होता है।

   क. शुभ ख. अशुभ ग. हानि घ. वृद्धि

4. निम्न में द्वादश का शाब्दिक अर्थ है -

   क. १० ख. ११ ग. १२ घ. १४

5. जो राशि अष्टक वर्ग से शुद्ध हो वह राशि होती है।

   क. सर्वसुख दाता ख. हानि ग. दु:खदाता घ. श्रीवृद्धि

6. जिस राशि में 40 से अधिक रेखा हो तो उस वर्ष, माह और चान्द्रनक्षत्र में हो तो क्या फल होता है।

   क. अर्थवृद्धि ख. पुण्य ग. प्रतिष्ठा वृद्धि घ.उपयुक्त सभी

३.५ सारांश

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आपने जान लिया है कि सर्वाष्टकवर्ग को समुदाय कहते हैं। आठ बिन्दुओं (सर्वाधिक) से युक्त राशियाँ जिन भावों में हों उन भावों की वृद्धि होती हैं। 4, 6 और 7 बिन्दुओं से युक्त राशियाँ जिन भावों में स्थित हों उन भावों का फल शुभप्रद होता है। जिन भावों में 1, 2 या 3 बिन्दुओं से युक्त राशियाँ स्थित हों उन भावों का फल की हानी होती है।

पराशर जी के कथनानुसार द्वादश कोष्ठ की कुण्डली लिखकर उस चक्र में लग्न से लेकर द्वादशपर्यन्त सभी भाव लिखकर उसमें पूर्वसाधित समस्त ग्रहों के अष्टक वर्ग में प्रत्येक राशियों की जितनी रेखाएँ हों, सबका योग कर प्रत्येक राशि में लिखना चाहिए। इसको **समुदायाष्टक** कहा जाता है। आचार्य ने इसके भी शुभाशभ फलों का वर्णन किया है। अष्टक वर्ग की ही परम्परा में समुदयाष्टक वर्ग की बात कही गयी है।

३.६ पारिभाषिक शब्दावली

समुदाय – सर्वाष्टक वर्ग को समुदाय कहते है।

द्वादश - १२

अष्ट – ८

पूर्वसाधित – पहले से साधित

शुभद – शुभ फल देने वाला

सुखद – सुख देने वाला

शुभाशुभ – शुभ और अशुभ

३.७ बोध प्रश्न के उत्तर

1. ख
2. ग
3. क
4. ग
5. क
6. घ

३.८ सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. जातकपारिजात – अष्टकवर्गाध्याय:
2. वृहत्पराशरहोराशास्त्र – अष्टकवर्गाध्याय:
3. लघुजातक – अष्टकवर्गाध्याय:
4. वृहज्जातक - अष्टकवर्गाध्याय:
5. फलदीपिका – अष्टकवर्गाध्याय:

३.९ सहायक पाठ्यसामग्री

1. जातकपारिजात – मूल लेखक – आचार्य वैद्यनाथ, टीकाकार – हरिशंकर पाठक

2. वृहत्पराशरहोराशास्त्र – मूल लेखक – पराशर, टीकाकार – पं. पद्मनाभ शर्मा
3. लघुजातक – मूल लेखक – वराहमिहिर, टीकाकार – डॉ. कमलाकान्त पाण्डेय
4. वृहज्जातक - मूल लेखक – वराहमिहिर, टीकाकार – डॉ. सत्येन्द्र मिश्र
5. फलदीपिका – मूल लेखक – मन्त्रेश्वर, टीकाकार – गोपेश कुमार ओझा

३.१० निबन्धात्मक प्रश्न

1. समुदयाष्टक वर्ग से आप क्या समझते है? स्पष्ट कीजिये।
2. सोदाहरण समुदयाष्टकवर्ग का वर्णन कीजिये।
3. वृहत्पराशरहोराशास्त्र के अनुसार समुदयाष्टकवर्ग का फल लिखिये।
4. वैद्यनाथ कथित समुदयाष्टक वर्ग पर प्रकाश डालिये।

इकाई - ४ अष्टक वर्ग फल विवेचन

इकाई की संरचना

४.१ प्रस्तावना

४.२ उद्देश्य

४.३ अष्टकवर्ग परिचय

४.४ अष्टक वर्ग फल विवेचन

४.५ सारांश

४.६ पारिभाषिक शब्दावली

४.७ बोध प्रश्नों के उत्तर

४.८ सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

४.९ सहायक पाठ्यसामग्री

४.१० निबन्धात्मक प्रश्न

४.१ प्रस्तावना

MAJY-203 के चतुर्थ खण्डान्तर्गत यह चौथी और अंतिम इकाई है जिसका शीर्षक है – अष्टकवर्ग फल। इससे पूर्व की इकाई में आपने अष्टकवर्ग के विभिन्न स्वरूपों का अध्ययन कर लिया है। अब आप उसके शुभाशुभ फलाफल का अध्ययन करने जा रहे हैं।

अष्टकवर्ग के विभिन्न प्रकार के फल कहे गये हैं। उन फलों में कुछ शुभ तथा अशुभ फल भी आचार्यों द्वारा प्रतिपादित किये गये हैं।

अत: आइए अब हम सब अष्टक वर्ग के शुभाशुभ फलों का इस इकाई में अध्ययन करते हैं।

४.२ उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप जान जायेंगे कि –

- अष्टक वर्ग क्या है।
- अष्टक वर्ग के शुभाशुभ फल क्या है।
- अष्टक वर्ग का सम्यकतया फलादेश कैसे किया जाता है।
- अष्टक वर्ग का महत्व क्या है।

४.३ अष्टकवर्ग फल परिचय

अष्टकवर्ग, भिन्नाष्टक वर्ग और समुदयाष्टक वर्ग के ज्ञान परम्परा में अब अष्टक वर्ग के शुभाशुभ फलों का वर्णन प्रस्तुत इकाई में किया जा रहा है।

सामान्यतया अष्टक वर्ग के फल के बारे में आचार्य कहते हैं कि जिस भाव में चार बिन्दुओं से युक्त राशि स्थित हो उस भाव के मिश्रित फल अर्थात शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के फल जातक को प्राप्त होते हैं। किसी ग्रह के अष्टकवर्ग के जिस भाव में बिन्दु रहित राशि हो तो गोचर से उक्त ग्रह द्वारा उस राशि के संक्रमण काल में अत्यन्त अनिष्ट फल रोगापवाद-भय आदि होते हैं।

एक बिन्दु सहित राशि में जब अष्टकवर्ग सम्बन्धित ग्रह संक्रमण करता है तो जातक को अनेक व्याधियों से कष्ट, सन्ताप, भय, यात्रा से कष्ट आदि फल होते है। दो बिन्दुयुक्त राशि के सम्बन्धित ग्रह

द्वारा संक्रमण काल में मानसिक सन्ताप, राजा, चोर से भय, अपवाद, भोज्य पदार्थों का अभाव होता हैं।

तीन बिन्दुओं से युक्त राशि के संक्रमण काल में मार्गावरोध, शारीरिक दौर्बल्य और मानसिक व्याकुलता होती हैं। चार बिन्दुओं से युक्त राशि के संक्रमण काल में सुख-दुःख, धन की हानि और लाभ आदि अर्थात् मिश्रित फल होते हैं।

यदि पाँच बिन्दु युक्त राशि के संक्रमित हो तो उस अवधि में सुन्दर वस्त्रों का लाभ, पुत्र के लालन-पालन का सुख, सत्संगति का तथा विद्या-धनादि का सुख होता हैं। छः बिन्दुओं से संयुक्त राशि के संक्रमण काल में शारीरिक सौन्दर्य और स्वाभाविक शील में वृद्धि, संग्राम (विवादादि) में विजय तथा धन-यश-बल की वृद्धि और वाहनादि का सुख प्राप्त होता है।

सात बिन्दुओं से युक्त राशि के संक्रमण काल में अश्वादि से युक्त वाहन का सुख तथा सेना, धन, प्रभाव और सुन्दर वाहनों का लाभ होता है। आठ बिन्दुओं से युक्त राशि यदि संक्रमित हो तो राजा के सात गुणों-स्वामित्व, अमात्य, मित्र, कोश, राष्ट्र, दुर्ग और सेना से युक्त राजा होता हैं।

४.४ अष्टकवर्ग फल विचार

ग्रह अपने वर्ग (अष्टकवर्ग) की उन समस्त राशियों को गोचर में संक्रमित करते समय शुभ फल देते है जो पाँच से अधिक बिन्दुओं से युक्त हों। इसके विपरीत स्थिति में अर्थात् पाँच बिन्दु से अल्प बिन्दु से युक्त राशियों के संक्रमण काल में ग्रह नेष्ट फल देते हैं। बिन्दु रहित राशियों के संक्रमण काल में अत्यन्त अनिष्ट फल देते है।

अपनी उच्चराशि अथवा मित्रराशि के वर्ग में स्थिति ग्रह भी गोचर से जब अल्प बिन्दुओं से युक्त राशि को संक्रमित करते हैं तब जातक को अनिष्ट फल ही देते हैं।

ग्रह चाहे दुःस्थान में स्थित हों अथवा अपनी नीच राशि या शत्रु राशि के नवांश में स्थित हों, वे भी गोचर से जब अधिक बिन्दुओं से युक्त राशि का संक्रमण करते हैं तब उक्त राशि जिस भाव में स्थित हो उस भाव की वृद्धि करते हैं।

दिनेशमुख्यग्रहवर्गकेषु यदा शनिः शून्यगृहं प्रयातः।
करोति पित्रादिकभावजानामतीव रोगारिभयाकुलानि।।

अर्थात् सूर्यादि ग्रहों के अष्टकवर्ग चक्रों में बिन्दु रहित भावों में (अथवा राशियों में) जब गोचर से शनि आता है तो उस भाव से प्रकट होने वाले व्यक्तियों (पिता-माता आदि) को रोग, शत्रुभय और वैकल्य देता है।

अब सूर्यादि ग्रहों के फल को कहते हैं।

सूर्यफल –

लग्नं गते दिनकरे रिपुनीचभागे
जातः कृशानुयुगबिन्दुयुते च रोग।
बाणादिबिन्दुसहितोदयगे दिनेशे
स्वोच्चेऽथवा निजगृहे नृपतिश्चिरायुः।।

शत्रु या नीच राशि के नवांश में स्थित सूर्य यदि लग्नगत हो और सूर्य के अष्टकवर्ग में उसे केवल 2 या 3 ही बिन्दु प्राप्त हों तो जातक रोगी, अष्टकवर्ग (सूर्य के) में लग्न यदि 5 या अधिक बिन्दुओं से युक्त हो और स्वगृही अथवा उच्चराशिगत सूर्य लग्न में स्थित हो तो जातक चिरंजीवी राजा होती है।

केन्द्रत्रिकोणोपगते दिनेशे षट्पंचसप्ताष्टकबिन्दुवर्गे।
रूद्रामलानीलचलाब्दकेषु जातस्य वा तज्जनकस्य मृत्युः।।

केन्द्र अथवा त्रिकोणगत सूर्य को यदि छः, पाँच, सात या आठ बिन्दु अष्टवर्ग में प्राप्त हों तो जातक अथवा उसके पिता की मृत्यु क्रमशः 22वें, 35वें, 30वें, और 36वें, वर्ष में होती है।

यदि जन्मांग में सूर्य चन्द्रमा, बुध और शनि के साथ केन्द्र में तथा त्रिकोण शोधन और एकाधिपत्य शोधन के अनन्तर उसे केवल दो बिन्दु प्राप्त हों तो जातक के दशवें वर्ष में पिता का भाग्योदय होता है।

चन्द्र फल –

शून्यागारं तरणिशशिनोरष्टवर्गे तदीयो
मासो राशिः सकलशुभदे कर्मणि त्याज्य आहुः।
यक्ष्मालस्यं शशिनि तनुगे सैकलोकाक्षिबिन्दौ
सप्तत्रिंशच्छरदि मरणं द्वित्रिखेटान्विते च।।

अर्थ है कि सूर्य और चन्द्रमा में अष्टवर्ग में बिन्दुरहित राशि में जब गोचर से सूर्य और चन्द्रमा संक्रमणशील हों तो उस अवधि में कोई शुभ नहीं करना चाहिए।

चन्द्राष्टकवर्ग में चन्द्रमा यदि एक, दो अथवा तीन बिन्दुओं से युक्त होकर लग्न में स्थित हो तो जातक यक्ष्मारोग से पीड़ित और आलसी होता है। उक्त स्थिति में यदि चन्द्रमा अन्य ग्रहों से युक्त हो तो जातक की आयु 37 वर्ष होती है।

केन्द्रत्रिकोणायगते शशांके नीचारिगे वृद्धिकलाविहीने।
बिन्दुद्विके वा यदि सत्रिबिन्दौ तद्भावनाशं कथयन्ति तज्ज्ञाः।।

नीच अथवा शत्रु राशि का क्षीण चन्द्रमा एक, दो अथवा तीन बिन्दुओं से युक्त होकर यदि केन्द्र, त्रिकोण अथवा एकादश भाव में स्थित हो तो जातक उक्त चन्द्रमा जिस भाव में स्थित होता है उस भाव का नाश करता है।

चार अथवा चार से अधिक बिन्दुओं से युक्त चन्द्रमा यदि त्रिकोण, केन्द्र या एकादश भाव में स्थित हो तो उस भाव की वृद्धि करता है। आठ बिन्दुओं से युक्त चन्द्रमा यदि केन्द्र में स्थित हो तो जातक विद्वान, यशस्वी, धनिक, बलवान् प्रबल राजा होता है।

भौमफल –

स्वोच्चस्वके गुरुसुखोदयमानयाते
बिन्द्वष्टके च यदि कोटिधनप्रभुः स्यात्।
चापाजसिंहमृगकीटविलग्नसंस्थे
भौमे चतुष्टयफलोपगते च राजा।।

स्वराशि अथवा अपनी उच्चराशि का मंगल यदि 8 बिन्दुओं से युक्त लग्न, चतुर्थ, नवम अथवा दशम भाव में स्थित हो तो जातक कोटिपति या करोड़पति होता है।

मेष, कर्क, सिंह, धनु और मकर राशि का भौम यदि 4 बिन्दुओं से युत लग्न में स्थित हो तो जातक राजा होता है।

अष्टकवर्ग में भौम को यदि 8 बिन्दु प्राप्त हों तो जातक छोटा राजा होता है; यदि उक्त भौम लग्न या दशम भाव में हो तो जातक राजा होता है; यदि जातक राजकुल में उत्पन्न हो तो उक्त स्थिति में स्वोच्चस्थ अथवा स्वराशिस्थ मंगल जातक को चक्रवर्ती राजा बनाता है।

बुध फल –

केन्द्रत्रिकोणे वसुबिन्दुके ज्ञे।

जातीयविद्याधिकभोगशाली।।
स्वोच्चादिकैकद्वितयत्रिबिन्दौ
तद्भाववृद्धिर्न च भावहानिः।।

यदि बुध आठ बिन्दुओं से युक्त केन्द्र अथवा त्रिकोण भाव में स्थित हो तो जातक जातीय विद्या (स्वजाति के अनुरूप परम्परया प्रचलित विद्या अर्थात वर्णानुकूल व्यवसाय से सम्बन्धित ज्ञान) में पार..त और अनेक भोगों से सम्पन्न होते है। अपनी उच्चाराशि अथवा अपनी राशि में स्थित बुध एक, दो अथवा तीन बिन्दुओं से युक्त होकर जिस भाव में स्थित हो उस भाव की वह वृद्धि ही करता है, हानि नहीं।

अधिक बिन्दुओं से युक्त राशि का संक्रमण बुध जिस मास में करता हो उस मास में विद्यारम्भ कराने से व्यक्ति सर्वविद्यासम्पन्न होता है। बिन्दुरहित भाव में यदि गोचर में बुध का शनि से योग हो तो बन्धु-बान्धवों, जाति और सम्पदादि का विनाश होता है।

वृहस्पति फल –

जीवाष्टवर्गाधिकबिन्दुराशौ लग्ने निषेकं कुरूते सुतार्थी।
तद्राशिदिग्भागगृहस्थितानि गोवित्तयानानि बहूनि च स्युः।।

बृहस्पति के अष्टकवर्ग में जिस राशि को अधिक बिन्दु प्राप्त हों उस राशि के लग्न में पुत्र की कामना करने वाले व्यक्ति को गर्भाधान करना चाहिए। उस राशि की दिशा में गौ वाहन और सम्पदादि रखने से उसकी वृद्धि होती है।

बृहस्पति के अष्टकवर्ग में अल्पबिन्दु प्राप्त राशि जिस भाव में स्थित हो उस भाव में गोचर के सुर्य के संक्रमण काल में समस्त शुभ फलों का विनाश होता है।

पाँच अथवा पाँच से अधिक बिन्दुओं से युक्त बृहस्पति यदि त्रिक (6।8।12वें) भाव में स्थित हो (अथवा गोचर से संक्रमित हो) तो जातक चिरायु, धन-धान्यसम्पन्न और शत्रुजयी होता है।

अपनी उच्चराशि अथवा स्वराशि (9।12) में अवस्थित बृहस्पति यदि आठ बिन्दुओं से युक्त होकर केन्द्र या नवम भावों में स्थित हो, नीच या शत्रु की राशि में न हो तथा अस्त न हो तो जातक स्वंय के पुरूषार्थ से राजा होता है।

उक्त योगोत्पत्र जातक यदि ब्राहमण कुल का हो तो वह अपने द्वारा किये गये पुण्य कर्मों से विख्यात, बुद्धिमान्, प्रतापी और राजा के समान सम्पन्न होता है।

सात बिन्दुओं से युक्त चन्द्रमा यदि बृहस्पति से युक्त हो तो जातक अनेक स्त्री, धन और सन्तति सुख से सुखी होता है। बृहस्पति और चन्द्र की यह युति छः बिन्दु से युक्त हो तो जातक वाहन और धनादि से सम्पन्न, यदि पाँच बिन्दु से युक्त हो तो जय और शीलादि गुणों से सम्पन्न होता है।

शुक्र फल –

साष्टबिन्दुफलकोणकेन्द्रगे भार्गवे तु बलवाहनाधिपः।
आयुरन्तमविनाशभोगवान् वित्तरत्नविभुरद्रिबिन्दुके।।

यदि शुक्र आठ बिन्दुओं सहित केन्द्र अथवा त्रिकोण में स्थित हो तो जातक बल और वाहनादि से सुखी होता है। यदि सात बिन्दुओं से युक्त हो तो जातक जीवन पर्यन्त धन-रत्नादि वैभव-सुख का भोग करता है।

यदि पूर्वोक्त शुक्र नीचे राशिगत हो, अस्त हो, शत्रु (छठे), रिःफ (12वें) और निधन (7वें) भाव में स्थित हो तो पूर्वोक्त राजयोग भंग हो जाता है। अल्पबिन्दुयुक्त शुक्र जिस राशि में स्थित हो उसकी दिशा में स्त्री के शयनगृह का निर्माण कराना चाहिए।

शनि फल –

कोणस्य शून्यतरराशिगते तु मन्दे।
जातस्य मृत्युफलमाशुधनक्षयो वा।।
एकद्विलोकयुगबिन्दुयुते च केन्द्रे
मुक्ते स्वतुंगभवने रविजेऽल्पमायुः।।

बिन्दुरहित शनि द्वारा अष्टकवर्ग में बिन्दुरहित राशि के संक्रमण काल में जातक की मृत्यु अथवा उसके धन का विनाश होता है। एक, दो, तीन अथवा चार बिन्दुओं से युक्त शनि यदि केन्द्र में स्थित हो, अपनी उच्चराशि में न हो तो जातक अल्पायु होता है।

षट्पंचबिन्दुसहिते तनुगे बलाढये।
जन्मादिदुःखबहुलं धननाशमेति।।
मन्दे शरादिफलनीचसपत्नभावे
जातश्चिरायुरतिशोभनवर्गकेन्दौ।।

पाँच या छः बिन्दुओं से युक्त शनि यदि लग्न में अवस्थित हो तो जातक जन्म से ही अनेक कष्ट पाता है तथा उसके धन का नाश हो जाता है।

पाँच अथवा अधिक बिन्दुओं से युक्त शनि यदि नीच अथवा शत्रु राशिगत हो और चन्द्रमा अत्यन्त

शुभ वर्ग में स्थित हो तो जातक दीर्घायु होता है।

मूढारिनीचगृहगे शरवेदबिन्दौ।
दास्युष्ट्रवित्तसहितास्तनये तनुस्थे।।
सौरेऽष्टबिन्दुगणिते परमन्त्रतन्त्र
ग्रामाधिपास्तु गिरिबिन्दुगृहे धनाढयः।।

नीच या शत्रु राशि का अथवा अस्त शनि यदि 4 या 5 बिन्दुओं से युत होकर लग्न या पंचम भाव में हो तो जातक को दासी, ऊँट और धन का लाभ होता है। आठ बिन्दुओं से युक्त शनि यदि लग्न अथवा पंचम भाव में स्थित हो तो जातक मन्त्र और तन्त्र में पटु, ग्रामाधिपति होता है। यदि उक्त स्थिति में शनि सात बिन्दुओं से युक्त हो तो जातक धनपति होता है।

फलदीपिका में मन्त्रेश्वर कहते हैं-

अपनी उच्च राशि में, अपनी राशि में, मित्रराशि में, त्रिकोण-केन्द्र-उपचय स्थानों में स्थित तथा शुभ वर्गादि बल से युक्त ग्रह भी यदि सर्वाष्टकवर्ग में अल्पबिन्दु से युक्त हो तो वे नेष्ट फल देते हैं। त्रिक (6।8।12वें) भाव में या सप्तम भाव में, नीच राशि में, पापग्रह या शत्रुग्रह के वर्ग में स्थिति से बलहीन हों तथा जो मान्दि स्थित राशि के स्वामी के साथ दुरभिसन्धि में लिप्त हों और जातक की वृद्धि में बाधक ही क्यों न हों यदि वे अधिक बिन्दुओं से युक्त हो तो सभी मुख्य फल जातक को देते हैं।

बोध प्रश्न : -

1. जिस भाव में चार बिन्दुओं से युक्त राशि स्थित हो उस भाव का फल क्या होगा।

   क. शुभ फल ख. अशुभ फल ग. मिश्रित फल घ. कोई नहीं

2. निम्न में केन्द्र स्थान है-

   क. १,४,७,१० ख. २,५,८,११ ग. ३,६,९,१२ घ. १,४,७,८

3. त्रिक् स्थान किसे कहते हैं -

   क. ४,७,१० ख. ६,८,१२ ग. २,४,९ घ. कोई नहीं

4. केन्द्र अथवा त्रिकोणगत सूर्य को यदि छः, पाँच, सात या आठ बिन्दु अष्टवर्ग में प्राप्त हों तो जातक अथवा उसके पिता की मृत्यु किस वर्ष में होती है।

   क. २२ ख. २८ ग. ४० घ. १०

5. पाँच या छः बिन्दुओं से युक्त शनि यदि लग्न में अवस्थित हो तो जातक का फल क्या होगा।

क. श्रीवृद्धि ख. धननाश ग. लाभ घ. कोई नहीं

6. सात बिन्दुओं से युक्त चन्द्रमा यदि बृहस्पति से युक्त हो तो जातक का फल क्या होगा।

क. धन सम्पन्नता ख. आयु वृद्धि ग. स्त्रीसुख घ.उपयुक्त सभी

४.५ सारांश

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आपने जान लिया है सामान्यतया अष्टक वर्ग के फल के बारे में आचार्य कहते हैं कि जिस भाव में चार बिन्दुओं से युक्त राशि स्थित हो उस भाव के मिश्रित फल अर्थात शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के फल जातक को प्राप्त होते हैं। किसी ग्रह के अष्टकवर्ग के जिस भाव में बिन्दु रहित राशि हो तो गोचर से उक्त ग्रह द्वारा उस राशि के संक्रमण काल में अत्यन्त अनिष्ट फल रोगापवाद-भय आदि होते हैं।

एक बिन्दु सहित राशि में जब अष्टकवर्ग सम्बन्धित ग्रह संक्रमण करता है तो जातक को अनेक व्याधियों से कष्ट, सन्ताप, भय, यात्रा से कष्ट आदि फल होते है। दो बिन्दुयुक्त राशि के सम्बन्धित ग्रह द्वारा संक्रमण काल में मानसिक सन्ताप, राजा, चोर से भय, अपवाद, भोज्य पदार्थों का अभाव होता हैं।

तीन बिन्दुओं से युक्त राशि के संक्रमण काल में मार्गावरोध, शारीरिक दौर्बल्य और मानसिक व्याकुलता होती हैं। चार बिन्दुओं से युक्त राशि के संक्रमण काल में सुख-दुःख, धन की हानि और लाभ आदि अर्थात् मिश्रित फल होते हैं।

यदि पाँच बिन्दु युक्त राशि के संक्रमित हो तो उस अवधि में सुन्दर वस्त्रों का लाभ, पुत्र के लालन-पालन का सुख, सत्संगति का तथा विद्या-धनादि का सुख होता हैं। छः बिन्दुओं से संयुक्त राशि के संक्रमण काल में शारीरिक सौन्दर्य और स्वाभाविक शील में वृद्धि, संग्राम (विवादादि) में विजय तथा धन-यश-बल की वृद्धि और वाहनादि का सुख प्राप्त होता है।

सात बिन्दुओं से युक्त राशि के संक्रमण काल में अश्वादि से युक्त वाहन का सुख तथा सेना, धन, प्रभाव और सुन्दर वाहनों का लाभ होता है। आठ बिन्दुओं से युक्त राशि यदि संक्रमित हो तो राजा के सात गुणों-स्वामित्व, अमात्य, मित्र, कोश, राष्ट्र, दुर्ग और सेना से युक्त राजा होता हैं।

४.६ पारिभाषिक शब्दावली

मार्गावरोध – मार्ग में संकट

केन्द्र - १,४,७,१०

त्रिकोण – ५,९

स्वामी – मालिक

शुभद – शुभ फल देने वाला

नेष्ट – खराब

सुखद – सुख देने वाला

शुभाशुभ – शुभ और अशुभ

४.७ बोध प्रश्नों के उत्तर

1. ग
2. क
3. ख
4. क
5. ख
6. घ

४.८ सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. जातकपारिजात – अष्टकवर्गाध्याय:
2. वृहत्पराशरहोराशास्त्र – अष्टकवर्गाध्याय:
3. लघुजातक – अष्टकवर्गाध्याय:
4. वृहज्जातक - अष्टकवर्गाध्याय:
5. फलदीपिका – अष्टकवर्गाध्याय:

४.९ सहायक पाठ्यसामग्री

1. जातकपारिजात – मूल लेखक – आचार्य वैद्यनाथ, टीकाकार – हरिशंकर पाठक
2. वृहत्पराशरहोराशास्त्र – मूल लेखक – पराशर, टीकाकार – पं. पद्मनाभ शर्मा

3. लघुजातक – मूल लेखक – वराहमिहिर, टीकाकार – डॉ. कमलाकान्त पाण्डेय
4. वृहज्जातक - मूल लेखक – वराहमिहिर, टीकाकार – डॉ. सत्येन्द्र मिश्र
5. फलदीपिका – मूल लेखक – मन्त्रेश्वर, टीकाकार – गोपेश कुमार ओझा

४.१० निबन्धात्मक प्रश्न

1. अष्टक वर्ग से आप क्या समझते है? स्पष्ट कीजिये।
2. सूर्य, चन्द्र, मंगल के अष्टक वर्ग का फल लिखिये।
3. अष्टक वर्ग के शुभाशुभ फल का प्रतिपादन कीजिये।
4. बुध, गुरु, शुक्र एवं शनि का फल लिखिये।
4. सूर्यादि सप्त ग्रहों का फल लिखिये।